लेख-सूची

हिंदी के शिला और ताम्रलेख

[लेखक—राय बहादुर बाबू हीरालाल बी० ए० जबलपुर]

शिला व ताम्रलेख बहुधा संस्कृत में पाए जाते हैं, यद्यपि यह संदिग्ध ही है कि वह कभी बोल चाल की भाषा रही हो। अशोक ने जो लेख लिखवाए, वे पाली में पाए जाते हैं, जो कि उसके ज़माने में प्रचलित भाषा थी। परन्तु जब से संस्कृत को देववाणी का महत्त्व प्राप्त हुआ, तब से अभी तक यही लालसा रहती है कि महत्त्व का कार्य देववाणी ही में प्रकट व अमर किया जाय। लोगों के हृदय में इसका इतना प्रभाव पड़ा था कि कई मुसलमान या अन्य धर्मावलंबी राजा भी अपनी कीर्ति व कृति की प्रख्याति संस्कृत भाषा में प्रकाशित करना पसंद करते थे। जिस समय मुसलमानों ने पहले पहल मध्य प्रदेश में प्रवेश किया, उस समय उन्होंने एक उत्तरीय कोने में दमोह ज़िले के बटिहागढ़ नगर में अड्डा जमाया और वहाँ पर अपना प्रतिनिधि रख दिया। इसका नाम जलालुद्दीन ख़ोजा था। इसने बटिहागढ़ को, जो उसके ज़माने में बटिहाडिम कहलाता था, सुसज्जित किया, बाग बगीचे

लगवाए, बावलियाँ-कूएँ खुदवाए, गोमठ अर्थात् गोशालाएँ या पिंजरा पोल स्थापित किए और इनकी प्रशस्ति संस्कृत में खुदवाकर लगवा दी। उसने अपने मालिक की स्तुति में लिखवाया—अस्ति कलि-युगे राजा शकेन्द्रो वसुधाधिपः। योगिनीपुरमास्थाय यो भुंक्ते सकलां महीम्। सर्व्वं सागर पर्यन्तम् वशी चक्रे नराधिपान्। महमूदसुरत्राणो नाम्ना शूरोभिनन्दतु॥ अपने विषय में लिखवाया है—शास्त्र-शास्त्रविदं ज्ञात्वा स्वामि कार्यरतं सदा। आत्मकृत्येषु सर्व्वेषु उल्लालम् कृतवान् प्रभुः॥ जिन कृत्यों के उपलक्ष्य में यह प्रशस्ति लिखी गई, उनका ज़िक्र यों है—उटिहाडिमपुरे रम्ये गोमठः कारितः शुभः। आश्रयः सर्व जंतू-नाम् कैलासाद्रिरिवा परः। उद्यानं उटिहाडिमाख्य नगरे संस्थापितं नंदनम्। वापी निर्मल चंद्र बिंब सदृशा पुण्यामृता वर्षिणी॥* यह सन् १३२८ ईस्वी की बात है, जिस समय योगिनीपुर अर्थात् दिल्ली की गद्दी पर गुलाम वंश का नासिरुद्दीन महमूद विराजमान था। बुरहानपुर के फारूकियों ने अपनी मस्जिदों में संस्कृत के लेख खुदवाए जो बुरहानपुर और असीरगढ़ की जुमा मस्जिदों में अभी तक मौजूद हैं। उन्होंने कलमे का सार लेकर आदि वंदना इस प्रकार की है—"श्री सृष्टि कर्त्रेनमः। अव्यक्तं व्यापकं नित्यं गुणातीतं चिदात्मकं। व्यक्तस्य कारणं वंदे व्यक्ताव्यक्तं तमीश्वरम्। इस लेख में जिस बारीकी के साथ मस्जिद बनने की तिथि का उल्लेख किया गया है, उसका हिंदुओं के मन्दिरों में भी मिलना कठिन है। वह लेख के अंत में इस प्रकार दी है–'स्वस्ति श्री संवत् १६४६ वर्षे शाके १५११ विरोधि संवत्सरे पौष मासे शुक्ल पक्षे १० घटी २६ सहैकादश्यां तिथौ सोमे कृत्तिका घटी ३३ सह रोहिण्यां शुभ घटी ४२ योगे वणिज करणेऽस्मिन् दिने रात्रिगत घटी ११ समये कन्यालग्न श्री मुबारख शाह सुत श्री ए प (आ) दल शाह राजा मसीतिरियं

---

* देखो एपिग्राफिया इंडिका जिल्द १२, पृ० ४६

निर्मिता स्वधर्म पालनार्थं ॥ † इस लेख में फ़ारुकियों की वंशावली दी है जिससे अबुल फ़ज़ल की आईने अकबरी और फ़रिश्ता की तवारीख़ पर पानी पड़ जाता है। संस्कृत लेख के अनुसार आदि राजा मलिक से आदिल शाह तक ७ पीढ़ियाँ होती हैं। फ़रिश्ता के अनुसार ६ होती हैं और आईने अकबरी के अनुसार ८ पड़ती हैं। एपिग्राफ़िया इंडिका में सिद्ध करके बतलाया गया है कि फ़रिश्ता और अबुल फ़ज़ल के लेख क्यों गलत हैं और संस्कृत लेख की वंशावली किस प्रकार यथार्थ और शुद्ध है। खैर; मुसलमानों के दरबार सुशिक्षित कहलाते थे; परंतु अशिक्षित दरबारों में भी संस्कृत को श्रेय दिया हुआ पाया जाता है। बहुत दिनों की बात नहीं है, मंडला के गोंड राजा हिरदय शाह ने सन् १६६७ ई० में अपनी लंबी चौड़ी प्रशस्ति अपनी राजधानी रामनगर के मंदिर में संस्कृत में खुदवाकर लगवा दी जिसमें यहाँ तक दावा किया गया कि, "अचला निखिला नृपाला हृदयेशस्य मुष्टौ करेऽमुनैव" अर्थात् सारी पृथ्वी और समस्त राजा गण हिरदय शाह की मुट्ठी में थे। संदेह की बात है कि हिरदय शाह में इस वाक्य के समझने की भी शक्ति थी या नहीं। गोंड आदिम जाति के लोग हैं। पढ़ना लिखना वे ब्राह्मणों और कायस्थों का काम समझते थे और उसे उसी प्रकार का पेशा समझते थे जैसे ब्राह्मणों का भीख माँगना। फिर राजा होकर लिखाई पढ़ाई का काम वे क्यों सीखने चले। यों तो यह दशा आर्य अनार्य सभी राजाओं की थी। भोज समान विरले ही नृपतिगणों ने सरस्वती की सेवा की और देववाणी को अपने निजी व्यसनों में शामिल किया, यद्यपि इसका सिलसिला वर्तमान समय तक नहीं टूटा। गत जनवरी में तीसरी ओरियंटल कान्फ़रेन्स के संबंध में संस्कृतज्ञ पुराने पंडितों की परिषद् महामहोपाध्याय प० गंगानाथ झा के सभापतित्व में मद्रास में हुई

---

† देखो एपिग्राफ़िया इंडिका जिल्द ६, पृ० ३०६

थी जिसमें विविध विषयों पर संस्कृत में वाद-विवाद हुआ था। द्रविड़ पंडित उतनी ही तेजी और सरलता से संस्कृत बोलते थे जैसे वे अपनी मातृ भाषा तामिल या तिलंगी बोलते हैं। उस समय कोचीन-नरेश ने सभा में आकर शास्त्रार्थियों से संस्कृत में प्रश्न कर पंडितों की वाग्धारा को किंचित् मंद कर उपस्थित मंडली को चकित कर दिया। दार्शनिक विषयों ही पर नहीं, उन्होंने व्याकरण तक में प्रश्न कर डाले।

दिवंगत देववाणी का इतना प्रभाव होने पर भी सांसारिक व्यवहार ने अपना जोर कहीं कहीं पर दिखा ही दिया जिससे कुछ शिला और ताम्रलेख प्रचलित भाषा में लिख डाले गए। इस प्रकार के लेख, जिनके देखने का मुझे अवसर मिला, हिंदी, मराठी, उर्दू और तिलंगी भाषा में हैं। इनकी संख्या बहुत अधिक नहीं है; परंतु मैं इस लेख में उन्हीं का संक्षिप्त वर्णन करूँगा जो हिंदी में लिखे गए हैं।

सब से प्राचीन हिंदी लेख जो मैंने शिला पर खुदा हुआ देखा, वह दमोह जिले में मिला था। वह बारहवीं शताब्दी का जान पड़ता है। उसकी भाषा अपभ्रंश से मिलती जुलती प्राचीन हिंदी है। लेख पद्य में है। लेखक इतना साहसी नहीं था कि संस्कृत को बिलकुल भुला देता; इसलिये उसने प्रशस्ति को प्रचलित भाषा में लिखकर अंत में उसका भावार्थ संस्कृत श्लोकों में दर्ज कर दिया। 'भाखा' के प्रचंड पक्षकार तुलसीदास जी भी संस्कृत से छुट्टी न ले सके। उन्होंने अपने रामायण का आरंभ, नहीं नहीं प्रत्येक कांड का आरंभ संस्कृत में ही किया। फिर भला औरों से यह ढिठाई क्योंकर हो सकती थी कि वे देववाणी का तिरस्कार करते! गाँव-खेड़ों में जहाँ संस्कृतज्ञ पंडित नहीं मिलते थे और कोई सती हो जाती थी, तो किसी प्रकार खींचा तानी करके सती-लेख में संस्कृत का कुछ अंश सम्मिलित कर ही दिया जाता था *। अस्तु,

* एसी चौरों की संस्कृत का नमूना लीजिए। दमोह जिले में एक पर यों लिखा

जिस लेख का जिक्र हो रहा है, उसमें लिखा है कि किसी विश्वामित्र गोत्रीय गुहिल वंशी विजयपाल ने काई नामक वीर को हराया था। उसके लड़के का नाम भुवनपाल और नाती का हर्षराज था। हर्षराज ने कालंजर, डाहल, गुर्जर और दक्षिण के देशों को जीता था। उसका लड़का विजयसिंह शुंभुकदेव का बड़ा भक्त था। उसने चित्तौड़ में लड़ाई ठानी, दिल्ली की सेनाओं पर विजय प्राप्त की और महागढ़ के निकट दक्षिण की फौजों को तितर बितर कर दिया और गुर्जरों को मार भगाया। यह लेख लिखा तो सुन्दर अक्षर में है, परंतु कहीं कहीं घिस जाने से कई अक्षर पढ़े नहीं जाते; तथापि यहाँ पर कुछ पद्यों का उद्धरण बतौर नमूना नीचे किया जाता है:—

विसामित्त गोत्त खत्तिय चरित विमल पवित्तो गात्त।
अरथड़ पड़णो संसिजय द्धवड्डो भूवाण॥
द्धवड्डो पटि परिठिअउं खत्तिय विज्जयपालु।
जेणे काइड रणि विजिणिव तह सुअ सुवणपालु॥
कलचुरि गुजर ससहरह दक्खिण पह सुख अंह।
चहुरा अहरण विजिणए हरिसराअ सुव (ज) दंड॥
संघरि भंगरि रणरहसु गउ हरिसरअ कि अग्ग।
हृपइत पठियर सुहृव समुद्धन कोवु समग्ग॥

है:—"संवत् १२६२ समये चैत्र सुदि २ सोमे महाराजपुत्र श्री वापदेव भुज्यमाने वलियाखे ग्रामे पट गोवड्डणसुत मामे कालं भवति मार्जे तारहा भहा सती भवन्तिः सुत चौहमनिभ कीर्ति पालयैः पं० नेपाल लिखितोस्तिः महमामो श्री लउटनान्वे गढोस्ति।" यह तो पूरी संस्कृत हुई। इसके द्वारा सती को पूरा स्वर्ग मिलने में कुछ कसर न रही। अब एक कमरवाले का नमूना लीजिए:—सिद्धि संवत् १५७० वर्षे निपम नाम संवत्सरे कार्तिक सुदि ६ गुरौ स्वस्ति भोपद गौरि विषय दुर्गे महाराज श्रीराजा मामणदासदेव तेके वर्त्तमाणे स्वस्ति श्री जुझार साह ठाकुर माधवदास के ना.क्षण पं० देव बम्हरौधिया के जेठोहो पुत्र परोखोभी तेकी महा सती। तेको नातो निरखने तेकी दिसा को यह मढेन को स्थापना तथा अमरारे ठकेक आषु भगवादास नाती उहोरेउ लोगसिंह राज।

जेणे रंजिन जगपवरिणवु मा (म) महागढ़ हेठि ।
विजयसीह सुर अठिअह अरियण नियदित पेठि ॥
जो चित्तोडहं जुझिअउ जिण ढिली दलु जित्तु ।
सो सुपसंसहि रमहकइ हरिसराअ तिअ सुत्तु ॥
गेदिअ गुजर गौदहइ कीय अधियं मारि ।
विजय सीह कित संहलहु पौरिस कह संसारि ॥
मुंमुकदेवहप अ पणधि पञहि अकित्ति समठव ।
विजयसीह दिढ़ चित्तु करि आरंभिअ सुरा सव्व ॥

इसका भावार्थ संस्कृत में यों लिखा है:—

विश्वामित्रे शुभे गोत्रे महाथं द्रव्वडः पुरे ।
यो वेराज्ञ गांम्यय गजघटा निरस्संदीकृता ॥*
तद्गोत्रे समुत्पन्नो विजयपालो महाबलः ।
स्वभुजदंड चराडाभ्यां च्त्रियाः समरे जिताः ॥
काई नामा महावीर्यः समरे येन निर्जितं ।
शंसितं डे (भो ?) जदेवेन भुवनपालेन धीमता ॥

जित्वा कालिंजरेशं सबल बलिनमजितं डाहानि कंदर्पितं साहरीयं-तेनापि कुशमारातिनं गुर्जरं जित्वा यो दच्चिणेशं निजभुज बलैः । सद्बोधसंसिद्धपि ज्ञात्वा श्रं। कालाग्नि रुद्र समुमृत्तो च प्राण मोचं च चक्रे † । तस्यात्मजो विजयसिंह चितौ प्रसिद्धः सत्येन धर्म्म यशसा दृढ़ विक्रमेण । मुंमुकदेव चरणांबुज ध्यात भक्तया प्रासाद कीर्तित कलिकुल निर्म्मलेन ॥

इस लेख के कई अक्षर ऐसे हैं जिनमें अंतर कुछ नहीं दिखाई देता, परंतु वे भिन्न भिन्न हैं और केवल अनुमान से पढ़े जाते हैं। भ और त एक से लिखे गए हैं। ऐसे ही ध, व और च में कुछ अंतर नहीं है,

---

* यह पंक्ति ठीक नहीं पढ़ी जाती ।

† इन श्लोकों में कुछ गड़बड़ है ।

चाहे जो पद लो। स और ल में भी कुछ फ़र्क़ नहीं दिखाई देता। इसके सिवाय संस्कृत लेख से पता लगता है कि कई शब्द अशुद्ध लिखे गए हैं और व्याकरण की भूलें भी हैं। तिस पर भी सारांश निकालने में बाधा नहीं पड़ती; और उसमें वर्णित घटना का भी पता लग जाता है। दमोह जिले की हटा तहसील में जंगल में जटाशंकर नामक एक किला है। आदि में यहीं पर यह लेख पाया गया था। इस किले से कोस भर पर एक गाँव है जिसका नाम काई खेड़ा है। यह अवश्य लेख में वर्णित काई नामक वीर का स्मारक है जो जटाशंकर का किलेदार अवश्य रहा होगा। वह किस राजा का किलेदार था, यह तो नहीं बतलाया गया, परंतु इतना स्पष्ट है कि वह बड़ा शूरवीर था जिसको जीतना कोई ऐसा वैसा काम नहीं था। विजेता को उसके हराने में बड़ा परिश्रम करना पड़ा होगा, तब तो उसका नाम प्रशस्ति में दर्ज किया गया। अनुमान से जान पड़ता है कि काई कालंजर के चंदेल राजाओं का सरदार रहा होगा। दमोह में उस ज़माने में इन्हीं का राज्य था। ये कालञ्जराधिपति कहलाते थे। शिलालेख में कालञ्जर फ़तह करने का भी ज़िक्र है। जान पड़ता है कि विजयसिंह मेवाड़ के गुहिल वंश का था। शिलालेख में गुहिलौत वंश बदला भी दिया गया है। गुहिल विजयसिंह ने मालवा के राजा उदयादित्य की कन्या से विवाह किया था और अपनी लड़की अल्हण देवी तेवर के कलचुरि राजा गय कर्ण को ब्याह दी थी।

हिंदी भाषा-विकास के संबंध से यह लेख बड़े महत्व का है। हिंदी में कदाचित् इतना प्राचीन शिला या ताम्रलेख अभी तक नहीं पाया गया। कलचुरि राजा कर्णदेव के समय में एक छोटा सा नमूना प्रसंगवश संस्कृत ताम्रलेख में प्रविष्ट कर दिया गया था। वह यों है:—

'होहिन्ति एत्थ वंसे पुरिसा वहइय गारव महग्धा।
इय हाविऊण जेयं पालीए परिग्गहो गहिओ।'

इसका संस्कृत रूप होता है—"भविष्यंति अत्र वंशे पुरुषाः अत्य-

धिक गौरव महार्घोः। इति ज्ञात्वा येन दिशां परिग्रहो गृहीतः" (होवेंगे इस वंश में सुपुरुष गौरववान्। यह विचार वह दिशान को परिग्रहण कृतवान्॥) यह नमूना सन् १०४२ ई० का है। डाक्टर कीलहार्न इसे महाराष्ट्री प्राकृत बतलाते हैं। वही सही, परंतु कलचुरियों की राजधानी में महाराष्ट्री का कभी प्रचार नहीं हुआ, न है। वह ठेठ हिंदी-भाषी प्रांत के अंतर्गत अब भी विद्यमान है। प्राकृत पद्य का पहला ही शब्द 'होहिंति' हिंदी के 'होइहिं' या 'होइहैं' का दादा है। ऐसे ही अंतिम 'गहिओ' 'गह्यो' से पूर्ण साम्य रखता है। कदाचित् पत्थ और द्राविड़ण के कारण इसके सिर पर मराठी पाग बाँधी गई है। खैर: नाम कुछ भी हो, हिंदी मराठी का स्रोत एक ही है।

पुरानी हिंदी का दामन छोड़ते ही हमको लम्बी उड़ान भरनी पड़ती है; तब कहीं सोलहवीं सदी का पखान ठहरने के लिए मिलता है। यह भी दमोह जिले ही की दया से उपलब्ध होता है। इस समय हमें ठेठ व्यवहार से काम पड़ता है। यह एक इश्तिहार है न कि प्रशस्ति। लेख छोटा है उसकी नकल नीचे दी जाती है—

सिद्धिः संवत् १५७८ सतरा वर्षे माघ वदी १३ सोमे दिने महाराजाधिराज राज श्री सुलितान महमूदसाहि बिन नासिरसाहि राज्ये आसै दमोव नगरे श्री महापाण आजम मलूषां विण मलूषां मुक्ते वर्तते तत्समये दाम बिजाई व मएडवा व दाई व दरजी ऐ रकमौ जु दमड़ा लागते मीजो व वहदाराएा हरवेरिस सालीना लेतो मुमाफुकि ऐ छोड़े जु कोई इस परिस व इस देश थी इन्द मह लेहि दमड़ा पैका मांगि लेई सु अपण दीण थी वेजाद होइ मुसलमान होइ दमड़ा लेइ तिसहि सुवर की सौंहा हिंदू होइ लेइ तिसहि गाई की सौंहा प्रवानगी मलिक सेपण हसनषां निरवदा छ मौ कोठवालु सोनिपहजू पलचिपुरवारे शुभं भवतु। ❀

• देखो एपिग्राफिया इंडिका जि० १४, पृ० २६३

यद्यपि यह इश्तिहार मुसलमानी ज़माने में उसी क़ौम के अफ़सर के द्वारा निकाला गया था, तथापि उसके नाक और पूछ संस्कृत ही की लगाई गई। लेख की भाषा खिचड़ी है और उसमें गुजराती की बू भरी है। जान पड़ता है कि इसका रचयिता कोई तत्कालीन अधिकारी खेड़ावाल ब्राह्मण था। दमोह में इनकी अधिकता है और यही लोग विशेष धनाढ्य और पढ़े लिखे हैं। जिस साल यह इश्तिहार जारी किया गया, उसी साल एक सती दमोह ज़िले के ठरका गाँव में हुई थी, जिसके चीरे के लेख की नकल ऊपर पृ.५ के फ़ुट नोट में दी जा चुकी है। इन दोनों के पढ़ने से सर्वसाधारण की बोलचाल की भाषा और सरकारी दफ़्तरों की भाषा का अन्तर तुरंत दिखाई पड़ेगा, यद्यपि इश्तिहार की भाषा गुजराती मिश्रण से कुछ दूषित हो गई है।

अभी तक हिंदी के शिक्षित भागों के नमूने दिए गए हैं। अब यदि जंगल की सैर करना अभीष्ट हो तो मध्य प्रदेश के उत्तरीय कोने से उसके बिलकुल दक्षिण के छोर को जाना पड़ेगा, जहाँ आज भी सघन वन लगा हुआ है—जहाँ की स्त्रियाँ और पुरुष लँगोटी लगाकर महुआ तेंदू, कंदमूल और चूही-चूहा आदि अनेक प्रकार के जानवरों के मांस से अपना निर्वाह करते हैं। यह स्थान बस्तर रियासत में दन्तेवाड़ा है, जहाँ पर नरबलि-भक्षी दन्तावला देवी का मंदिर है। वह पत्थर भी, जिसमें हिंदी का लेख है, वहीं रक्खा है। राजकुटुंब की यात्रा के समय राजगुरु ने पहले संस्कृत में एक प्रशस्ति लिखी। पश्चात् कलियुगी लोगों के हितार्थ उसका आशय हिंदी में खुदा दिया। उसका आरंभ नीचे लिखे प्रकार से किया गया है—

"दन्तावला देवी जयति। देववाणी मह प्रशस्ति लिखाए पाथर है दिक्पाल देव के कलियुग मह संस्कृत के धचवैया थोर हो हैं तेपांइ दूसर पाथर मह भाषा लिखे है। सोमवंशी पांडव अर्जुन के संतान हुद-कान हस्तिनापुर छांड़ि ओरंगल के राजा भए। ते वंश मह काकती

प्रतापरुद्र नाम राजा भए तेके संतान"......दिकपालदेव विआह कीन्हें बरही के चंदेल राव रतन राजा के कन्या अजयकुमरि महारानी विषें अठारहें वर्ष रक्षपाल देव नाम युवराज पुत्र भये"...पुनि सकल पुरवासी लोग समेत दन्तावला के कुटुंब जात्रा करे संवत् सत्रह सै साठि १७६० चैत्रि सुदि १४ आरंभ बैशाख वदि ३ ते संपूर्ण मै जात्रा करेको हजार भैंसा बोकरा मारे तेकर रकत प्रवाह बह पांच दिन संखिनी नदी लाल कुसुम वर्न भए। ई अर्थ मैथिल भगवान मिश्र राजगुरु पंडित भाषा और संस्कृत दोऊ पाथर मह लिखाए। अस राजा श्री दिकपालदेव समान कलियुग न होहै आन राजा।"*

बेशक 'न होहै (अथवा होहिन्ति) अस आन राजा' न अस आन पंडित, जिसने मैथिली को अलग रख देववाणी का छत्तीसगढ़ी अनुवाद 'पाथर' पर खुदवा कर अपना नाम अमर कर दिया।

बतला आए हैं कि कलचुरि कर्णदेव ने ग्यारहवीं शताब्दी में प्रचलित भाषा का निदान एक पद्य अपनी बृहत् संस्कृत ताम्र प्रशस्ति में प्रविष्ट कर उसका मान किया। इन्हीं के वंश के अन्तिम राजा अमरसिंह ने अन्तिम ताम्रपत्र ठेठ छत्तीसगढ़ी में लिखवा कर महाकोशल की अठारहवीं शताब्दी की प्रचलित भाषा का मान रख लिया। यह ताम्रपत्र आरंग ग्राम के एक लोधी को दिया गया था। उसमें जो कुछ लिखा है, उसकी नकल नीचे दी जाती है—

स्वस्ति श्री महाराजाधिराज
श्री महाराजा श्री राजा अमर
सिंघ देव एतो ठाकुर नंदू तथा
घासीराय कह कबूल पाट लिखा
इ दीन्हे अस जो छींटा चूँदा ग

---

* देखो एपिग्राफिया इंडिका जिल्द १२, पृष्ठ २४७-२४१

यारि मई मुआरि ई सब एकौ न
देई ॥ एक विद्यमान देवान कोका
प्रसाद राइ तथा देवान (मल्ल) सा
हि लिपे बाबू काशीराम कबूल
पाट सही रायपुर बैठे लिपे
कार्तिक सुदी ७ कह सं० १७९२
डोंगर पटइल तथा मथुराई प
टइल तथा तपत सराफ लि
पाइ ले गए जब्ध नंदू धमतरी
चलि गए रहे तब एही कबूल मह आए
इ कबूल के विद्यमान महंत श्री
मानदास तथा श्री महाराज कुमार ठाकुर
श्री उदैसिंघ तथा श्री महाराज कुमार
लाला श्री कृपालसिंघ तथा नायक प्रताप
और साक्षी बाबू गुमानसिंघ तथा ठाकुर
कोदूराइ तथा परिहार प्यारेलाल
दुबे परमाइज लेवाइ आने
सही दीवान कोका
प्रसाद राई के।
सही दवान मल्ल सादि के ॥*

यह प्रायः डेढ़ दो सौ बरस की पुरानी छत्तीसगढ़ी है जो पूर्वी हिंदी में दाखिल है। कदाचित् पछाँहीं हिंदी का नमूना दिखलाने ही के लिए एक ताम्रपत्र सागर जिले के खुरई कस्बे में उपलब्ध हो गया जिसकी नकल नीचे दी जाती है—

---

* देखो गोकुलप्रसाद कृत रायपुर रश्मि पृ० ३५

श्रीरामजी १

सही दीवान अचलसिंघ जू की

॥ संद लिख दई श्री महाराज कां दिवान अचल सिंघ जू की सरकार सैं ॥ श्री ठाकुर दीवाल (देवालय) के भोग कौ गांउ दयो पंश्री महन्त किसुनदास जी कौ। जगदीशपुर परोगोव गडोल (परगनो गड़ोला) सरकार आलमगीरपुर सूबे मालव हमेस पाऐं जाइ ॥ और जो कोऊ मजामी करै सो श्री परमेसुर को दोषी होइ हिंदू कौ गऊ हराम मुसलमान को सूवर हराम संवतु १८५८ मिती कांर सुदी ६

यह बुंदेलखण्डी हिंदी है जो पछाँहीं में शामिल है।

सती चौरों के सिवाय, जिनकी संख्या बहुत है और जिनमें मिश्रित हिंदी और संस्कृत के लेख पाए जाते हैं, मध्यप्रदेश में ऊपर वर्णित ही हिंदी के लेख उपलब्ध हुए हैं। जब इस गोंडवन में बारहवीं शताब्दी के हिंदी लेख मौजूद हैं, तो अन्य प्रांतों में विशेषकर संयुक्त प्रान्त, राजपुताने और मध्य भारत में खोज करने से बहुत से मिलने की आशा की जा सकती है। यदि उन प्रांतों के पुरातत्वज्ञ उनको प्रकाशित करने की चेष्टा करें, तो हिंदी के एक अंग की सेवा हो जायगी। इस खोज से भाषा और भाषा-विज्ञानी दोनों को लाभ पहुँच सकता है।

---

(२) आधुनिक हिंदी गद्य के आदि आचार्य

[लेखक—बाबू श्यामसुंदरदास बी० ए०, काशी]

हिंदी के आधुनिक गद्य साहित्य का इतिहास अभी कोई सवा सौ वर्ष पुराना है। यद्यपि गद्य का आरंभ तो उसी दिन से हो जाता है जिस दिन से मनुष्य बोलने लगता है और यद्यपि साहित्य के कामों के लिये हिंदी गद्य का प्रयोग कई शताब्दी पुराना मिलता है, पर उसको आधुनिक साहित्यिक रूप देने का काम कोई सवा सौ वर्ष पहले फोर्ट विलियम कालेज में किया गया था।

हिंदी साहित्य के निर्माण का काम एक ओर अवधी और दूसरी ओर व्रज भाषा में किया गया। खड़ी बोली तो केवल बोलचाल की भाषा थी। उसमें साहित्य-निर्माण का काम प्राचीन समय में बहुत कम अथवा नाम मात्र हुआ था। इसी लिये प्राचीन गद्य जो कुछ मिलता है, वह विशेष कर व्रज भाषा में ही लिखा मिलता है।

भारतवर्ष का भाषा संबंधी इतिहास बड़ा ही विचित्र और मनोरंजक है। यह कहावत कि इतिहास की उद्धरणी होती रहती है अर्थात् ऐतिहासिक घटनाएँ समान स्थिति पाकर घूम घूमकर होती रहती हैं, जितनी भारतवर्ष के भाषा संबंधी इतिहास पर चरितार्थ होती है, उतनी दूसरी किसी बात में इतनी स्पष्ट नहीं लगती। वैदिक युग की बोलचाल की भाषा को लेकर जब वेदों की रचना हुई, तब मानों वैदिक साहित्य की भाषा की नींव डाली गई। उसी पर साहित्य की भाषा का प्रासाद खड़ा किया गया। समय पाकर उसने संस्कृत का रूप धारण किया। इस प्रकार साहित्य की भाषा अपने ढंग पर विकसित होती चली, पर बोलचाल की भाषा से इसकी कोई घनिष्टता न रही। वह साहित्यिक भाषा

के निर्माण में सहायक होकर उससे अलग रही और अपना विकास अपने ढंग पर करती रही। यद्यपि आरंभ में दोनों में विभेद बहुत कम था, पर ज्यों ज्यों समय बीतता गया त्यों त्यों दोनों में अंतर और विभेद की मात्रा बढ़ती गई।

पढ़े लिखे या साहित्य-सेवी लोग अपना एक अलग समुदाय सा बना लेते हैं और अपनी भाषा को शुद्ध तथा पवित्र रखने का उद्योग करते रहते हैं। जन-समुदाय को ऐसी कोई चिंता नहीं होती। वे भाव-प्रदर्शन को ही अपना मुख्य उद्देश्य मानकर अपना काम करते हैं और भाषा प्राकृतिक नियमों के अनुसार परवर्तित या विकसित होती रहती है। जब 'शिष्ट' लोगों को जन-समुदाय को अपने साथ लेकर चलने की आवश्यकता पड़ती है अथवा जब वे उसकी सहायता या सहयोगिता के लिये उसके मुखापेक्षी होते हैं, तब उन्हें हारकर समझाने बुझाने और अपने पक्ष में करने के लिये उनकी 'अशिष्ट' 'अपरिमार्जित' 'असंस्कृत' 'गँवारू' भाषा का प्रयोग करना पड़ता है। उनके हाथों में पड़कर यह बोलचाल की भाषा क्रमशः साहित्यिक भाषा का रूप धारण करने लगती है अर्थात् उसमें साहित्य की रचना होने लगती है। इस प्रकार यह नवीन भाषा पुरानी भाषा का स्थान ग्रहण करती जाती है, पर बोल चाल की भाषा अपने ढंग पर चली चलती है। इस क्रम से एक ओर वैदिक बोलचाल की भाषा से पाली, पाली से प्राकृत, प्राकृत से अपभ्रंश और अपभ्रंश से आधुनिक भाषाओं का आविर्भाव हुआ; दूसरी ओर वैदिक भाषा के अनंतर संस्कृत, संस्कृत के अनंतर पाली, पाली के अनंतर प्राकृत, प्राकृत के अनंतर अपभ्रंश और तब आधुनिक भाषाएँ भारतीय साहित्य के राजसिंहासन पर विराजने की अधिकारिणी हुईं। यह क्रम सहस्रों वर्ष से चला आ रहा है और न जाने कब तक इसकी उद्धरणी होती रहेगी।

हमारे प्रदेश में आधुनिक भाषाओं में पूर्व में अवधी, मध्य देश में

व्रज भाषा और पश्चिम में खड़ी बोली * का प्रचार रहा। पहले तो तीनों ही बोलचाल की भाषाएँ थीं, पर क्रमशः अवधी और व्रज भाषा में साहित्य की रचना होने लगी; खड़ी बोली प्रायः बोलचाल के काम में आती रही। अब उसी खड़ी बोली का साहित्य में प्रयोग होने लगा है और अवधी तथा व्रज भाषा का आधिपत्य उस क्षेत्र से क्रमशः कम होता जा रहा है। इस परिवर्त्तन, इस भाषा संबंधी क्रांति का आरंभ सवा सौ वर्ष पहले हुआ। राजनीतिक क्षेत्र में लोग शांतिमय क्रांति का आदर्श उपस्थित करते हैं, पर इतिहास में उसके उदाहरण नहीं मिलते। हमारे देश के साहित्यिक क्षेत्र में ऐसी शांतिमय क्रांति का प्रत्यक्ष उदाहरण वर्तमान है और यह एक बेर नहीं, कई बेर हो चुका है। जब जब साहित्यिक क्षेत्र में कोई भाषा अपनी उन्नति की सीमा को पहुँच गई और उसका जन-साधारण से संबंध नाम मात्र का रह गया, तब तब उसका स्थान बोलचाल की भाषा ने क्रमशः लेना आरंभ कर दिया और समय पाकर वह उस अधिकार पर पूर्णतया आरूढ़ हो गई। पर जिन्होंने उसे यह राज्याधिकार दिलाया, उनको भूल जाने के कारण उसको उस पद से वंचित होना पड़ा। यह क्रम सहस्रों वर्षों से चला आ रहा है, अभी तक चल रहा है और भविष्य में इसके चलते रहने की पूर्ण संभावना है।

अस्तु; आधुनिक हिंदी गद्य को साहित्यिक रूप देने अर्थात् गद्य साहित्य में खड़ी बोली का प्रयोग आरंभ करने का श्रेय सैयद इंशाअल्ला खाँ, सदलमिश्र और लल्लूजी लाल को प्राप्त है। इंशाअल्ला खाँ की मृत्यु संवत् १८७३ में हुई। लल्लूजी लाल ने संवत् १८८१ में पेंशन ली और सदल मिश्र संवत् १८८८ के कुछ पहले अपने घर लौट आए

---

* इस शब्द का प्रयोग पहले पहल सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान और लल्लूजी लाल के प्रेमसागर में मिलता है। ये दोनों ग्रंथ संवत् १८६० में लिखे गये थे।

थे। जहाँ तक इन तीनों महानुभावों के संबंध के संवतों का पता लगा है, उसके आधार पर यह अनुमान किया जा सकता है कि तीनों प्रायः समकालीन थे और तीनों को रचनाओं के काल में विशेष अंतर नहीं है। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र ने तो कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज के डाक्टर जान गिलक्रिस्ट की तत्वावधानता में ईस्ट इंडिया कंपनी के युरोपीयन नौकरों को हिंदी भाषा का ज्ञान प्राप्त कराने के लिये गद्य ग्रंथों की रचना आरंभ की; पर इंशाउल्ला खाँ को दूसरों के आदेश से अथवा दूसरों की आवश्यकता या अभाव को पूरा करने के लिये यह काम नहीं करना पड़ा। वे अपने ग्रंथ लिखने का कारण इस प्रकार बताते हैं—"एक दिन बैठे बैठे यह बात अपने ध्यान में चढ़ी कि कोई कहानी ऐसी कहिए कि जिसमें हिंदी को छुट और किसी बोली की पुट न मिले; तब जाके मेरा जी फूल की कली के रूप से खिले। बाहर की बोली और गँवारी कुछ उसके बीच में न हो। अपने मिलनेवालों में से एक कोई बड़े पढ़े-लिखे, पुराने धुराने, डाँग बूढ़े घाग यह खटराग लाए। सिर हिलाकर, मुँह थुथाकर, नाक भौंहें चढ़ाकर, आँखें फिराकर लगे कहने, यह बात होते दिखाई नहीं देती। हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो। बस जितने भले लोग आपस में बोलते चालते हैं, ज्यों का त्यों वही सब डौल रहे और छाँह किसी की न दे, यह नहीं होने का। मैंने उनकी ठंढी साँस का टहोका खाकर, झुँझलाकर कहा मैं कुछ ऐसा बड़-बोला नहीं जो राई को पर्वत कर दिखाऊँ और झूठ सच बोलकर उँगलियाँ नचाऊँ और बे-सर बे-ठिकाने की उलझी सुलझी बातें बनाऊँ। जो मुझसे न हो सकता तो यह बात मुँह से क्यों निकालता? जिस ढब से होता इस बखेड़े को टालता। इस कहानी का कहनेवाला आपको जताता है और जैसा कुछ उसे लोग पुकारते हैं, कह सुनाता है। दहना हाथ मुँह पर फेरकर आपको जताता हूँ जो मेरे दाता ने चाहा

तो वह हाव-भाव और कूद-फाँद, लपट-झपट दिखाऊँ जो देखते ही आपके ध्यान का घोड़ा, जो बिजली से भी बहुत चंचल अचपलाहट में है, अपनी चौकड़ी भूल जाय।

टुक घोड़े पर चढ़के अपने आता हूँ मैं।
करतब जो कुछ हैं कर दिखाता हूँ मैं॥
उस चाहनेवाले ने जो चाहा तो अभी।
कहता जो कुछ हूँ कर दिखाता हूँ मैं॥

"अब कान रख के, आँखें मिला के सन्मुख होके टुक इधर देखिए- किस ढब से बढ़ चलता हूँ और अपने फूल के पंखड़ी जैसे होंठों से किस किस रूप के फूल उगलता हूँ।"

लल्लूजी लाल प्रेम-सागर की भूमिका में लिखते हैं—"श्रीयुत गुन-गाहक, गुनियन-सुखदायक जान गिलक्रिस्त महाशय की आज्ञा से संवत् १८६० में श्रीलल्लूजी लाल कवि ब्राह्मन गुजराती सहस्र-अवदीच आगरेवाले ने विसका (चतुर्भुजदास कृत भागवत दशम स्कंध के अनुवाद का) सार ले, यामनी भाषा छोड़ दिल्ली आगरे की खड़ी बोली में कह, नाम प्रेम-सागर धरा। पर श्रीयुत जान गिलिक्रिस्त महाशय के जाने से बना अधबना छप अधछपा रह गया था। सो अब श्री महाराजेश्वर अति दयाल कृपाल यसस्वी तेजस्वी गिलबर्ट लार्ड मिंटो प्रतापवान के राज में औ श्रीगुनवान सुखदान कृपा-निधान भगवान कपतान जान वलियम टेलर प्रतापी की आज्ञा से और श्रीयुत परम सुजान दयासागर परोपकारी डाकतर वलियम हंटर नक्षत्री की सहायता से औ श्री निपट प्रवीन दयायुत लिपटन अबराहम लाकर रतीवंत के कहे से उसी कवि ने संवत् १८६६ में पूरा कर छपवाया, पाठशाला के विद्यार्थियों के पढ़ने को।"

इसी प्रकार पंडित सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के अनुवाद के आरंभ में लिखते हैं—"चित्र विचित्र सुन्दर सुन्दर बड़ी बड़ी

अटारिन से इन्द्रपुरी समान शोभयमान नगर कलिकत्ता महा प्रतापी वीर नृपति कम्पनी महाराज के सदा फूल फूला रहे, कि जहाँ उत्तम उत्तम लोग बसते हैं और देश देश से एक से एक गुणीजन आय आय अपने अपने गुण को सुफल करि बहुत आनन्द में मगन होते हैं। नाम सुन सदल मिश्र पंडित भी वहाँ आन पहुँचा वो बड़ी बड़ाई सुनि सर्व विद्या-निधान ज्ञानवान महाप्रधान श्री महाराज जान गिलक्रस्त साहब से मिला कि जो पाठशाला के आचार्य हैं। तिनकी आज्ञा पाय दो एक ग्रंथ संस्कृत से भाषा वो भाषा से संस्कृत किए। अब संवत् १८६० में नासिकेतोपाख्यान को कि जिसमें चन्द्रावती की कथा कही है, देववाणी से कोई कोई समझ नहीं सकता, इसलिये खड़ी बोली में किया।"

इस प्रकार हिंदी गद्य में इन तीन ग्रंथों की रचना हुई। इंशाअल्ला खाँ ने कुतूहलवश तथा अपनी विद्वत्ता और काव्य-कुशलता की उमंग में आकर, लल्लूजी लाल ने अपने स्वामी की आज्ञा के वशीभूत होकर तथा सदल मिश्र ने फोर्ट विलियम के आचार्य जान गिलक्रिस्त के कहने पर अपने अपने ग्रंथों की रचना की। कुछ लोग लाला सदासुख लाल को भी, जिनका जन्म संवत् १८०३ में और मृत्यु संवत् १८८१ में हुई, हिंदी गद्य के आरंभिक आचार्यों में गिनते हैं। इनके हिंदी गद्य में लिखे कई स्फुट लेख बतलाए जाते हैं और एक छप भी गया है। पर जान पड़ता है कि इन्होंने लेखों के अतिरिक्त कोई ग्रंथ नहीं रचा और लेख भी किसी क्रम से नहीं लिखे। भक्ति-भाव से प्रेरित होकर जब जैसी उमंग आई, लिख डाला। इनके सब लेखों का संग्रह भी प्रकाशित नहीं हुआ है। इसलिये मैं हिंदी गद्य के आरंभिक आचार्यों में इन्हें स्थान देने के लिये उद्यत नहीं हूँ।

लल्लूजी लाल का वृत्तांत काशी नागरीप्रचारिणी सभा द्वारा प्रकाशित प्रेमसागर की भूमिका में इस प्रकार दिया है—

इनका नाम लल्लूलाल, लालचंद या लल्लूजी था और कविता में उपनाम लाल कवि था। ये आधुनिक हिंदी गद्य के आदि और उसके आधुनिक स्वरूप के प्रथम लेखक माने जाते हैं। ये आगरा-निवासी गुजराती औदीच्य ब्राह्मण थे और उस नगर के घलका की बस्ती गोकुलपुरा में रहते थे। इनके पिता का नाम चैनसुखजी था जो बड़ी दरिद्रावस्था में थे और पुरोहिताई तथा आकाश वृत्ति से किसी प्रकार अपना कार्य चलाते थे। इनके चार पुत्र थे जिनके नाम क्रमशः लल्लूजी, दयालजी, मोतीरामजी और चुन्नीलालजी थे। सब से बड़े ये लल्लूजीलाल थे जिनके जन्म का समय निश्चित रूप से अभी तक ज्ञात नहीं हुआ है; पर संभवतः इनका जन्म सं० १८२० वि० के लग-भग हुआ होगा। इन्होंने घर ही पर कुछ संस्कृत, फ़ारसी और व्रज भाषा का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। जब सं० १८४० वि० में इनके पिता स्वर्ग को सिधारे, तब अधिक कष्ट होने के कारण ये सं० १८४३ वि० में जीविका की खोज में मुर्शिदाबाद आए। यहाँ कृपासखी के शिष्य गोस्वामी गोपालदासजी के परिचय और सत्संग से इनकी पहुँच वहाँ के नवाब मुबारकउद्दौला के दरबार में हो गई। नवाब ने इन पर प्रसन्न होकर इनकी जीविका बाँध दी जिससे ये आराम से वहाँ सात वर्ष तक रहे। सं० १८५० वि० में गोस्वामी गोपालदासजी की मृत्यु हो जाने और उनके भाई गोस्वामी रामरंग कौशल्यादासजी के वर्दवान चले जाने से इनका चित्त उस स्थान से ऐसा उचाट हुआ कि नवाब के आग्रह करने पर भी उनसे विदा हो ये कलकत्ते चले गए।

नाटौर की प्रसिद्ध रानी भवानी के दत्तक पुत्र महाराज रामकृष्ण से कलकत्ते में इनका परिचय हो गया और ये कुछ दिन उन्हींके आश्रय में वहाँ रहे। जब उनके राज्य का नए रूप से प्रबंध हो गया और उन्हें उनका राज्य भी मिल गया, तब ये भी उनके साथ नाटौर गए। कई वर्ष के अनन्तर जब उनके राज्य में उपद्रव मचा और वे कैद किए

जाकर मुर्शिदाबाद लाए गए, तब ये भी उनसे विदा होकर सं० १८९३ में कलकत्ते लौट आए जहाँ ये कुछ दिन चितपुर रोड पर रहे। वहाँ के कुछ बाबू लोगों ने प्रकट में तो इनका बहुत कुछ आदर सत्कार किया, पर कुछ सहायता न की; क्योंकि वे लिखते हैं—"उन्हींके थोथे शिष्टाचार में जो कुछ वहाँ से लाया था, सो बैठकर खाया।" कई वर्ष इन्हें जीविका का कष्ट बना रहा। तब अंत में घबराकर जीविका की खोज में ये जगन्नाथपुरी गए। जब जगदीश के दर्शन करने गए थे, तब स्वरचित निर्वेदाष्टक सुनाकर उनकी स्तुति की थी, जिसका प्रथम दोहा यों है—

विश्वंभर बनि फिरत हौ, भले बने महराज।
हमरी ओर निहारि कै, लखौ आपुनो काज॥

संयोग से नागपुर के राजा मनियाँ बाबू भी उसी समय जगदीश के दर्शन को आए हुए थे और वे खड़े खड़े इनकी इस दैन्य स्तुति को, जिसे ये बड़ी दीनता के साथ पढ़ रहे थे, सुनते रहे। इससे उन्हें इन पर बड़ी दया आई और इनसे परिचय करके उन्होंने इन्हें अपने साथ नागपुर लिवा जाने के लिये बहुत आग्रह दिखलाया। इनका विचार भी वहाँ जाने का पक्का हो गया था; पर अभी तक इनके अदृष्ट ने इनका साथ नहीं छोड़ा था, जिससे ये उनके साथ नहीं जा सके और कलकत्ते लौट आए। विदा होते समय मनियाँ बाबू ने सौ रुपए भेंट देकर इनका सत्कार किया था।

इन्हीं दिनों साहबों के पठन-पाठन के लिये जब कलकत्ते में एक पाठशाला खुली, तब इन्होंने गोपीमोहन ठाकुर से जाकर प्रार्थना की। उन्होंने अपने भाई हरिमोहन ठाकुर के साथ इन्हें भेजकर पादरी बुरन साहब से इनकी भेंट करा दी। उन्होंने आशा भरोसा तो बहुत दिया, पर एक महीना व्यतीत हो जाने पर भी जब उनके किए कुछ नहीं हुआ, तब दीवान काशीनाथ खत्री के छोटे पुत्र श्यामाचरण के द्वारा डाक्टर

रसेल से एक अनुरोध-पत्र प्राप्त करके इन्होंने डाक्टर गिलक्रिस्ट से भेंट की, जो उन दिनों फोर्ट विलियम कालेज के प्रिंसिपल थे। इन्हीं गिलक्रिस्ट साहब का, जो उस समय हिंदी और उर्दू भाषाओं का स्वरूप निश्चित कर रहे थे, सत्संग लल्लूलालजी की विख्याति का मूल कारण हुआ।

साहब ने इन्हें व्रज भाषा की किसी कहानी को हिंदी गद्य में लिखने की आज्ञा दी और अर्थ-साहाय्य के साथ साथ इनके प्रार्थनानुसार दो मुसलमान लेखकों को, जिनके नाम मज़हरअली खाँ विला और क़ासिमअली जुवाँ था, सहायतार्थ नियुक्त कर दिया। तब इन्होंने एक वर्ष (सं० १८५६ वि०) में परिश्रम करके चार पुस्तकों का व्रज भाषा से रेख़्ते की बोली में अनुवाद किया। इन पुस्तकों के नाम सिंहासन-बत्तीसी, बैताल-पचीसी, शकुंतला नाटक और माधोनल हैं।

आगरे के तैराक बहुत प्रसिद्ध होते हैं। लल्लूजी भी वहीं के निवासी होने के कारण तैरना अच्छा जानते थे। दैवात् एक दिन इन्होंने तट पर टहलते समय एक अँगरेज़ को गंगा जी में डूबते देखा। तब इन्होंने निडर होकर झटपट कपड़े उतार डाले और गंगाजी में कूद दोही गोते में उसे निकाल लिया। वह अँगरेज़ ईस्ट इण्डिया कंपनी का कोई पदाधिकारी था। उसने अपने प्राण-रक्षक की पूरी सहायता की और इन्हें कुछ धन देकर छापाखाना खुलवा दिया। उसी के अनुरोध से फोर्ट विलियम कालेज में इनकी वि० सं० १८५७* में पचास रुपए मासिक की आजीविका लग गई। बस इसके अनंतर इनकी प्रतिष्ठा और ख्याति बराबर बढ़ती चली गई। इन्होंने अपने

---

* विद्याविहार और सरस्वती के द्वितीय वर्ष की २री संख्या में सं० १८५७ वि० को सन् १८०४ ई० माना है, जो अशुद्ध है। सन् १८०० ई० चाहिए। देखिए जी० ए० ग्रियर्सन संपादित लालचंद्रिका-पृ० १२।

प्रेस में, जिसका नाम संस्कृत प्रेस रखा था, अपनी पुस्तकें छपवाकर बेचना आरंभ कर दिया। कंपनी ने भी इस प्रेस के लिये बहुत कुछ सहायता दी, जिससे इसमें छपाई का अच्छा प्रबंध हो गया। यह यंत्रालय पहले पटलडाँगा में खोला गया था। इनके प्रेस की पुस्तकों पर सर्वसाधारण की इतनी श्रद्धा हो गई थी कि इनकी प्रकाशित रामायण ३०) ४०) ५०) को और प्रेमसागर १५) २०) ३०) को बिक जाते थे। इनके छापेखाने के छपे हुए ग्रंथों को एक शताब्दी से अधिक हो गया, पर वे ऐसे उत्तम, मोटे और सफेद बाँसी कागज़ पर छपे थे कि अब तक नए और दृढ़ बने हुए हैं।

लल्लूजी चौबीस वर्ष तक फोर्ट विलियम कालेज में अध्यापक रहे और वि० सं० १८८१ में पेंशन लेकर स्वदेश लौटे। ये अपना छापाखाना भी आते समय नाव पर लादकर साथ ही आगरे लाए और वहीं उसे खोला। आगरे में इस छापेखाने को जमाकर ये कलकत्ते लौट गए और वहीं इनकी मृत्यु हुई। इनकी कब और कैसे मृत्यु हुई, इसका इनके जन्म के समय के समान निश्चित समय ज्ञात नहीं हुआ; परंतु पेंशन लेते समय इनकी अवस्था लगभग ६० वर्ष की हो गई थी।

यद्यपि इनके भाइयों को संतान थी, पर ये निस्संतान ही रहे। इनकी पत्नी का इनपर असाधारण प्रेम था और वे इनके कष्ट के समय बराबर इनके साथ रहीं। ये वैष्णव तो अवश्य ही थे, पर किस संप्रदाय के थे, यह ठीक नहीं कहा जा सकता। फिर भी ये राधावल्लभीय ज्ञात होते हैं।

इतना तो स्पष्ट ही विदित है कि ये कोई उत्कृष्ट विद्वान नहीं थे और न किसी विद्या के आचार्य होने का गर्व ही कर सकते थे। संस्कृत का बहुत कम ज्ञान रखते थे; उर्दू और अँगरेजी भी कुछ कुछ जानते थे; पर व्रजभाषा अच्छी जानते थे। कवि भी ये कोई उच्च कोटि के नहीं थे। परंतु जिस समय ये अपनी लेखनी चला रहे थे, उस समय

ये वास्तव में ठेठ हिंदी का स्वरूप स्थिर कर रहे थे। हिंदी गद्य के कारण ही ये प्रसिद्ध और विख्यात हुए हैं। कुछ लोगों का यह कथन है कि यदि ये आजकल होते, तो कदापि इतने यश के भागी न होते। पर यह तो न्यूटन आदि जगत्प्रसिद्ध विद्वानों के लिये भी कहा जा सकता है।

इन्हों ने नीचे लिखे ग्रंथों की रचना की थी—

१. सिंहासन बत्तीसी (खड़ी बोली)
२. वैताल पचीसी—(उर्दू भाषा)
३. शकुंतला नाटक—(खड़ी बोली)
४. माधोनल—(ब्रज भाषा)
५. माधव विलास—(गद्य पद्य दोनों; ब्रज भाषा में)
६. सभाविलास—(पद्यों का संग्रह)
७. प्रेमसागर—(खड़ी बोली)
८. राजनीति—(ब्रज भाषा)
९. भाषा-क़ायदा—(खड़ी बोली का व्याकरण)
१०. लतायफ हिंदी—(उर्दू, हिंदी और ब्रज भाषा की कहानियों का संग्रह)
११. लालचंद्रिका—(गद्य टीका)

पंडित सदल मिश्र आरे के रहनेवाले शाकद्वीपीय ब्राह्मण थे। इनके पूर्वजों में शुकदेव मिश्र पहले पहल आरा जिले के ध्रुवडीहा ग्राम में आकर बसे थे। ये श्रीकृष्ण जी के अनन्य भक्त थे और एकांत जीवन निर्वाह करते थे; श्राद्ध, ब्राह्मण-भोजन आदि में सम्मिलित नहीं होते थे। इस कारण उस गाँव के अन्य ब्राह्मणों से इनकी अनबन हो गई और अंत में ये उस गाँव को छोड़ने के लिये बाध्य हुए। वहाँ से ये भदवर ग्राम में जाकर बसे। वहाँ के बाबू को पहले इन पर संदेह हुआ; पर जाँच करने पर जब उन्हें ज्ञात हुआ कि ये एक भगवत्भक्त सात्विक वृत्ति के ब्राह्मण हैं, तब उन्होंने इनका बड़ा

आदर सत्कार किया। उन्होंने मिश्र जी को कई गाँव देने चाहे, पर संतोषी शुकदेव मिश्र ने केवल हसनपुरा नामक गाँव लेना स्वीकार किया। बहुत दिनों तक ये और इनके वंशधर इसी ग्राम में रहे; पर कुँअरसिंह के समय में ये लोग आरा नगर के मिश्र टोले में आकर बस गए और वहीं अब तक इनके वंशधर रहते हैं।

पंडित शुकदेव मिश्र के वंश में पंडित लक्ष्मण मिश्र हुए। इनके तीन पुत्र थे—कृष्णमणि मिश्र, धैर्यमणि मिश्र और नन्दमणि मिश्र। इन तीनों भाइयों का वंश चला और अब तक उनके उत्तराधिकारी वर्त्तमान हैं। नंदमणि मिश्र के तीन पुत्र हुए—बदल मिश्र, सदल मिश्र और सीताराम मिश्र। यही सदल मिश्र नासिकेतोपाख्यान के रचयिता हैं। इस वंश के अनेक व्यक्ति प्रसिद्ध विद्वान् हुए हैं। पंडित सदल मिश्र भी संस्कृत के अच्छे पंडित थे। इनके वंशजों में यह प्रसिद्धि है कि अपनी विद्वत्ता के कारण ये पटने बुलाए गए थे और वहाँ से फोर्ट विलियम कालेज में काम करने के लिये भेजे गए थे। नासिकेतोपाख्यान की प्रस्तावना से यह स्पष्ट नहीं होता कि सदल मिश्र स्वयं नौकरी की खोज में कलकत्ते गए अथवा पटने बुलाए जाकर वहाँ से कलकत्ते भेजे गए। जो कुछ हो, यह तो स्पष्ट ही है कि कलकत्ते के फोर्ट विलियम कालेज में ये नौकर हो गए।

बाबू शिवनंदन सहाय लिखते हैं—"संवत् १९०४ का इनके नाम का एक बयनामा हमारे देखने में आया है, जो इस समय इनके पौत्र पंडित रघुनंदन मिश्र जी के पास है। इसके पहले के कागजों में भी इनका नाम है। १९०५ संवत् के एक कागज में इनका नाम न होकर केवल इनके वंशधरों का नाम देखा जाता है।" इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि संवत् १९०४ और १९०५ के बीच में पंडित सदल मिश्र की मृत्यु हुई। इनके वंशधरों का कहना है कि पंडित सदल मिश्र ने ८० वर्ष की आयु पाई थी। इस हिसाब से इनका

जन्म संवत् १८२४–२५ के लगभग होना चाहिए। इनके वंशधरों का यह भी कहना है कि २४-२५ वर्ष की अवस्था में ये कलकत्ते गए थे, जो संवत् १८५० के लगभग पड़ती है। संवत् १८६० में इन्होंने नासिकेतोपाख्यान का अनुवाद किया था। स्वयं यह भी लिखते हैं कि मैंने "दो एक संस्कृत ग्रंथों से भाषा और भाषा से संस्कृत किए।" पर वे सब ग्रंथ अब कहीं मिलते नहीं। संवत् १८८८ में इन्होंने ११०००) पर सिगही गाँव, बयगुलफा और हसनपुरा का ठीका लिया था। ऐसा जान पड़ता है कि कलकत्ते में ३०-३५ वर्ष सेवा कर और बहुत सा धन कमाकर ये अपने घर लौट आए थे। संवत् १८६७ में इन्होंने तुलसीदास के रामचरितमानस का एक संस्करण संशोधित करके छपवाया था। इस संस्करण की एक प्रति काशी नागरीप्रचारिणी सभा के पुस्तकालय में है। संवत् १८९३ में फोर्ट विलियम कालेज टूट गया था। अतएव उसके पूर्व ही उनका घर लौट आना संभव जान पड़ता है। अब तक इनके एक ही ग्रंथ का पता लगा है।

सन् १९०१ में कलकत्ते की एशियाटिक सोसाइटी के पुस्तकालय में रक्षित हस्तलिखित हिंदी पुस्तकों की जाँच करते हुए मुझे उनकी अनुवादित चंद्रावती अथवा नासिकेतोपाख्यान की एक प्रति प्राप्त हुई थी। उस प्रति के आधार पर उसे संपादित कर मैंने नागरीप्रचारिणी ग्रंथमाला में प्रकाशित करवाया था। इस बात को २४ वर्ष हो चुके। अब सभा उसका दूसरा संस्करण प्रकाशित करनेवाली है।

पंडित सदल मिश्र की भाषा प्रौढ़ और परिमार्जित है और उसमें वह शिथिलता या अस्थिरता नहीं है, जो लल्लूजी लाल के प्रेमसागर में देख पड़ती है।

सैयद इंशाअल्लाह खाँ के पूर्वज समरकंद के एक प्रतिष्ठित वंश के थे। ये लोग पहले कश्मीर में आकर रहे और फिर वहाँ से दिल्ली आए। वहाँ शाही दरबार में इन लोगों का अच्छा मान हुआ। इंशा-

उल्ला खाँ के पिता माशाअल्लाह खाँ अच्छे कवि और हकीम थे। यथा समय वे भी अपने पूर्व पुरुषों की भाँति तत्कालीन बादशाह के दरबार में हकीम नियत हुए। पर उस समय चगताई वंश की शक्ति क्षीण हो चुकी थी; अतएव माशाअल्लाह खाँ ने दिल्ली छोड़कर मुर्शिदाबाद जा बसने की ठानी। वहाँ के नवाब के यहाँ उनका अच्छा आदर हुआ। नवाब सिराजुद्दौला का नाम इतिहास-प्रसिद्ध है। वही उस समय बंगाल के अधिकारी थे। उनके दरबार में विद्वानों और गुणीजनों का अच्छा आदर होता था। माशाअल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद में बस गए और आनंद से अपने दिन बिताने लगे। वहीं इनके पुत्र इंशाअल्लाह खाँ का जन्म हुआ। बालक इंशाअल्लाहखाँ का स्वभाव चंचल और बुद्धि तीव्र थी। पिता से शिक्षा पाकर ये छोटी अवस्था में ही कविता करने लग गए थे। जब बंगाल में राजनीतिक अवस्था चिंताजनक हुई, तब सैयद इंशा-अल्लाह खाँ मुर्शिदाबाद से दिल्ली चले आए। उस समय दिल्ली के राज-सिंहासन पर शाह आलम विराजते थे। यद्यपि वे धन और शक्तिहीन थे, नाम मात्र के बादशाह रह गए थे, तथापि उनको काव्य से प्रेम था। वे स्वयं कविता करते थे और गुणी कवियों का आदर भी करते थे। उन्होंने इंशाअल्लाह खाँ को अपने दरबार में रख लिया। इंशाअल्लाहखाँ बड़े विनोदप्रिय थे। वे केवल कविता ही नहीं करते थे, बल्कि समय समय पर विनोदमय कहानियाँ भी रचकर दरबार में सुनाया करते थे जिससे उनकी बहुत कुछ पूछ रहती; और मान-मर्यादा की भी कमी न थी। पर यह सब मान मर्यादा खोखली थी। दिल्लीपति शाह आलम धनहीन होने के कारण इनकी यथेष्ट आर्थिक सहायता नहीं कर सकते थे; इसलिये इन्हें प्रायः अर्थ-कष्ट बना रहता था। निदान इन्हें अपने कष्टों की निवृत्ति के लिये किसी दूसरे दरबार का आश्रय लेने की आवश्यकता अनिवार्य हो गई। उस समय अवध के नवाब आसफुद्दौला के दान और उदारता की चर्चा

चारों ओर फैल रही थी। 'जिसको न दे मौला, उसे दे आसफुद्दौला' तक लोग प्रायः कहा करते थे। सैयद साहब ने भी इसी दरबार का आश्रय लेने का निश्चय किया। ये लखनऊ आए और नवाब साहब की सेवा में उपस्थित हुए। क्रमशः इनका मान बढ़ने लगा। कुछ समय के अनंतर एक दिन यों ही हँसी हँसी में इनमें और नवाब साहब में कुछ मनमुटाव हो गया। तब से ये दरबार छोड़ एकांतवास करने लगे। सात वर्ष एकांतवास में बिता संवत् १८७३ में ये स्वर्ग को सिधारे।

सैयद इंशाउल्लाह खाँ फारसी और अरबी भाषाओं के अच्छे ज्ञाता थे। आपने उर्दू में भी कविता की है। प्रांतीय बोलियों से भी आप भली भाँति परिचित थे और कभी कभी उसका प्रयोग भी कर लेते थे; जैसे "झाड़ू मियाँ को भुइँ पै पटकिस घुमाय के।" जिस समय सैयद साहब लखनऊ में थे, उस समय आपने रानी केतकी की कहानी लिखी। ऐसा अनुमान होता है कि यह कहानी १८५६ और १८६६ के बीच में लिखी गई होगी। इस कहानी के लिखने का उद्देश्य तो यह था कि एक ऐसी रचना की जाय जिसमें 'हिंदी की छुट और किसी बोली की पुट न मिले' और 'हिंदवीपन भी न निकले और भाखापन भी न हो'। इस उद्देश्य से प्रेरित हो सैयद इंशाउल्लाह खाँ ने इस कहानी की रचना की और उसमें उन्हें अच्छी सफलता प्राप्त हुई। पहले तो कहानी मौलिक है, किसी की छाया नहीं है और न किसी के आधार पर लिखी गई है। कहने का ढंग भी चित्ताकर्षक और मनोहर है। जहाँ तहाँ उसमें कविता भी दी गई है, पर वह उच्च कोटि की नहीं। सब से बढ़कर बात जो इस कहानी में है, वह उसकी भाषा है। एक तो अरबी, फारसी और उर्दू के विद्वान् होने पर भी आपने ठेठ हिंदी में रचना की जो आपकी कुशलता प्रमाणित करती है। दूसरे इस बात को ध्यान में रखना चाहिए कि अब तक

हिंदी गद्य का कोई स्वरूप निश्चित नहीं हुआ था। लल्लूजी लाल, सदल मिश्र और इंशाउल्लाह खाँ ये इसके प्रथम आचार्य, इसके स्वरूप की नींव रखनेवाले तथा हिंदी साहित्य के लिये एक नए पथ के प्रदर्शक हुए हैं। तीनों महानुभाव समकालीन थे और तीनों की रचनाएँ भी लगभग एक ही समय में हुईं; पर लल्लूजी लाल के लिये चतुर्भुजदास का भागवत और सदल मिश्र के लिये संस्कृत का नासिकेतोपाख्यान उपस्थित था। इंशाउल्लाह खाँ के लिये ऐसा कोई आधार न था। लल्लूजी लाल की भाषा अपनी अस्थिरता का प्रत्यक्ष प्रमाण दे रही है। न शब्दों का रूप ही निश्चित हुआ है और न व्याकरण संबंधी नियमों का निर्धारण होकर प्रयोगों में स्थिरता ही आई है। तुकबंदी, अनुप्रास और कवितामय भाषा उनकी विशेषताएँ हैं। सदल मिश्र की भाषा लल्लू जी लाल की भाषा से अधिक पुष्ट और परिमार्जित है। स्वभावतः इसे लल्लूजी लाल की रचना के पीछे का होना चाहिए था। यदि लल्लूजी लाल के प्रेमसागर रचने का समय तथा सदल मिश्र के नासिकेतोपाख्यान के निर्माण का समय न दिया होता और केवल दोनों की भाषा को ही आधार मान कर उनके रचना-कालों का निश्चय करना होता, तो इस परीक्षा में लल्लूजी लाल पहले के और सदल मिश्र पीछे के माने जाते। पर वास्तव में दोनों समकालीन थे और दोनों के ग्रंथ भी लगभग एक ही समय में रचे गए। लल्लूजी लाल का प्रेमसागर संवत् १८६६ में पूरा होकर प्रकाशित हुआ, यद्यपि उसका बनना संवत् १८६० में आरंभ हो गया था। सदल मिश्र का नासिकेतोपाख्यान संवत् १८६० मे बना। सारांश यह कि दोनों के ग्रंथ एक ही समय में बने, दोनों ने एक ही स्थान में नौकरी करके यह काम किया। फिर भी एक की भाषा में प्रौढ़ता है, दूसरी में अस्थिरता है। अवश्य ही इसका कोई कारण होना चाहिए। मेरी समझ में लल्लू जी लाल कोई बड़े विद्वान्

नहीं थे। उन्होंने चतुर्भुजदास का अनुकरण बहुत अधिक किया और वे उनकी भाषा के प्रभाव में बेतरह पड़ गए हैं। सदल मिश्र पंडित थे और उन्होंने अपनी शक्ति पर भरोसा करके रचना की। इस दृष्टि से सदल मिश्र का आसन लल्लू जी लाल से ऊँचा है।

इंशाअल्लाह खाँ का ढंग निराला है। यद्यपि उन्होंने प्रतिज्ञा तो यह की थी कि हिंदवीपन भी न निकले, भाखापन भी न हो, पर वे कहाँ तक इसके पूरा करने में सफल हो सके हैं, यह विचारणीय है। इसका निर्णय 'हिंदवीपन' और 'भाखापन' इन दो शब्दों के अर्थों पर निर्भर करता है। अवश्य ही ये दोनों शब्द समानार्थक नहीं हैं। मेरा अनुमान है कि 'हिंदवीपन' से सैयद साहब का तात्पर्य यही था कि हिंदी के शब्दों का ही प्रयोग हो, फारसी और अरबी आदि विदेशी भाषाओं से शब्दों की मिलावट न हो। भाषापन से उनका अर्थ यही हो सकता है कि प्रांतीय बोलियों जैसे ब्रजभाषा या अवधी आदि के व्याकरण का अनुकरण न किया जाय। खड़ी बोली में अभी तक गद्य की रचना आरंभ नहीं हुई थी। संभव है कि लल्लूजी लाल और सदल मिश्र की रचनाओं का सैयद इंशाअल्लाह खाँ को अभी तक पता भी न चला हो। अतएव सैयद साहब ने अपनी रचना के लिये जो दो प्रतिबंध स्वयं अपने ऊपर आरोपित कर लिए थे, उनका यही भाव था कि विदेशी शब्दों का प्रयोग न हो और वाक्यों की रचना वैसी न हो, जिसे हम लोग उर्दूपन कहते हैं।

यद्यपि उर्दू की जननी हिंदी की खड़ी बोली है, पर बहुत ग्रंथों में अब यह दिनों दिन स्वतंत्र होती जा रही है। उर्दू की उत्पत्ति का मुख्य कारण राजनीतिक स्थिति है। इसका आकार प्रकार तो आरंभ में सर्वथा खड़ी बोली का था; अर्थात् उर्दू का व्याकरण खड़ी बोली के अनुसार था और उसमें उसी के नियमों का अनुशासन माना जाता था, पर शब्दों के लिये कोई प्रतिबंध नहीं था। हिंदी, तुर्की,

अरबी, फारसी सब भाषाओं के शब्द जो साधारणतः समझ में आ सकते थे, प्रचुरता से प्रयुक्त होते थे। राजाश्रय पाकर इस भाषा ने क्रमशः उन्नति की ओर मुसलमानों से पाली पोसी जाकर तथा उसके आदर और स्नेह की भाजन होकर इसने उनका अनुकरण करने में ही अपने जीवन का साफल्य समझा। क्रमशः फारसी प्रयोगों का इसमें प्रवेश होने लगा और इस उपाय से यह अपना व्यक्तित्व स्वतंत्र करने के उद्योग में लगी। इस समय हिंदी और उर्दू का विभेद चार बातों में स्पष्ट देख पड़ता है—

(१) उर्दू में अरबी फारसी के शब्दों का तत्सम रूप में अधिकता से प्रयोग।

(२) उर्दू पर फारसी के व्याकरण का बढ़ता हुआ प्रभाव, जैसे बहुवचन का रूप प्रायः फारसी के अनुसार होता है।

(३) संबंध, करण, अपादान और अधिकरण कारकों की विभक्तियाँ हिंदी के अनुसार न होकर फारसी के शब्दों या चिह्नों द्वारा प्रदर्शित की जाती हैं।

(४) वाक्य-विन्यास का ढंग उलटा हो रहा है। हिंदी में पहले कर्त्ता, तब कर्म और अंत में क्रिया होती है, पर उर्दू में इस क्रम में उलट फेर होता है।

इस आधुनिक अवस्था को जब हम इंशाउल्लाह खाँ की रचना से मिलाते हैं, तब हमें यह विदित होता है कि इस पृथक्ता का सूत्रपात उसी समय हो गया था, यद्यपि उसने इतनी स्पष्टता नहीं धारण की थी। ऊपर जिन चार विभेद-सूचक बातों का उल्लेख किया गया है, उनमें से पहली तीन बातें तो इंशाउल्लाह खाँ की कृति में नहीं मिलतीं, पर चौथी का आरंभ स्पष्ट देख पड़ता है। अतएव हमें यह कहने में संकोच नहीं है कि इंशाउल्ला खाँ की भाषा शैली उर्दू ढंग की है। पर साथ ही हमें यह मानने में कुछ भी संकोच नहीं है कि लल्लूजी लाल

तथा सदल मिश्र की अपेक्षा इनकी भाषा-शैली मनोहर है। हिंदी और उर्दू के गद्य में वैसा ही अंतर है, जैसा एक प्रौढ़ा स्त्री तथा एक रूपगर्विता नवयौवना में होता है। हिंदी में वह चपलता, चंचलता, इतराना, इठलाना नहीं देख पड़ता जो उर्दू में देख पड़ता है। मुसलमानी दरबार का आश्रय पा और अपने उपासकों की स्नेह-भाजन हो उर्दू का ऐसा न करना आश्चर्य की बात होती। भाषा मनुष्य की अंतरात्मा का बाह्य रूप है। जैसे मन में भाव होते हैं, जैसी अंतरात्मा की स्थिति होती है, वैसी ही भाषा भी होती है। इसलिये यदि हम उर्दू गद्य में उस चंचलता के लक्षण पाते हैं, जो मुसलमानी दरबार में आने जानेवाली मुसलमान कामिनियों के लिये आवश्यक और अनिवार्य है, तो इसमें आश्चर्य करने की कोई बात नहीं है। सैयद इंशाअल्लाह खाँ की भाषा-शैली भी उर्दू गद्य के सवा सौ वर्ष पुराने रूप का एक बहुत अच्छा उदाहरण है। यद्यपि अधिकांश शब्द ठेठ हिंदी के हैं, पर उर्दू मुहावरों का अधिकता से प्रयोग हुआ है; और तुकबंदियों ने तो सैयद साहब को बेतरह घेर रखा है। सारांश यह कि सैयद इंशाअल्लाह खाँ की पुस्तक हिंदी और उर्दू दोनों भाषाओं के पृष्ठ-पोषकों के लिये समान आदर की वस्तु है और हिंदी गद्य की विकास-लड़ी की एक सुंदर और चमकती हुई कड़ी है।

ईंशाअल्ला खाँ की भाषा में एक विशेषता है जिसे जान लेना आवश्यक है। आधुनिक हिंदी और उर्दू में कृदंत क्रियाओं और विशेषणों का प्रयोग होता है, पर उनमें वचनसूचक चिह्न नहीं रहते। पुरानी उर्दू में यह बात नहीं थी। उसमें वचनसूचक चिह्नों का प्रयोग होता था। इंशाअल्ला खाँ ने भी ऐसे ही प्रयोग किए हैं, जैसे आतियाँ जातियाँ जो साँसें हैं। पासलियाँ बहलातियाँ हैं, इत्यादि। मेरी समझ में यह प्रभाव पंजाबी के कारण पड़ा है जिसमें अब तक ऐसे प्रयोग होते हैं।

मुंशी इंशाअल्लाह खाँ की कहानी को पहले पहल राजा शिवप्रसाद ने अपने गुटके के तीसरे भाग में छापा था। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, इसका कोई स्वतंत्र संस्करण अब तक प्रकाशित नहीं हुआ है। जब मैं लखनऊ में था, तब मुझे इसकी एक हस्त-लिखित प्रति तथा फारसी अक्षरों में छपी हुई एक प्रति प्राप्त हुई थी जिसके आधार पर काशी नागरीप्रचारिणी सभा इसका एक संस्करण प्रकाशित करनेवाली है।

ऊपर जो कुछ लिखा गया है, उसमें स्पष्ट है कि आधुनिक हिंदी गद्य के प्रथम आचार्य इंशा उल्लाह खाँ, लल्लूजी लाल और सदल मिश्र हैं। लल्लूजी लाल और सदल मिश्र तो फोर्ट विलियम कालेज में नौकर थे और इंशा उल्लाह खाँ लखनऊ के नवाब सआदतअली खाँ के दरबारियों में थे। इंशाअल्लाह खाँ की भाषा में उर्दूपन के आरंभिक रूप के दर्शन होते हैं, जब तक कि उर्दू हिंदी से अलग नहीं हुई थी और न अलग होने के उद्योग में ही लगी थी। लल्लू जी लाल की हिंदी पर चतुर्भुजदास की ब्रज भाषा का पुट चढा हुआ है और वह अपेक्षाकृत अस्थिर और अपरिमार्जित है। सदल मिश्र की हिंदी लल्लूजी लाल की हिंदी की अपेक्षा अधिक प्रौढ और परिमार्जित है। अतएव भाषा की दृष्टि से विवेचन करने पर आचार्यों में पहला स्थान इंशा-उल्लाह खाँ, दूसरा सदल मिश्र और तीसरा लल्लूजी लाल को मिलना चाहिए।

---

(२) अपभ्रंश भाषा

[लेखक—बाबू सत्यजीवन वर्मा एम० ए०, काशी]

प्राकृत के पश्चात् हमारी भाषा 'अपभ्रंश' के रूप में परिणत हुई। अपभ्रंश को लोग प्राकृत और आधुनिक आर्य्य भाषाओं के मध्य की अवस्था मानते हैं। 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग भाषा विशेष के लिये ईसवी छठी शताब्दी से होने लगा। इसके पूर्व इस शब्द का अर्थ 'भ्रष्ट', 'च्युत' या 'विकृत' था। उपर्युक्त अर्थ में पहले पहल 'अपभ्रंश' शब्द का प्रयोग महाभाष्यकार महर्षि पतंजलि ने किया है। आप लिखते हैं—

"एकै कस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशा। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी, गोणी, गोता, गोपोतालिकेत्यवमादयोऽपभ्रंशाः।"

अर्थात् एक एक शब्द के अनेक अपभ्रंश होते हैं। जैसे 'गौ' शब्द का 'गावी' 'गोणी' 'गोता' 'गोपोतालिका' इत्यादि अपभ्रंश होते हैं।

'गौ' शब्द के ये भिन्न भिन्न रूप प्राकृत में पाए जाते हैं। इससे स्पष्ट है कि पतंजलि का तात्पर्य्य 'अपभ्रंश' से केवल वही है जो हम 'भ्रष्ट' से समझते हैं। यहाँ संस्कृत 'गौ' शब्द के अनेक 'भ्रष्ट' या 'विकृत' प्राकृत रूपों को पतंजलि ने 'अपभ्रंश' कहा है।

महर्षि पतंजलि का समय ईसा के पूर्व दूसरी शताब्दी माना जाता है। इनके पश्चात् ईसवी दूसरी या तीसरी शताब्दी में वर्तमान 'नाट्य शास्त्र' के रचयिता भरत मुनि ने ठीक उपर्युक्त अर्थों में 'विभ्रंश' या 'विभ्रष्ट' शब्द का व्योवहार किया है। भरत मुनि ने 'विभ्रष्ट' या 'विभ्रंश' शब्द का प्रयोग उसी अर्थ में किया है, जिस अर्थ में

आगे चलकर 'तद्भव' शब्द का प्रयोग हुआ है। भाषा के विषय में लिखते समय भरत मुनि लिखते हैं कि इसमें तीन प्रकार के शब्द होते हैं—समान शब्द-(तत्सम), विभ्रष्ट (तद्भव) और देशी *।

भरत मुनि के समय में 'अपभ्रंश' नाम की कोई भाषा नहीं थी; पर जिस भाषा का आगे चलकर अपभ्रंश नाम पड़ा, वह अवश्य वर्तमान थी जो 'देशी' भाषाओं के अंतर्गत मानी जाती थी। 'देशी' भाषाओं के लिये एक दूसरा नाम 'विभाषा' भी था। नाट्य शास्त्र में भरत मुनि आठ भाषाओं का उल्लेख करते हैं, जिन में सात तो 'भाषाएँ' हैं और एक 'विभाषा' जिसके अन्तर्गत कई वनचर जातियों की बोलियाँ आती हैं †। 'भाषा' के अंतर्गत, मागधी, अवन्तिका, प्राच्या, शौरसेनी, अर्धमागधी, वाह्लीका और दाक्षिणात्य आदि सात प्राकृत और 'विभाषा' के अंतर्गत शबर, आभीर, चाण्डाल, द्रविड़, उड्र आदि वनचर जातियों की हीन भाषाएँ हैं।

दण्डी के समय में 'अपभ्रंश' भाषा का संबंध आभीर आदि जातियों से था; क्योंकि 'काव्यादर्श' में दण्डी लिखते हैं—"आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।" इससे प्रकट है कि उस समय‡ अपभ्रंश उस भाषा विशेष का नाम था जो आभीर आदि जातियाँ बोलती थीं। दण्डी के लिखने से पता चलता है कि अपभ्रंश का प्रयोग उस समय 'साहित्य' में होता था।

---

* त्रिविधं तच्च विज्ञेय नाट्ययोगे समासतः।
समान शब्दैः, विभ्रष्ट, देशीमतथापि वा ॥ १७-२

† मागध्यवन्तिजा प्राच्या शूरसेन्यर्धमागधी।
वाह्लीका दाक्षिणात्या च सप्त भाषा प्रकीर्तिताः ॥ १७-४८
शबराभीर चाण्डाल सचर द्रविडोद्रजाः।
हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः। १७-४९

‡ दण्डी का समय विवादग्रस्त है; पर उन्हें ८ वीं शताब्दी में मान सकते हैं। (देखो—ना० प्र० पत्रिका भाग ५, अंक २)

'अपभ्रंश' शब्द का भाषा विशेष के लिये पहले पहल प्रयोग वल्लभी * के नृप धारसेन द्वितीय के एक शिलालेख में मिलता है। अपने पिता गुहसेन के विषय में लिखते हुए वह लिखता है–'वह संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश तीनों भाषाओं में काव्य रचने में प्रवीण था।' गुहसेन के शिला-लेख ईसवी ५५९ और ५६९ के मिले हैं; अतः यह निश्चय है कि छठी शताब्दी में अपभ्रंश भाषा में काव्य रचे जाते थे।

इसके पश्चात् प्रायः सभी साहित्य-शास्त्रकारों ने साहित्य के संबंध में अपभ्रंश की चर्चा की है। छठी शताब्दी के अन्त में भामा लिखता है—"काव्य दो प्रकार के होते हैं–गद्य और पद्य। इनकी रचना तीन प्रकार से होती है। संस्कृत में, प्राकृत में और अपभ्रंश में।"

आठवीं शताब्दी में दण्डी के समय में 'अपभ्रंश' भाषा में काव्य अच्छी तरह से रचे जाते थे। नवीं शताब्दी में वर्तमान रुद्रट लिखता है कि भाषा के आधार पर काव्य के छः भेद होते हैं–संस्कृत, प्राकृत, मागध, पैशाच, शौरसेनी और अपभ्रंश। अपभ्रंश के विषय में वह लिखता है कि देशानुसार इसके अनेक भेद होते हैं।

राजशेखर ने, जो नवीं शताब्दी के अन्त में हुआ है, अपनी काव्य-मीमांसा में अपभ्रंश का कई स्थानों पर उल्लेख किया है। काव्य-पुरुष की रचना करते समय उसने अपभ्रंश को उसका जघन † कहा है। आगे चलकर वह कहता है कि अपभ्रंश का प्रचार सार, मरुप्रदेश, टक्क और भदानक प्रदेश में है ‡। इससे पता चलता है उस समय अपभ्रंश का प्रचार अधिकतर मरु (मारवाड़), टक्कर (पूर्व पंचनद) और भदानक (?) में था।

---

*. काठियावाड़ (वल्लभी)

† जघनमपभ्रंशः।—काव्यमीमांसा, पृ० ६।

‡ सापभ्रंश प्रयोगाः सकल मरुभुवष्टक्क भादानकाश्च। (काव्य० मी०)

इससे हम यह नहीं कह सकते कि उन प्रदेशों ही में अपभ्रंश* भाषा बोली जाती थी। राजशेखर का तात्पर्य्य केवल यही है कि उस समय उन प्रदेशों के साहित्य में अपभ्रंश का प्रचार था। अपभ्रंश भाषा उस समय मरी नहीं थी, वरन् निम्न श्रेणी के लोग उसे बहुतायत से बोलते थे।

राजशेखर लिखता है—'राजा के नौकर अपभ्रंश भाषा में प्रवीण होने चाहिएँ'। नौकरों ही के द्वारा राजा साधारण लोगों के दुःखों को जान सकता है; अतः यह आवश्यक है कि नौकर उस भाषा को जानें जिसे साधारण लोग बोलते हैं। संभवतः राजशेखर ने इसी विचार से राजा के नौकरों के लिये यह नियम रखा है। आगे चलकर राजसभा में बैठने का नियम बताते समय राजशेखर लिखता है—"पश्चिम की ओर अपभ्रंश के कवि बैठें। उनके पीछे दीवार रँगनेवाले, जड़िए, जौहरी, सोनार, बढ़ई, लोहार और इसी प्रकार के अन्य लोग बैठें।" † इस से जान पड़ता है कि उन कामों के करनेवाले लोग अपभ्रंश भाषा बोलते थे; इसी लिये उनका अपभ्रंश कवियों के निकट बैठना उचित था।

ईसवी ११ वीं शताब्दी के मध्य में नेमसाधु ने काव्यालंकार की टीका की। अपभ्रंश के विषय में वह लिखता है—"अपभ्रंश भी प्राकृत है। लोगों ने इसके तीन भेद कहे हैं—उपनागर, आभीर और ग्राम्य। देशानुसार इसके कई भेद होते हैं जिसके लक्षणों का 'लोक' (प्रचलित) भाषा से पता चल सकता है।" ‡ इससे पता लगता है

---

* अपभ्रंश भाषाप्रवण परिचारक वर्गः—(का० मी०)

† पश्चिमेनापभ्रंशिनः कवयः। ततः परं चित्रलेप्यकृतो माणिक्यबन्धका वैकटिकाः स्वर्णकारवर्द्धकि लोहकारा अन्येऽपि तथाविधः। (का० मी० पृ० ५४—५)

‡ देखो रुद्रट कृत काव्यलंकार (काव्यमाला २—१, १५।)

कि उस समय अपभ्रंश के कई भेद माने जाते थे और वह लोक-भाषा थी। आधुनिक भाषाओं का उस समय पूर्ण रूप से विकास नहीं हुआ था और उस समय भी अपभ्रंश साधारण लोगों में बोलचाल की भाषा थी। अब यह बात स्पष्ट हो जाती है कि अपभ्रंश भाषा का अस्तित्व भारतवर्ष में ईसवी द्वितीय या तृतीय शताब्दी से लेकर ११ वीं शताब्दी तक था।

उत्पत्ति और प्रचार

अपभ्रंश भाषा का आभीर जाति से घनिष्ट संबंध है। दण्डी ने काव्यादर्श में आभीर आदि जातियों की भाषा को अपभ्रंश कहा है *। आगे चलकर ११ वीं शताब्दी में नैमसाधु ने अपभ्रंश के उपभेदों में आभीरी को एक भेद माना है। भरत मुनि के समय में यद्यपि अपभ्रंश नाम की कोई भाषा नहीं थी, पर विभाषा के अन्तर्गत नाट्यशास्त्र में उन्होंने जिन जातियों की भाषाओं को रखा है, उन में आभीर जाति की भाषा आभीरी भी है। यह उस समय आभीरोक्ति † कहलाती थी। भरत मुनि लिखते हैं—"हिमालय, सिंधु और सौवीर के आसपास के प्रदेशों की भाषा में उकार का अधिक प्रयोग होता है।" ‡ उकार की प्रचुरता अपभ्रंश का मुख्य लक्षण है। इस से यह प्रकट होता है कि ईसवी द्वितीय या तृतीय शताब्दी में सिंधु, सौवीर और उत्तरीय पंचनद (पंजाब) प्रदेशों में ऐसी भाषा का प्रचार था जो अपभ्रंश से बहुत कुछ मिलती जुलती थी।

---

* आभीरादिगिरः काव्येष्वपभ्रंश इति स्मृताः।

† शावराभीरचाण्डालसचरद्रविडोद्रजाः। हीना वनेचराणां च विभाषा नाटके स्मृताः॥ — [as printed:] शाबाभ्रजाविकौष्ट्रादिघोषस्थलनिवासिनाम्।
आभीरोक्तिः— नाट्य शास्त्र ५५.

‡ हिमवत्सिन्धु सौवीरान्ये च देशाः समाश्रिताः।
उकार बहुलां तज्ज्ञस्तेषु भाषां प्रयोजयेत् ॥ ६२.

आभीर जाति का उल्लेख महाभारत में मिलता है। जब अर्जुन कृष्ण की विधवाओं को लेकर द्वारका से लौट रहे थे, उस समय आभीरों ने ही उन पर पंचनद में आक्रमण किया था। आभीरों को 'आर्य्य' लोग अनादर की दृष्टि से देखते थे। मनुस्मृति में उन्हें ब्राह्मण पिता और अम्बष्ट माता से उत्पन्न माना है *। जान पड़ता है कि आभीर ईसवी शताब्दि के प्रारंभ में पंचनद में बसते थे। उनका काम गाय, ऊँट, घोड़े आदि इधर उधर चराते फिरना था। इसके लिये पंजाब की विस्तृत उर्वरा भूमि अत्यन्त उपयुक्त थी।

अपभ्रंश आभीरों की निज की भाषा न थी, वरन् उनके उच्चारण से जो स्थानीय प्राकृत का परिवर्तित रूप हुआ, वही पीछे से अपभ्रंश कहलाया। आभीर के पीछे आए हुए विदेशीय थे। आर्य्यावर्त में बस जाने पर उन्होंने स्थानीय प्राकृतों को बोलना आरंभ किया; पर एक नवीन भाषा का वे ठीक ठीक उच्चारण नहीं कर सकते थे। अतः आभीरों द्वारा प्राकृत का एक नवीन अपभ्रंश रूप प्रकट हुआ जो कालान्तर में 'अपभ्रंश' के नाम से प्रसिद्ध हुआ।

आभीर जाति क्रमशः प्रभुता प्राप्त करती गई। ईसवी सन् १८१ में क्षत्रप रुद्रसिंह के समय में उसके सेनापति के आभीर होने का उल्लेख मिलता है। सन् ३०० में शिवदत्त का पुत्र ईश्वरसेन जो नासिक का शासक था आभीर था।

इलाहाबाद के स्तंभ पर खुदे हुए समुद्रगुप्त के लेख (ईसवी ३६० का) से पता चलता है कि आभीर और मालव जाति राजस्थान, मालव और गुप्त साम्राज्य के दक्षिण-पश्चिम और पश्चिम को सीमा पर शासन करती थी। इससे पता चलता है कि क्रमशः आभीर जाति प्रबल होती गई और उसका विस्तार धीरे धीरे पूर्व और दक्षिण की ओर होता गया। आठवीं शताब्दी में जब 'काठी' लोगों ने सौराष्ट्र पर

* ब्राह्मणात्......आभीरोम्बष्ठ कन्यायाम्। अध्याय १०—१५

आक्रमण किया, उस समय वह देश आभीरों के अधिकार में था। मिरजापुर में 'अहिरोरा' और झाँसी में 'अहिरवार' स्थान अभी तक प्रसिद्ध हैं। ये निश्चय ही प्राचीन समय में आभीरों या अहीरों के अधिकार में रहे होंगे। यदि हम फरिश्ता का विश्वास करें तो खानदेश में प्रसिद्ध दुर्ग असीरगढ आसा नामक अहीर का बनवाया है।

आभीर जाति ज्यों ज्यों पूर्व और दक्षिण की ओर बढ़ती गई, वह वहाँ की प्रचलित प्राकृतों को बोलने लगी। यही कारण है कि पीछे के वैयाकरणों ने अपभ्रंश के कई भेद लिखे हैं। राजशेखर (ईसवी ९ वीं शताब्दि) के समय में अपभ्रंश का बहुतायत से प्रयोग मारवाड़, टक्क (पूर्व पंजाब) और भदानक प्रदेशों में होता था। वह काव्य मीमांसा में लिखता है कि सौराष्ट्र और त्रवण (पश्चिमीय राजपूताना)* के लोग संस्कृत पढ़ सकते हैं, पर उसमें अपभ्रंश का मिश्रण रहता है †। इससे पता चलता है कि सौराष्ट्र (काठियावाड़) और त्रवण (पश्चिमी राजपूताना) में भी अपभ्रंश का उस समय प्रचार था। ११ वीं शताब्दी में नैमसाधु के लिखने से पता चलता है कि "आभीरी अपभ्रंश भाषा है और कहीं कहीं देखी जाती है।" ‡ अतः यह निश्चय है कि आभीर जाति के विस्तार के साथ साथ अपभ्रंश भाषा भी फैलती गई।

अनुमानतः ईसवी पाँचवीं शताब्दी के लगभग 'अपभ्रंश' का प्रयोग साहित्य में होने लगा। बलभी नृप के शिलालेख से इस बात की पुष्टि होती है कि छठी शताब्दी के मध्य में संस्कृत और प्राकृत की भाँति अपभ्रंश में भी काव्य की रचना होती थी। पीछे अपभ्रंश का साहित्य बढ़ता गया और ११ वीं शताब्दी में इसमें प्रचुरता से साहित्य

* देखो नागरीप्रचारणी पत्रिका भाग २, अंक १, पृ. १३ नोट।

† सुराष्ट्रत्रवणाद्या ये पठन्त्यर्पित सौष्ठवम्।
अपभ्रंशावदंशानि ते संस्कृत वचांस्यपि ॥ काव्यमीमांसा पृ० ३४

की रचना होती थी। पीछे आधुनिक भाषाओं का जोर बढ़ा और इन्हीं में साहित्य की रचना होने लगी।

अपभ्रंश और प्राकृत वैयाकरण।

वररुचि, जिनका समय ईसवी तृतीय शताब्दी मानना अनुचित न होगा, अभी तक प्राकृत वैयाकरणों में सब से प्राचीन माने जाते हैं। इनके 'प्राकृत-प्रकाश' में अपभ्रंश का कहीं उल्लेख नहीं है। इसका कारण यही जान पड़ता है कि उस समय अपभ्रंश साहित्य की भाषा नहीं हुई थी। साहित्य के पश्चात् ही व्याकरणों की सृष्टि होती है, यह मानी हुई बात है।

चन्द ने प्राकृत-लक्षण में अपभ्रंश पर कई सूत्र लिखे हैं। चन्द का समय ईसवी छठी शताब्दी में मानना उचित है, यद्यपि हार्नलि (Hoernle) साहब इन्हें इसके बहुत पूर्व ले जाने का प्रयत्न करते हैं। हेमचन्द्र ने अपने सिद्धहैम व्याकरण में प्राकृत के साथ साथ अपभ्रंश पर भली भाँति लिखा है। केवल अपभ्रंश ही पर १२० सूत्र हैं। सब से बढ़ कर बात तो यह है कि उन्होंने अपभ्रंश के लगभग १०० दोहे उदाहरणस्वरूप दिए हैं। ये दोहे अन्य ग्रंथों से संकलित जान पड़ते हैं। ये बड़े काम के हैं। इनसे पता चलता है कि ९ वीं शताब्दि में अपभ्रंश का साहित्य विस्तृत रहा होगा।

हेमचन्द्र का समय ईसवी १२ वीं शताब्दी है। उनके पश्चात् त्रिविक्रम, लक्ष्मीधर, सिंधराज, और मार्कण्डेय आदि ने भी अपभ्रंश पर लिखा है। इनमें से त्रिविक्रम का प्राकृत-व्याकरण विशेष महत्व का है। यह 'सिद्धहैम' से बहुत कुछ मिलता है। लगभग ११७ सूत्र अपभ्रंश ही पर हैं। मार्कण्डेय का प्राकृतसर्वस्व बहुत ही आधुनिक है। ईसवी १७ वीं शताब्दी में उनका समय मानना उचित है *।

* देखो Introcudtion to 'भविसत्तकहा' edited by Gune and dalal (G. O. Series.)

इस समय तो आधुनिक भाषाओं का प्रचार था; अतः उनका लिखना विशेष महत्व का नहीं माना जा सकता।

उपसंहार

ऊपर के सारे कथन से निम्नलिखित बातों का पता चलता है—

(१) ईसवी शताब्दी के पूर्व 'अपभ्रंश' का संबंध किसी भाषा विशेष से न था। उसका अर्थ केवल 'भ्रष्ट' या 'च्युत' था।

(२) भरत मुनि के समय (ईसवी द्वितीय शताब्दी) में 'आभीरोक्ति' नाम की एक भाषा थी जो आगे चलकर 'अपभ्रंश' कहलाई।

(३) 'अपभ्रंश' भाषा का आभीर जाति से संबंध है।

(४) आभीर लोग धीरे धीरे पूर्व और दक्षिण की ओर फैले। पहले ये पंजाब में रहते थे।

(५) 'अपभ्रंश' शब्द भाषा के लिये पहले पहल छठी शताब्दी में हुआ। उसी समय इसमें साहित्य की भी रचना होने लगी।

(६) 'अपभ्रंश' में साहित्य की रचना ११ वीं शताब्दी के अंत तक होती थी; पीछे आधुनिक भाषाओं ने उसका स्थान ले लिया।

अतः अब निश्चय है कि अपभ्रंश भाषा का प्रचार भारतवर्ष में ईसवी द्वितीय शताब्दी से ग्यारहवीं शताब्दी तक था।

---

(४) भारतीय नाट्य-शास्त्र

[लेखक—बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०, काशी]

(१)

दृश्य काव्य—काव्य दो प्रकार के माने गए हैं—एक दृश्य और दूसरा श्रव्य। दृश्य काव्य वह है जिसमें नाट्य की प्रधानता हो, जो देखने से ही विशेष प्रकार से रस का संचार करने में समर्थ हो और जिसका अभिनय किया जा सके। इस प्रकार के काव्य को रूपक भी कहते हैं। इसका तात्पर्य यह है कि नाट्य करनेवाले नटों में वास्तविक नायक नायिका आदि का रूप आरोपित होता है; अर्थात् वे किसी दृश्य काव्य के पात्रों का रूप धारण करके सामाजिकों में यह भावना उत्पन्न करते हैं कि वे उन पात्रों से भिन्न व्यक्ति नहीं हैं। नाट्य से तात्पर्य नायक नायिका आदि के अनुकरण से है। यह अनुकरण चार प्रकार के अभिनयों द्वारा अनुकार्य और अनुकर्त्ता का एकता प्रदर्शित करने से पूर्ण होता है। वे अभिनय हैं—

(१) आंगिक—अर्थात् अंगो द्वारा सम्पादनीय; जैसे, चलना, फिरना, उठना, बैठना, लेटना आदि।

(२) वाचिक—अर्थात् वाणी से कहकर।

(३) आहार्य—अर्थात् वेष-भूषा धारण करके।

(४) सात्विक—अर्थात् सात्विक भावों को प्रदर्शित करके; जैसे हँसना, रोना, स्तंभ, रोमांच आदि।

श्रव्य काव्य मे जो स्थान शब्दों से वर्णित भिन्न भिन्न प्रकार के अनुभावों आदि का है, दृश्य काव्य में वही स्थान इन चारों प्रकार के अभिनयों के द्वारा प्रदर्शित अनुकरण का है। इन चारों प्रकार मे

किसी पात्र का अनुकरण करने से अभिनय देखनेवालों में यह भाव उत्पन्न हो जाता है कि जो कुछ हम देख रहे हैं, वह वास्तविक है, कल्पित नहीं। यदि इस प्रकार की प्रतीति उत्पन्न न कराई जा सके, तो यह कहना पड़ेगा कि अभिनय ठीक नहीं हुआ। पर इतने ही से अभिनय की इति-कर्तव्यता नहीं हो जाती। यह अनुकृति ऐसी होनी चाहिए कि उपर्युक्त प्रतीति के साथ ही साथ सामाजिकों में किसी न किसी प्रकार के रस का उद्रेक हो। बिना रस की निष्पत्ति के दृश्य काव्य का सुचारु रूप स्पष्ट नहीं हो सकता। मनुष्य के अंतःकरण में कुछ भाव वर्तमान रहते हैं जो प्रायः सुपुप्त अवस्था में होते हैं। अनुकूल स्थिति पाकर वे उद्दीप्त हो उठते हैं और सामाजिकों में रस का उद्रेक करते हैं। यह अनुकूल स्थिति ऊपर कहे हुए अनुकरण से उपस्थित हो जाती है। श्रव्य काव्य में इस स्थिति को उत्पन्न करनेवाले कारण केवल "शब्द" होते हैं; पर दृश्य काव्य में उन चारों अभिनयों के द्वारा नायक आदि की अवस्थाओं का प्रत्यक्ष अनुभव होता है। इसी लिये दृश्य काव्य अधिक और स्थायी प्रभाव उत्पन्न करने में समर्थ होता है। यही बात हम यों भी कह सकते हैं कि श्रव्य काव्य का आनंद लेने में केवल श्रवणेंद्रिय सहायक होती है; परन्तु दृश्य काव्य में श्रवणेंद्रिय के अतिरिक्त चक्षुरिंद्रिय भी सहायक होती है। चक्षुरिंद्रिय का विषय रूप है; और दृश्य काव्य के रसास्वादन में इसी इंद्रिय के विशेष सहायक होने से ऐसे काव्यों को रूपक कहना सर्वथा उपयुक्त है।

रूपक के उपकरण—नाट्य-शास्त्रकारों ने रूपक के सहायक या उपकरण नृत्य और नृत्त भी माने हैं। किसी भाव को प्रदर्शित करने के लिये व्यक्ति विशेष के अनुकरण को नृत्य कहते हैं। इसमें आंगिक अभिनय की अधिकता रहती है। लोग इसे नकल या तमाशा कहते हैं। अभिनय रहित केवल नाचने को नृत्त कहते हैं। जब इन दोनों के साथ गीत और कथन मिल जाते हैं, तब रूपक का पूर्ण रूप उपस्थित हो जाता

है। शास्त्रकारों का कहना है कि नृत्य भावों के आश्रित और नृत्त ताल तथा लय के आश्रित रहते हैं; पर रूपक रसों के आश्रित होते हैं। जिस प्रकार रसों का संचार करने में अनुभाव, विभाव आदि सहायक होते हैं, उसी प्रकार नाटकीय रस की परिपुष्टि में नृत्य और नृत्त आदि भी सहायक का काम देते हैं। इन्हीं बातों को ध्यान में रखकर रूपकों के दो भेद किए गए हैं—एक रूपक और दूसरे उपरूपक। रूपकों में रस की प्रधानता रहती है और उपरूपकों में नृत्य, नृत्त आदि की। नृत्य मार्ग (संपूर्ण देश में एक समान) और नृत्त देशी (भिन्न भिन्न देशों में भिन्न भिन्न प्रकार का) कहलाता है।

नृत्त के भेद—नृत्त दो प्रकार का होता है—तांडव और लास्य। तांडव का प्रधान गुण उद्धतता और लास्य का मधुरता है। लास्य के दस अंग कहे गए हैं—

(१) गेय-पद—वीणा, तानपूरा आदि यंत्रों को सामने रखकर आसन पर बैठे हुए पुरुष या स्त्री का शुष्क गान।

(२) स्थित-पाठ्य—मदन से संतप्त नायिका का बैठकर स्वाभाविक पाठ करना। कुछ लोगों के मत से मद्य तथा श्रांत स्त्री-पुरुषों का प्राकृत पाठ भी यही है।

(३) आसीन पाठ्य—शोक और चिंता से युक्त अभूषितांगी कामिनी का किसी बाजे के बिना बैठकर गाना।

(४) पुष्पगंडिका—बाजे के साथ अनेक छंदों में स्त्रियों द्वारा पुरुषों का, और पुरुषों द्वारा स्त्रियों का अभिनय करते हुए गाना।

(५) प्रच्छेदक—प्रियतम को अन्य नायिका में आसक्त जानकर प्रेम-विच्छेद के अनुताप से तप्तहृदया नायिका का वीणा के साथ गाना।

(६) त्रिगूढ़—स्त्री का वेष धारण किए हुए पुरुष का श्लक्ष्ण, मृदु मधुर नाट्य।

(७) सैंधव—किसी लक्ष्य विशेष पर स्थिर न होकर वीणा आदि के साथ प्राकृत गीत का सुव्यक्त गान।

(८) द्विगूढ़—वह गीत जिसमें सब पद सम और सुंदर हों, संधियाँ वर्तमान हों तथा रस और भाव सुसम्पन्न हों।

(९) उत्तमोत्तमक—कोप अथवा प्रसन्नता का जनक, आक्षेपयुक्त, रसपूर्ण, हाव और भाव से संयुक्त, विचित्र पद्य-रचना-युक्त गान।

(१०) उक्तप्रत्युक्त—उक्ति प्रत्युक्ति से युक्त, उपालंभ के सहित, अलीक (अप्रिय या मिथ्या) सा प्रतीत होनेवाला विलासपूर्ण अर्थ से सुसम्पन्न गान।

इस विवरण से यह स्पष्ट है कि संगीत शास्त्र में जिसे "नृत्य" कहते हैं, वह नाट्य शास्त्र में वर्णित नृत्य से भिन्न है।

रूपकों के तत्त्व—रूपकों के जो भेद और उपभेद किए गए हैं, वे तीन आधारों पर स्थित हैं; अर्थात् वस्तु, नायक और रस। इन्हीं को रूपकों के तत्त्व भी कहते हैं। हम इन तीनों तत्त्वों का यथाक्रम विवेचन करेंगे।

वस्तु-विवेचन—किसी दृश्य काव्य के कथानक को वस्तु कहते हैं। वस्तु दो प्रकार की होती है—(१) आधिकारिक और (२) प्रासंगिक। मूल कथावस्तु को आधिकारिक और गौण कथावस्तु को प्रासंगिक कहते हैं। प्रासंगिक कथावस्तु का उद्देश्य आधिकारिक कथावस्तु की सौंदर्य-वृद्धि करना और मूल कार्य या व्यापार के विकाश में सहायता देना है। रूपक के प्रधान फल का स्वामित्व अर्थात् उसकी प्राप्ति की योग्यता 'अधिकार' कहलाती है। उस फल का स्वामी अर्थात् उसे प्राप्त करनेवाला "अधिकारी" कहलाता है। उस अधिकारी की कथा को आधिकारिक वस्तु कहते हैं। इस प्रधान वस्तु के साधक इतिवृत्त को प्रासंगिक वस्तु कहते हैं; जैसे रामायण में रामचंद्र का चरित्र आधिकारिक वस्तु और सुग्रीव का चरित्र प्रासंगिक वस्तु है। प्रासंगिक वस्तु में दूसरे की अर्थ-सिद्धि होती है और प्रसंग

से मूल नायक का स्वार्थ भी सिद्ध होता है। प्रासंगिक कथावस्तु के दो भेद हैं—पताका और प्रकरी। जब कथावस्तु सानुबंध होती है अर्थात् बराबर चलती रहती है, तब उसे "पताका" कहते हैं; और जब वह थोड़े काल तक चलकर रुक जाती या समाप्त हो जाती है, तब उसे "प्रकरी" कहते हैं; जैसे शकुंतला नाटक के छठे अंक में दास और दासी की बातचीत है। उक्त वस्तु में चमत्कारयुक्त धारा-वाहिकता लाने के लिये पताका-स्थानक का प्रयोग किया जाता है।

पताका-स्थानक—जहाँ प्रयोग करनेवाले पात्र को कुछ और ही कार्य अभिलषित हो, परंतु सदृश संविधान अथवा विशेषण के कारण किसी नए पदार्थ या भाव के वश होकर कोई दूसरा ही कार्य हो जाय, अर्थात् जहाँ प्रस्तुत भाव एक हो और आगंतुक भाव कुछ और ही कार्य कर डाले, वहाँ "पताका-स्थानक" होता है। संक्षेप में इसका भाव यही है कि जहाँ करना कुछ हो, परंतु किसी कारण के अकस्मात् आ जाने से और ही कुछ करना पड़े, वहाँ अथवा उस कार्य को पताका स्थानक कहते हैं। साहित्य-दर्पणकार के अनुसार यह चार प्रकार का है—

(१) जहाँ किसी प्रेमयुक्त उपचार से सहसा कोई बड़ी इष्टसिद्धि हो जाय। जैसे, रत्नावली नाटिका में सागरिका वासवदत्ता का रूप धारण करके संकेत स्थान को गई थी। पर जब उसे यह ज्ञात हुआ कि वासवदत्ता पर यह भेद खुल गया, तब वह फाँसी लगाकर अपने प्राण देने को उद्यत हुई। उसी समय राजा वहाँ पहुँच गया और उस छद्मवेष-धारिणी सागरिका को वास्तविक वासवदत्ता समझ कर उसकी फाँसी छुड़ाने लगा। उसी समय उसकी बोली पहचान कर वह बोल उठा कि क्या यह मेरी प्रिया सागरिका है! यहाँ राजा का व्यापार वासवदत्ता को बचाने के लिये था, परंतु उसने वास्तव में बचाया सागरिका को जो उसे बहुत प्यारी थी। यह पहले प्रकार का पताका-स्थान है।

(२) जहाँ अनेक चतुर वचनों से गुंफित और अतिशय श्लिष्ट वाक्य हों, वहाँ दूसरे प्रकार का पताका-स्थानक होता है। जैसे वेणी-संहार नाटक में सूत्रधार कहता है—

रक्तप्रसाधितभुवः क्षतविग्रहाश्च ।
स्वस्था भवंतु कुरुराजसुताः सभृत्याः ॥

इस श्लोक का स्पष्ट भाव तो यही है कि जिन्होंने भूमि को अनुरक्त और विजित कर लिया है और जिनका विग्रह (झगड़ा) क्षत (नष्ट) हो गया है, वे कौरव अपने भृत्यों के साथ स्वस्थ हों। परंतु शब्दों के श्लिष्ट होने के कारण इस श्लोक का यह अर्थ भी होता है कि जिन्होंने (अपने) रक्त से पृथ्वी को प्रसाधित (रंजित) कर दिया है, रँग दिया है और जिनके विग्रह (शरीर) क्षत हो गए हैं, ऐसे कौरव स्वस्थ (स्वर्गस्थ) हों। यहाँ श्लेष से बीजभूत अर्थ (कौरवों के नाश) का प्रतिपादन होकर नायक का मंगल सूचित हुआ।

(३) जो किसी दूसरे अर्थ को सूचित करनेवाला, अव्यक्तार्थक तथा विशेष निश्चय से युक्त वचन हो और जिसमें उत्तर भी श्लेष-युक्त हो, वह तीसरा पताका-स्थानक है। जैसे वेणीसंहार नाटक में कंचुकी और राजा का यह संवाद—

कंचुकी—देव, भग्नम् भग्नम् ।
राजा—केन ?
कंचुकी—भीमेन ।
राजा—कस्य ?
कंचुकी—भवतः ।
राजा—आः किं प्रलपसि !
कंचुकी—(सभयम्) देव, ननु ब्रवीमि भग्नं भीमेन भवतः ।
राजा—धिग् वृद्धापसद, कोऽयमद्य ते व्यामोहः !
कंचुकी—देव, न व्यामोहः । सत्यमेव

'भग्नं भीमेन मवतो मरुता रथकेतनम् ।
पतितं किंणीकाणबद्धाक्रन्दमिव क्षितौ ॥'

इसमें कहा तो गया है वायु द्वारा पताका का उखाड़ा जाना, पर अस्पष्ट अक्षरों से दुर्योधन के उरुभंग का अर्थ सूचित होता है ।

(४) जहाँ सुंदर श्लेषयुक्त या द्व्यर्थक वचनों का विन्यास हो और जिसमें प्रधान फल की सूचना होती हो, वहाँ चौथा पताका-स्थानक होता है । जैसे रत्नावली नाटिका में राजा का यह कहना कि 'आज मैं इस लता को अन्य कामिनी के समान देखता हुआ देवी के मुख को क्रोध से लाल बनाऊँगा ।' यहाँ श्लेषयुक्त वाक्यों द्वारा आगे होने-वाली बात की सूचना दी गई है; अर्थात् यह सूचित किया गया है कि राजा का सागरिका पर प्रेम होगा और क्रोध से वासवदत्ता का मुख लाल हो जायगा । ये चारों पताका-स्थानक किसी संधि में मंगलार्थक और किसी में अमंगलार्थक होते हैं, किंतु होते सब संधियों में हैं ।

ऊपर के विवरण से स्पष्ट है कि पताका-स्थानक अवस्था या वचन के कारण निश्चित होते हैं । केवल पहले स्थानक में अवस्था का विपर्यय ही इसे उपस्थित करता है; परंतु शेष तीनों में वचनों का श्लेष इसका मूल कारण है ।

वस्तु की अर्थ-प्रकृति—कथावस्तु को प्रधान फल की प्राप्ति की ओर अग्रसर करनेवाले चमत्कारयुक्त अंशों को अर्थ-प्रकृति कहते हैं । इसके पाँच भेद हैं । साधारणतः यह कहा जा सकता है कि पाँच प्रकार की अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु-कथानक के तत्व हैं । मानव जीवन का उद्देश्य अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति है । नाटक के अर्थ में प्रदर्शित इन उद्देश्यों की प्राप्ति के लिये जो उपाय किए जायँ, वे ही अर्थ-प्रकृति हैं । इनके पाँच भेद इस प्रकार हैं—

(१) बीज—मुख्य फल का हेतु वह कथाभाग जो क्रमशः विस्तृत होता जाता है, बीज कहलाता है । इसका पहले बहुत ही सूक्ष्म

कथन किया जाता है; परंतु ज्यों ज्यों व्यापार-शृंखला आगे बढ़ती जाती है, त्यों त्यों इसका भी विस्तार होता जाता है। जैसे रत्नावली के प्रथम अंक में यौगंधरायण के ये वाक्य—

"यह सच है, इसमें कुछ संदेह नहीं—

"द्वीपन जलनिधि-मध्य सों, अरु दिगंत सों लाय।
"मनचाही अनुकूल विधि, छन महँ देत मिलाय॥

"जो ऐसा न होता तो ये अनहोनी बातें कैसे होतीं। सिद्ध की "बातों का विश्वास करके मैंने सिंहल द्वीप के राजा की कन्या अपने "महाराज के लिये माँगी; और जब उसने भेजी तो जहाज टूट गया। वह "डूबने लगी। फिर एक तख्ते के सहारे बह चली। संयोग से उसी समय "कौशांबी के एक महाजन ने, जो सिंहल द्वीप से फिरा आ रहा था, "उसे बहते देखा। उसके गले की रत्नमाला से महाजन ने जाना कि "यह किसी बड़े घर की लड़की है। वह उसे यहाँ लाया। (प्रसन्न हो "कर) सब प्रकार हमारे स्वामी की बढ़ती होती है। (विचारकर) और "मैंने भी उस कन्या को बड़े गौरव से रानी को सौंपा है; यह बात "अच्छी हुई। अब सुनने में आया है कि हमारे स्वामी का कंचुकी "बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर का मंत्री वसुभूति भी, जो राजकन्या के "साथ आते थे, किसी प्रकार डूबते उतराते किनारे लगे हैं। अब वे "सेनापति रुमण्वान् से, जो कौशलपुरी जीतने गया था, मिलके यहाँ "आ पहुँचे हैं। इन बातों से हमारे स्वामी के सब कार्य सिद्ध हुए से "प्रतीत होते हैं; तथापि मेरे जी को धैर्य नहीं होता है। अहा, सेवक "का धर्म बड़ा कठिन है, क्योंकि

"यद्यपि स्वामिहिं के हित-कारण मैंने सबै यह काज कियो है।
"देखहु तौ यह भाग की बात सुदैव ने आय सहाय दियो है॥
"सिद्धहु होयगो, संसय नाहिं, सदा निहचै मन मोंह लियो है।
"तौहू कियो अपने चित सों, यह सोचि डरै सब काल हियो है॥"

(२) बिंदु—जो बात निमित्त बनकर समाप्त होनेवाली अवांतर कथा को आगे बढ़ाती है और प्रधान कथा को अविच्छिन्न रखती है, वह बिंदु कहलाती है। जैसे, रत्नावली नाटिका में अनंगपूजा के अनंतर राजा की पूजा हो चुकने पर कथा समाप्त होने को थी, पर सागरिका विदूषक के ये वचन—

"सूरज अस्ताचलहिं सिधारे।

"साँझ समय के सभाभवन में, नृपगण आये सारे॥
"ससि-सम उदय होहिं उदयन सब की आँखिन के तारे।
"चाहत हैं, कमल न शुतिहर, सेवहिं पद-कमल तुम्हारे॥

सहर्ष सुनकर और राजा की ओर चाव से देखकर कहती है—"क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिये पिता ने मुझे भेजा था? (लंबी साँस लेकर) पराधीनता से क्षीण होने पर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूल सा खिल गया।" और इस प्रकार उसके ये वचन कथा को आगे बढ़ाते हैं।

(३) पताका—इसका लक्षण पहले लिखा जा चुका है; जैसे रामायण में सुग्रीव की, वेणी संहार में भीमसेन की और शकुंतला में विदूषक की कथा। पताका नामक कथांश के नायक का अपना कोई भिन्न फल नहीं होता। प्रधान नायक के फल को सिद्ध करने के लिये ही उसकी समस्त चेष्टाएँ होती हैं। गर्भ या विमर्प संधि में उसका निर्वाह कर दिया जाता है; जैसे सुग्रीव की राज्य-प्राप्ति।

(४) प्रकरी—(इसका वर्णन पहले हो चुका है। प्रसंगागत तथा एकदेशीय अर्थात् छोटे छोटे चरित्र प्रकरी कहलाते हैं; जैसे रामायण में रावण और जटायु का सवाद। प्रकरी-नायक का भी कोई स्वतंत्र उद्देश्य नहीं होता।

(५) कार्य—जिसके लिये सब उपायों का आरंभ किया जाय और जिसकी सिद्धि के लिये सब सामग्री इकट्ठी की गई हो, वह कार्य है; जैसे रामायण में रावण का वध, अथवा रत्नावली नाटिका में उदयन और रत्नावली का विवाह।

कार्य की अवस्थाएँ—प्रत्येक रूपक में कार्य या व्यापार-शृंखला की पाँच अवस्थाएँ होती हैं; अर्थात् (१) आरंभ—जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिये औत्सुक्य होता है। (२) प्रयत्न-जिसमें उस फल की प्राप्ति के लिये शीघ्रता से उद्योग किया जाता है। (३) प्राप्त्याशा अथवा प्राप्तिसंभव—जिसमें सफलता की संभावना ज्ञात पड़ती है, यद्यपि साथ ही विफलता की आशंका भी बनी रहती है। (४) नियताप्ति—जिसमें सफलता का निश्चय हो जाता है। और अंत में (५) फलागम—जिसमें सफलता प्राप्त हो जाती है और उद्देश्य की सिद्धि के साथ ही अन्य समस्त वांछित फलों की प्राप्ति भी हो जाती है। उदाहरण के लिये रत्नावली नाटिका में कुमारी रत्नावली को अंतःपुर में रखने की मंत्री यौगंधरायण की उत्कंठा अथवा अभिज्ञान शाकुंतल में राजा दुष्यंत की शकुंतला को देखने की उत्कंठा, जो कार्य के आरंभ की अवस्था है। रत्नावली में दर्शन का कोई दूसरा उपाय न देखकर रत्नावली का वत्सराज उदयन का चित्र-लेखन और शाकुंतल में राजा दुष्यंत की पुनः मिलने का उपाय निकालने के लिये उत्सुकता 'प्रयत्न' अवस्था के अंतर्गत है। रत्नावली में सागरिका का छद्म वेष धारण और अभिसरण सफलता प्राप्त करने के उपाय हैं; पर साथ ही भेद खुल जाने की आशंका भी वर्तमान है। इसी प्रकार शाकुंतल में दुर्वासा के शाप की कथा तथा उनका प्रसन्न होकर उसकी शांति की अवधि बताना प्राप्त्याशा अवस्था है। रत्नावली में राजा का यह समझ लेना कि बिना वासवदत्ता को प्रसन्न किए मैं सफल-मनोरथ नहीं हो सकता तथा शाकुंतल में धीवर से राजा का मुँदरी पाना नियताप्ति है। अंत में उदयन

का रत्नावली को प्राप्त करना और दुष्यंत का शकुंतला से मिलाप हो जाना फलागम है।

ये तो कार्य की पाँच अवस्थाएँ हुईं जिनका रूपकों में होना आवश्यक है। प्रायः इस बात पर भी विचार किया जाता है कि कार्य की किस अवस्था में रूपक का कितना अंश काम में लाया गया है। साधारणतः सुव्यवस्थित वस्तुवाले रूपक वही समझे जाते हैं जिनमें प्राप्त्याशा अवस्था लगभग मध्य में आती है। पहले का आधा अंश आरंभ और प्रयत्न अवस्थाओं में तथा अंत का आधा अंश नियताप्ति और फलागम में प्रयुक्त किया जाता है।

नाटक-रचना की संधियाँ—ऊपर पाँच अर्थ-प्रकृतियों और पाँच अवस्थाओं का वर्णन हो चुका। कथात्मक पूर्वोक्त पाँच अवस्थाओं के योग से अर्थ-प्रकृतियों के रूप में विस्तारी कथानक के पाँच अंश हो जाते हैं। एक ही प्रधान प्रयोजन के साधक उन कथांशों का मध्यवर्ती किसी एक प्रयोजनके साथ संबंध होने को संधि कहते हैं। अतः ये पाँच प्रकार की होती हैं—

(क) काले अक्षर--'प्रारंभ' नामक अवस्था के साथ संयोग होने से जहाँ अनेक अर्थों और रसों के व्यंजक 'बीज' (अर्थ-प्रकृति) की उत्पत्ति हो, वह मुख-संधि है। पहले कहा जा चुका है कि व्यापार-शृंखला में 'प्रारंभ' उस अवस्था का नाम है जिसमें किसी फल की प्राप्ति के लिये औत्सुक्य होता है; और 'बीज' उस अर्थ-प्रकृति को कहते हैं जिसमें संक्षेप रूप से स्वार्थनिर्दिष्ट कथाभाग मुख्य प्रयोजन की सिद्धि के लिये क्रमशः विस्तृत होता जाता है। इसी प्रकार मुख-संधि में ये दोनों बातें अर्थात् प्रारंभ अवस्था और बीज अर्थ-प्रकृति का संयोग होकर अनेक अर्थ और रस व्यंजित होते हैं। अवस्थाएँ तो कार्य अर्थात् व्यापार-शृंखला की भिन्न भिन्न स्थितियों की द्योतक हैं; अर्थ-प्रकृतियाँ कथावस्तु के तत्वों की सूचक हैं; और

संधियाँ नाटक-रचना के विभागों का निदर्शन करती हैं। तीनों बातें एक ही अर्थ को सिद्धि करती हैं; पर तीनों के नामकरण और विवेचन तीन दृष्टियों से किए गए हैं—एक में कार्य का, दूसरे में वस्तु का और तीसरे में नाटक-रचना का ध्यान रखा गया है। रत्नावली नाटिका में 'प्रारंभ' अवस्था कुमारी रत्नावली को अंतःपुर में रखने की यौगंधरायण की उत्कंठा, 'बीज' अर्थ प्रकृति यौगंधरायण का व्यापार और 'मुख-संधि' नाटक के आरंभ से लेकर दूसरे अंक के उस स्थान तक होती है जहाँ कुमारी रत्नावली राजा का चित्र अंकित करने का निश्चय करती है। इसी प्रकार अभिज्ञान शाकुंतल में प्रथम अंक से आरंभ होकर दूसरे अंक के उस स्थान तक, जहाँ सेनापति चला जाता है, मुख संधि है मुख संधि के नीचे लिखे १२ अंग माने गए हैं—

(१) उपक्षेप—बीज का न्यास अर्थात् बीज के समान सूक्ष्म प्रस्तुत इतिवृत्त की सूचना का संक्षेप में निर्देश; जैसे, रत्नावली में नेपथ्य से यह कथन—

"द्वीपन जलनिधि-मध्य सों अरु दिगंत सों लाय।
मन चाही अनुकूल विधि, छन महँ देत मिलाय॥"

(२) परिकर—बीज की वृद्धि अर्थात् प्रस्तुत सूक्ष्म इतिवृत्त का विषय-विस्तार, जैसे; रत्नावली में यौगंधरायण का वह कथन जो बीज अर्थ-प्रकृति के वर्णन में दिया गया है।

(३) परिन्यास—बीज की निष्पत्ति या सिद्धि अर्थात् उस वर्णनीय विषय का निश्चय के रूप में प्रकट करना; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का यह वचन—

"यद्यपि स्वामिहिं के हित-कारण मैंने सबै यह काज कियो है।
"देखहु तो यह भाग की बात, सुदैव ने आय सहाय दियो है॥
"सिद्धहु होयगो, संसय नाहिं, सदा निहचै मन माँह लियो है।
"तौहु कियो अपने चित सों, यह सोचि डरै सब काल हियो है॥

(४) विलोभन—गुण-कथन; जैसे, रत्नावली में वैतालिक का सागरिका के विलोभन के लिये उदयन के गुणों का वर्णन; यथा—

"सूरज अस्ता चलहि सिधारे।
"साँझ समय के सभा-भवन में नृपगण आए सारे।
"ससि सम उदय होहि उदयन, सब की आँखिन के तारे।
"चाहत है, कमल न द्युति-हर, सेवहिं पद-कमल तुम्हारे॥"

(५) युक्ति—प्रयोजनों का सम्यक् निर्णय; जैसे, रत्नावली में यौगंधरायण का कहना—"मैंने भी उस कन्या को बड़े गौरव से रानी को सौंपा है। यह बात अच्छी हुई। अब सुनने में आया है कि हमारे स्वामी का कंचुकी बाभ्रव्य और सिंहलेश्वर का मंत्री वसुभूति भी, जो राजकन्या के साथ आते थे, किसी प्रकार डूबते उतराते किनारे लगे हैं। अब वे सेनापति रुमण्वान् से, जो कोशलापुरी जीतने गया था, मिलके यहाँ आ पहुँचे हैं।"

(६) प्राप्ति—सुख का मिलना; जैसे, रत्नावली में सागरिका का यह वाक्य—"क्या यही वह उदयन राजा है जिसके लिये पिता ने मुझे भेजा था? पराधीनता से क्षीण होने पर भी मेरा शरीर इसे देखकर फूल सा खिल गया।"

(७) समाधान—बीज को ऐसे रूप में पुनः प्रदर्शित करना जिससे वह नायक अथवा नायिका को अभिमत प्रतीत हो; जैसे, रत्नावली में वासवदत्ता और सागरिका की बातचीत का प्रसंग—

"वासवदत्ता—यही तो है वह लाल अशोक। तब मेरी पूजा की सामग्री लाओ।

"सागरिका—लीजिए, रानी जी, यह सामग्री।

"वासवदत्ता—(स्वगत) दासियों ने बड़ी भूल की है। जिसकी आँखों से बचाए रखने का बहुत उद्योग किया है, सागरिका आज उसी की दृष्टि में पड़ा चाहती है। अच्छा तो अब यही कहूँ। (प्रकाश्य)

अरी सागरिका, आज सब सखियाँ तो मदन-महोत्सव में लगी हुई हैं। तू सारिका को छोड़ कर यहाँ क्यों आ गई ? जल्दी वहीं जा और पूजा की सामग्री कांचनमाला को दे जा।

"सागरिका—बहुत अच्छा रानी जी ! (कुछ चलके मन ही मन) सारिका तो सुसंगता को सौंप ही दी है। अब देखना चाहिए, कामदेव की पूजा यहाँ भी कैसी होती है। अच्छा छिपकर देखूँ।"

(८) विधान—सुख दुःख का कारण; जैसे, मालतीमाधव में माधव का यह कथन—

"निज जात समै वह फेरि कछू सुठि ग्रीव को ज्यों हीं लख्यो मम ओर।
"मुख सूर्जमुखी के समान लस्यो बिलस्यो छवि धारत मंजु अथोर।
"जुग नैन गड़ाइ सनेह सनै जिन चारु छुने बरुनीन के छोर।
"बस मानों बुझाइ सुधा-विष में हिय घायल कीन्हों कटाच्छ की कोर॥"

(९) परिभाव या परिभावना—किसी आश्चर्यजनक दृश्य को देखकर कुतूहलयुक्त बातों का कथन; जैसे, रत्नावली में सागरिका के ये "वचन—यह क्या ! यह तो अपूर्व कामदेव है। बाप के घर तो इनका चिह्न ही देखा था, यहाँ तो साक्षात् कामदेव उपस्थित हैं। अच्छा यहीं से इनको पुष्पांजलि दूँ।"

(१०) उद्भेद—बीज के रूप में छिपी हुई बात को खोलना; जैसे, रत्नावली में वैतालिक के नेपथ्य-कथन से सागरिका को यह ज्ञात होना कि कामदेव के रूप में गुप्त ये ही राजा उदयन हैं।

(११) करण—प्रस्तुत अर्थ का आरंभ। जैसे रत्नावली में सागरिका का कथन—"भगवान कंदर्प को मेरा प्रणाम। आपका दर्शन शुभदायक हो। जो देखने योग्य था, वह मैंने देखा। यह मेरे लिये अमोघ हो। (प्रणाम करके) बड़ा आश्चर्य है कि कामदेव का दर्शन करने पर भी फिर दर्शन की इच्छा होती है। अच्छा जब तक कोई न देखे, मैं चली जाऊँ।"

(१२) भेद—प्रोत्साहन; जैसे वेणीसंहार—

"द्रौपदी—नाथ, मेरे अपमान से अति क्रुद्ध होकर बिना अपने शरीर का ध्यान रखे पराक्रम न कीजिएगा; क्योंकि ऐसा कहा है कि शत्रुओं की सेना में बड़ी सावधानी से जाना चाहिए ।

भीम—संग्राम रूपी ऐसे समुद्र के जल के अंदर विचरण करने में पांडुपुत्र बड़े निपुण हैं, जिसमें एक दूसरे से टक्कर खाकर हाथियों के फटे हुए सिरों से निकले हुए रुधिर और मज्जा में मिले हुए उनके मस्तकों के भेजे रूपी कीच में डूबे हुए रथों के ऊपर पैर रखकर सेना चल रही हो, जिसमें रक्तपान किए हुए सियार अमंगल वाणी से बाजे बजा रहे हों, तथा कबंध नाच रहे हों ।"

ये बारहों अंग हमारे आचार्यों की सूक्ष्म भागोपभाग करने की रुचि के सूचक मात्र हैं । सब अंगों का किसी नाटक में निर्वाह होना कठिन है । इसलिये यह भी कह दिया गया है कि उपक्षेप, परिकर, परिन्यास, युक्ति, समाधान और उद्भेद इन छः अंगों का होना तो आवश्यक है । शेष छः भी रहें तो अच्छा ही है । नहीं तो इन्हीं से मुख-संधि का उद्देश सिद्ध हो जायगा ।

(ख) **प्रतिमुख-संधि**—मुख-संधि में दिखलाए हुए बीज का जिसमें कुछ लक्ष्य और कुछ अलक्ष्य रीति से उद्भेद हो, अर्थात् नाटकीय प्रधान फल का साधक इतिवृत्त कभी गुप्त और कभी स्पष्ट हो, प्रतिमुख-संधि कहलाता है । जैसे रत्नावली में वत्सराज और सागरिका के समागम के हेतु इन दोनों के पारस्परिक प्रेम को, जो प्रथम अंक में सूचित कर दिया गया था, सुसंगता और विदूषक ने जान लिया । यह तो उसका लक्ष्य होना हुआ । फिर वासवदत्ता ने चित्रवाली घटना से उसका अनुमान मात्र किया; इससे उसे कुछ अलक्ष्य भी कह सकते हैं । प्रतिमुख-संधि 'प्रयत्न'-अवस्था और 'बिंदु' अर्थ-प्रकृति के समान कार्य-शृंखला को अग्रसर करती है । प्रयत्न अवस्था में फल-प्राप्ति के लिये शीघ्रता से उद्योग

खिंच सकता था।

राजा—(हर्ष से हाथ बढ़ाकर) मित्र, दिखाओ।

विदूषक—तुम्हें न दिखाऊँगा, क्योंकि वह कामिनी भी इसमें चित्रित है। बिना इनाम ऐसा कन्यारत्न दिखाया नहीं जा सकता।

राजा—(हार उतारकर देता है और चित्रपट देखता है। फिर विस्मय से)

कमल कँपावत खेल सों, हिय चित अधिक जनाय।
चित्र लिखी सी हंसिनी, मानस पैठत धाय॥

[सुसंगता और सागरिका का प्रवेश]

सुसंगता—मैना तो हाथ न आई, अब यह कदलीकुंज से चित्रपट उठा लाती हूँ।

सागरिका—सखी ऐसा ही कर।

विदूषक—हे मित्र, इस कन्यारत्न को अवनतमुख करके क्यों चित्रित किया है?

सुसंगता—(सुनकर) सखी, वसंतक बात करता है, इससे महाराज भी निश्चय यहीं हैं। अच्छा कदलीकुंज से छिपकर सुनती हूँ। देखें क्या बातें करते हैं।

राजा—मित्र, देखो।

कमल कँपावत खेल सों, हिय चित अधिक जनाय।
चित्र लिखी सी हंसिनी, मानस पैठत धाय॥

सुसंगता—सखी, बड़ी भाग्यवती हो। देखो तुम्हारा प्यारा तुम्हारा ही वर्णन करता है।

सागरिका—(लज्जा से) सखी, क्यों हँसी उड़ाती है। इस तरह मेरी हलकाई न करो।

विदूषक—(राजा के उँगली लगा के) सुनते हो, इस कन्यारत्न का मुँह चित्र में अवनत क्यों है?

राजा—मैना ही तो सब सुना गई है ।

सुसंगता—सखी, मैना आपका सब परिचय दे गई ।

विदूषक—इससे आपकी आँखों को सुख होता है या नहीं ?

सागरिका—न जाने इसके मुख से क्या निकले । सत्य सत्य इस समय मैं मरने और जीने दोनों के बीच में हूँ ।

राजा—मित्र, सुख होता है, यह खूब पूछी । देखो—

अति कष्ट सों याके ऊरून को छाँड़ि पड़ी मम दीठ नितंब पै जाई ।
हटि तासों निहारि के छीन कटी त्रिवली की तरंगन मध्य समाई ॥
पुनि धीरहि धीरहि चढ़ि सोऊ कुच तुंग पै जाय कै कीन्ही चढ़ाई ।
अब प्यासी सी है जलबिंदु भरी अँखियान सों जाय कै आँख लगाई ॥

(८) निरोध—हितरोध अर्थात् हितकर वस्तु की प्राप्ति में रुकावट । साहित्यदर्पण में इसके स्थान में विरोध = दुःख प्राप्ति है । जैसे रत्नावली में विदूषक के यह कहने पर कि "यह दूसरी वासवदत्ता है ।" राजा भ्रम में पड़कर सागरिका का हाथ छोड़ देता है और कहता है—"दूर पागल, भाग्यवश रत्नावली की कांतिवाली वह मिली थी । अभी उसे कंठ में डालना ही चाहता था कि इतने में वह हाथ से छूट गई ।" साहित्यदर्पण में 'विरोध' का उदाहरण चंड कौशिक में राजा का यह वचन है—'अंधे की तरह मैंने बिना विचारे धधकती हुई आग पर पैर रख दिया ।"

(९) पर्युपासन—क्रुद्ध का अनुनय । जैसे रत्नावली मे वासवदत्ता के कुपित होने पर राजा उदयन कहता है—"देवी, प्रसन्न हो । कोप न करो । मेरा कुछ दोष नहीं है । आपको मिथ्या आशंका हुई है । तुम्हारे कोप से मैं घबरा गया हूँ, उत्तर नहीं सूझता है ।"

(१०) पुष्प—विशेषतापूर्ण वचन अर्थात् विशेष अनुराग उत्पन्न करनेवाला वचन । जैसे रत्नावली में सागरिका के हाथों का स्पर्श-सुख पाकर राजा कहता है—"यह साक्षात् लक्ष्मी है और इसकी हथेली

पारिजात के नवदल; नहीं तो पसीने के बहाने इनमें से अमृत कहाँ से टपकता।"

(११) उपन्यास—युक्तिपूर्ण वचन; जैसे रत्नावली में सुसंगता का राजा के प्रति यह वचन—"महाराज मुझ पर प्रसन्न हैं, यही बहुत है। महाराज किसी तरह की शंका न करें। मैंने ही यह खेल किया है। आभूषण मुझे नहीं चाहिए। मेरी सखी सागरिका मुझ पर यह कह कर अप्रसन्न हो गई है कि तूने मेरा चित्र इस चित्रपट पर क्यों बनाया। आप चलकर उसे जरा मना दीजिए। इतना करने से ही मैं समझ लूँगी कि महाराज मुझ पर बहुत प्रसन्न हैं।"

(१२) वज्र—सम्मुख निष्ठुर वचन। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता चित्रपट की ओर निर्देश करके कहती है—"आर्यपुत्र, यह दूसरी मूर्त्ति क्या वसंतक जी की विद्या का फल है ?" फिर वह कहती है—"आर्यपुत्र, इस चित्र को देखकर मेरे सिर में पीड़ा उत्पन्न हो गई है। अच्छा, आप प्रसन्न रहें, मैं जाती हूँ।"

(१३) वर्णसंहार—चारों वर्णों का सम्मेलन। जैसे महावीरचरित के तीसरे अंक का यह वाक्य—"यह ऋषियों की सभा है, यह वीर युधाजित् हैं, यह मंत्रियों सहित राजा रोमपाद है और यह सदा यज्ञ करनेवाले महाराज जनक हैं।" अभिनव गुप्ताचार्य का मत है कि 'वर्णसंहार' के 'वर्ण' शब्द से नाटक के पात्र लक्षित होते हैं। अतः पात्रों के सम्मेलन को 'वर्णसंहार' कहना चाहिए, न कि भिन्न भिन्न जाति के लोगों का समागम। रत्नावली के दूसरे अंक में राजा, विदूषक, सागरिका, सुसंगता, वासवदत्ता और कांचनमाला का समागम 'वर्णसंहार' है।

(ग) गर्भ-संधि—इसमें प्रतिमुख संधि में किंचित् प्रकाशित हुए बीज का बार बार आविर्भाव, तिरोभाव तथा अन्वेषण होता रहता है। इस संधि में प्राप्त्याशा अवस्था और पताका अर्थ-प्रकृति

रहती है। प्राप्त्याशा अवस्था में सफलता की संभावना के साथ ही साथ विफलता की आशंका भी बनी रहती है और पताका अर्थप्रकृति में प्रधान फल का सिद्ध करनेवाला प्रासंगिक वृत्तांत रहता है। यदि इस संधि में पताका अर्थप्रकृति न हो तो प्राप्त्याशा अवस्था भी उत्पन्न नहीं हो सकती। रत्नावली में गर्भ-संधि तीसरे अंक में होती है। इस अंक की कथा जान लेने से इस संधि का अभिप्राय स्पष्ट हो जायगा। कथा इस प्रकार है—

राजा उदयन सागरिका के विरह में अत्यन्त दुखी होता है। विदूषक यह उपाय करता है कि सागरिका वासवदत्ता के वेष में राजा से मिले। वासवदत्ता को इस बात का पता चल जाता है और वह सागरिका पर पहरा बैठा देती है और आपही उसके स्थान पर आ उपस्थित होती है। विदूषक उसे सागरिका समझकर राजा के पास ले जाता है और राजा भी उसे सागरिका समझकर बड़े प्रेम से उसका स्वागत करता और प्रेमपूर्ण बातें कहता है। वासवदत्ता इन वचनों को सुनकर मारे क्रोध के अपने को सँभाल नहीं सकती और प्रकट होकर राजा पर क्रोध प्रदर्शित करती है तथा उसी दशा में वहाँ से चली जाती है। उधर सागरिका किसी प्रकार पहरेदारों की आँख बचाकर निकल भागती है और वासवदत्ता का वेष धारण किए हुए अशोक वृक्ष की ओर जाती है। उसे यह जानकर बड़ी ग्लानि होती है कि वासवदत्ता पर मेरा सब भेद खुल गया। अतएव वह फाँसी लगाकर अपने प्राण दे देना चाहती है। रानी वासवदत्ता के चले जाने पर राजा उदयन को यह आशंका होती है कि कहीं दुखी और क्रुद्ध होकर रानी अपने प्राण न दे दे। राजा इस आशंका से विचलित होकर रानी को शांत करने के लिये जाता है। मार्ग में वासवदत्ता-रूपधारिणी सागरिका को फाँसी लगाने का प्रयत्न करते देखकर उसे बचाने को दौड़ता है; और ज्यों ही बचाकर उससे बात करता है, उसे विदित हो जाता है कि यह वासव-

दत्ता नहीं, सागरिका है। उसके आनंद का ठिकाना नहीं रहता। वह उससे प्रेमालाप करता है। इसी बीच में रानी वासवदत्ता को पश्चात्ताप होता है कि मैंने व्यर्थ राजा को कटु वचन कहे। अतएव वह राजा को शांत करने के लिये आती है; पर सागरिका से बात करते हुए देख कर उसका क्रोध पुनः भड़क उठता है। वह सागरिका को लताओं से बाँध कर ले जाती है। राजा रानी को समझाने और शांत करने का उद्योग करता है; पर उसकी एक नहीं चलती और वह शोक सागर की तरंगों में डूबता उतराता अपने शयन मंदिर की ओर जाता है।

अब यदि प्राप्त्याशा अवस्था, पताका अर्थ-प्रकृति और गर्भ-संधि के लक्षणों को लेकर इस कथा पर विचार किया जाय, तो सब बातें स्पष्ट हो जायँगी। यह बात ध्यान में रखकर इस पर विवेचन करना चाहिए कि रत्नावली नाटिका में इस संधि के साथ पताका अर्थ-प्रकृति नहीं आती, केवल पताका स्थानक का आविर्भाव होता है। गर्भ-संधि के १३ अंग माने गए हैं—

(१) अभूताहरण—कपट वचन। जैसे रत्नावली नाटिका के तीसरे अंक में कांचनमाला की वसंतक के प्रति उक्ति—"तुम संधि-विग्रह के कार्यों में अमात्य से भी बढ़ गए।"

(२) मार्ग—सच्ची बात कहना। जैसे रत्नावली में राजा और विदूषक की यह बातचीत—

विदूषक—प्यारे मित्र, आपकी जय हो। आप बड़े भाग्यवान् हो। आपकी अभिलाषा पूरी हुई।

राजा—(हर्ष से) मित्र, प्यारी सागरिका अच्छी तो है ?

विदूषक—(गर्व से) आप स्वयं देख लेंगे कि अच्छी है या नहीं।

राजा—(आनंद से) क्या प्यारी का दर्शन-लाभ भी होगा ?

विदूषक—(अहंकार से) जो अपनी बुद्धि से बृहस्पति को

भी हराता है, यही वसंतक जब आपका मंत्री है तो दर्शन लाभ क्यों न होगा।

राजा—(हँसकर) आश्चर्य क्या है ? आप सब कर सकते हैं। अब विस्तार से कहिए, सुनने की बड़ी इच्छा है।

विदूषक—(राजा के कान में सुसंगता की कही सब बातें सुनाता है)

(३) रूप—वितर्कयुक्त वाक्य। जैसे रत्नावली में राजा का यह कथन—जो अपनी स्त्री के समागम का अनादर करते हैं, नई नायिकाओं पर उन कामियों का कैसा पक्षपात होता है—

> ताकत तिरछी चकित सी नैन छिपाये लेत।
> कंठ लगाई, कुचन रस ताहू लैन न देत॥
> 'जाऊँ जाऊँ' ही कहत कीन्हे जतन अनेक।
> ताहू पै प्यारी लगै अहो काम तव टेक॥

वसंतक ने क्यों देर कर दी! कहीं रानी वासवदत्ता तो इस भेद को नहीं जान गई!

(४) उदाहृति या उदाहरण—उत्कर्षयुक्त वचन। जैसे रत्नावली में विदूषक का यह कथन—

(हर्ष से) आज मेरी बात सुनकर प्रिय मित्र को जैसा हर्ष होगा, वैसा तो कौशांबी का राज्य पाने से भी न हुआ होगा। अच्छा अब चलकर यह शुभ संवाद सुनाऊँ।

(५) क्रम—जिसकी अभिलाषा हो, उसकी प्राप्ति अथवा किसी के भाव का यथार्थ ज्ञान प्राप्त करना। जैसे रत्नावली में सागरिका की प्रतीक्षा में बैठा हुआ राजा कहता है—"(उत्कंठा से स्वगत) प्यारी के मिलने का समय बहुत निकट आ गया है। न जाने तब भी क्यों चित्त अधिक उत्कंठित होता है—

मिलन समय नियरे भयें, मदन-ताप अधिकात ।
जैसे बरखा के दिवस, धूप अतिहि बढ़ि जात ॥

विदूषक—(सुनकर) अजी सागरिके ! देखो महाराज उत्कंठित होकर तेरे ही लिये धीरे धीरे कुछ कह रहे हैं। तुम ठहरो, मैं महाराज को आगे जाकर तुम्हारा संवाद सुनाता हूँ ।

(६) संग्रह—सामदाम-युक्त उक्ति । जैसे रत्नावली में राजा का सागरिका के ले आने पर विदूषक को साधुवाद कह कर पारितोषिक देना ।

(७) अनुमान—किसी चिह्न विशेष से किसी बात का अनुमान करना । जैसे रत्नावली में राजा की उक्ति—

राजा—जा मूर्ख, व्यर्थ क्यों हँसी बढ़ाता है । तू ही इस अनर्थ का कारण है। प्यारी का मैंने दिन दिन आदर किया है; परंतु आज वह दोष बन पड़ा जो पहले कभी नहीं हुआ था। उच्च प्रेम का पतन असह्य होता है । इससे निश्चय है, वह प्राण दे देगी ।

विदूषक—हे मित्र, रानी जी क्रोध में आकर क्या करेंगी सो तो मैं जानता नहीं; पर मैं ऐसा समझता हूँ कि सागरिका का जीना दुष्कर है ।

(८) अधिबल—धोखा। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता का सागरिका का और कांचनमाला का सुसंगता का वेष धारण करने के कारण जब विदूषक धोखे में पड़कर उन्हें राजा के पास ले जाना चाहता है, तब उसके पूर्व कांचनमाला कहती है—"रानी जी, यही चित्रशाला है । आप ठहरिए; मैं वसंतक से संकेत करती हूँ ।"

(९) तोटक—क्रोधी का वचन। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता कहती है—"उठो उठो आर्यपुत्र । अब भी बनावटी चाटुता का दुःख क्यों भोग रहे हो। कांचनमाले, इस ब्राह्मण को इस लता से बाँध कर ले चल और इस दुर्विनीत छोकरी को भी आगे कर ले ।"

(१०) उद्वेग—शत्रु का डर। जैसे रत्नावली में सागरिका का वचन—

हा, मुझ पापिनी को इच्छा-मृत्यु भी न मिली।

(११) संभ्रम—शंका और त्रास। जैसे रत्नावली में वसंतक का वचन—

यह कौन-सी ? रानी वासवदत्ता ! (पुकार कर) मित्र, बचाओ ! बचाओ, देवी वासवदत्ता फाँसी लगा कर मरती हैं।

(१२) आक्षेप—गर्भस्थित बीज का स्पष्ट होना। जैसे रत्नावली में राजा का कहना—"मित्र, देवी की कृपा के अतिरिक्त और कोई उपाय नहीं देख पड़ता। उसी से हमारी आशा पूर्ण होगी। अतएव यहाँ ठहरने से क्या प्रयोजन निकलेगा। चलकर देवी को प्रसन्न करूँ।"

साहित्यदर्पण में गर्भ-संधि के १३ अंग माने गए हैं। उसमें 'आक्षेप' अंग नहीं है, 'संभ्रम' के लिए 'विद्रव' शब्द का प्रयोग है और 'प्रार्थना' तथा 'क्षिप्ति' ये दो अंग अधिक हैं। प्रार्थना से भाव रति, हर्ष और उत्सवों के लिये अभ्यर्थना से, तथा क्षिप्ति से भाव रहस्य का भेद खुलने से है। जो लोग निर्वहण संधि में प्रशस्ति नामक अंग नहीं मानते, वे गर्भ-संधि में १३ अंग मानते हैं।

(घ) अवमर्श या विमर्श संधि—गर्भ-संधि की अपेक्षा बीज का अधिक विस्तार होने पर उसके फलोन्मुख होने में जब शाप, क्रोध, विपत्ति या विलोभन के कारण विघ्न उपस्थित होते हैं, तब विमर्श या अवमर्श संधि होती है। इसमें नियताप्ति अवस्था और प्रकरी अर्थ-प्रकृति होती है। रत्नावली नाटिका में चौथे अंक में जहाँ अग्नि के कारण गड़बड़ मचता है, वहाँ तक यह संधि है। इसके १३ अंग माने गए हैं—

(१) अपवाद—दोष का फैलना। जैसे सुसंगता का कहना—

सुसंगता—'देवी उसे उज्जयिनी ले गई'[1] यह बात फैलाकर आधी रात के समय न जाने वह बिचारी कहाँ हटाई गई।

विदूषक—(उद्वेग सहित) देवी ने यह बड़ा क्रूर काम किया। मित्र, अन्यथा मत सोचो निश्चय देवी ने उसे उज्जयिनी भेजा है।

राजा—देवी मुझ पर अप्रसन्न हैं।

(२) संफेट—रोष भरे वचन (खिखियानी बातें) जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन का वचन-अरे भीम, वृद्ध राजा (धृतराष्ट्र) के सामने तू क्या अपने निंदनीय कार्य की प्रशंसा करता है। अरे मूर्ख, सुन। बीच सभा में राजाओं के सामने मुझ भुवनेश्वर की आज्ञा से तुझ पशु की और तेरे भाई इस पशु (अर्जुन) को और राजा (युधिष्ठिर) और उन दोनों (नकुल सहदेव) की भार्या (द्रौपदी) के केश खींचे गए। उस वैर में भला वध तो सही, उन वेचारे राजाओं ने क्या बिगाड़ा था जिन्हें तूने मारा है। मुझको बिना जीते ही इतना घमंड करता है?

(३) विद्रव–वध, बंधन आदि। जैसे रत्नावली में बाभ्रव्य का वचन।

"राजभवन महँ आग लगी है अति ही भारी।
शिखा जात है ताकी हेमकलस के पारी॥
छाय रही धूम सों प्रमद कानन तरुराजी।
सजल जलद श्यामल सों धरिकै करि रह्यो बाजी॥
भय सों कातर होय पुकारत हैं सब नारी।
हाहाकार मचो है महलन महँ अति भारी॥"

(४) द्रव—गुरुजनों का अपमान। जैसे उत्तररामचरित में लव का वचन—"सुन्द की स्त्री के दमन करने पर भी जिनका यश अखंडित है, खर से लड़ने में भी जो तीन पग पीछे न हटे, डटे ही रह गये, इंद्रपुर बालि के वध में भी जिन्होंने कौशल दिखाया, जाने दो, वे बड़े हैं, बुजुर्ग हैं, उनके विषय में कुछ न कहना ही ठीक है।"

(५) शक्ति—विरोध का शमन। जैसे रत्नावली में राजा का वचन—

"छल सों सपथ खाई, मधुर बनाई बात,
पतेहू पै प्यारी नहीं नेकु नरमाई है।
पायन पलोटे ताके बहु बार धाय धाय,
अरु सखीगन बहु भाँति समझाई है।
याहि को अचंभो मोहि आवत है बार बार,
ताहू पै तनिक नहीं प्यारी पतियाई है।
पाछे निज आँखिन के आँसुन सों आप धोय,
मन की गलानी प्यारी आप ही बहाई है॥"

(६) द्युति—तर्जन और उद्वेजन (डाँटना और फटकारना); जैसे वेणीसंहार में दुर्योधन के प्रति भीम की उक्ति—'अरे नरपशु, तू अपना जन्म चंद्रवंश में बताता है और अब भी गदा धारण करता है। दुःशासन की रुधिर-मदिरा के पान से मत्त मुझको अपना शत्रु कहता है, अभिमान से अंधा होकर भगवान् विष्णु के प्रति भी अनुचित व्यवहार करता है और इस समय मेरे डर के मारे लड़ाई से भाग कर यहाँ कीच में छिपा पड़ा है!'

(७) प्रसंग—गुरुजनों का कीर्तन। जैसे रत्नावली में वसुभूति का वचन—"महामान्य सिंहलपति ने महाराज को जो रत्नावली नाम की कन्या दी, एक सिद्ध पुरुष ने उसके विषय में कहा था जो कि इस कन्या का वर होगा, वही चक्रवर्ती राजा होगा।.. ....सिंहल-नरेश ने अपनी रत्नावली आपको देने के लिये हमारे साथ कर दी।"

(८) छलन अपमान। जैसे रत्नावली में राजा का वचन—"हाय, देवी ने मेरी बात को जरा भी न माना।"

(९) व्यवसाय—अपनी शक्ति का कथन। जैसे रत्नावली में ऐंद्र-जालिक की उक्ति—

"चंद्र खैंचि धरती पै लाऊँ। गिरि उठाय आकास चढ़ाऊँ।
कहिए जल में आग लगाऊँ। दिन में आधी रात दिखाऊँ॥

बात अधिक अब कहा बढ़ाऊँ। गुरु प्रताप सों सबहि दिखाऊँ।"

(१०) विरोधन—कार्य में विघ्न का ज्ञापन। जैसे वेणीसंहार में युधिष्ठिर की यह उक्ति—"हम लोगों ने भीष्म रूप महासागर पार कर लिया। द्रोण रूप भयानक अग्नि जैसे तैसे शांत कर दी, कर्ण रूप विषधर भी मार डाला, शल्य भी स्वर्ग चला गया। अब विजय थोड़ी ही शेष रही थी कि साहसी भीम ने अपनी बात से हम सबों के प्राणों को संशय में डाल दिया।"

(११) प्ररोचना—भावी अर्थसिद्धि की सूचना अर्थात् सफलता के लक्षण देखकर भविष्य का अनुमान। जैसे वेणीसंहार में—"अब संदेह के लिये स्थान ही कहाँ है। हे युधिष्ठिर, आपके राज्याभिषेक के लिये रत्नकलश भरे जायँ, द्रौपदी बहुत दिनों से छोड़े हुए अपने केश-गुंफन का उत्सव करे। क्षत्रियों के उच्छेदक परशुराम और क्रोधान्ध भीम के रण में पहुँचने पर फिर विजय में संदेह ही क्या है ?"

(१२) विचलन—बहकना या सीटना। जैसे रत्नावली में यौगंधरायण की यह उक्ति—"(स्वगत) रानी के मरने की झूठी खबर उड़ाई और रत्नावली प्राप्त की। रानी राजा को अन्य स्त्री में आसक्त देख दुःखित हुई। यद्यपि यह सब स्वामी के हित के लिये किया, तथापि लज्जा से सिर नहीं उठा सकता।"

(१३) आदान—कार्य का संग्रह अर्थात् अपने अर्थ का साधन। जैसे रत्नावली में सागरिका की यह उक्ति—"मेरे भाग्य से चारों ओर आग भड़क उठी है। इसी से आज सब दुःख दूर हो जायगा।"

(ङ) निर्वहण संधि—इसमें पूर्व कथित चारों संधियों में यथास्थान वर्णित अर्थों का प्रधान प्रयोजन की सिद्धि के लिये समाहार हो जाता है और उस मुख्य फल की प्राप्ति भी हो जाती है। इसमें फलागम अवस्था और कार्य अर्थ-प्रकृति आती है। रत्नावली नाटिका में

विशेष संधि के अंत से लेकर चौथे अंक की समाप्ति तक यह संधि होती है। इसके १४ अंग माने गए हैं—

(१) संधि—बीज का आगमन (उद्भावन) अर्थात् छेड़ना। जैसे रत्नावली में वसुभूति का यह कहना—"बाभ्रव्य, यह तो राजपुत्री के जैसी है।" बाभ्रव्य—"मुझे भी ऐसी ही जान पड़ती है।"

(२) विबोध—कार्य का अनुसंधान या जाँच। जैसे रत्नावली में—"वसुभूति—यह कन्या कहाँ से आई ?"

· राजा—महारानी जानती हैं।

वासवदत्ता—आर्यपुत्र, यौगंधरायण ने यह कहकर कि यह सागर से प्राप्त हुई है, मुझे इसे सौंपा था। इसी लिये इसको सागरिका कहकर बुलाया गया है।

राजा (स्वगत)—यौगंधरायण ने सौंपा था ! मुझसे बिना कहे हुए उसने ऐसा क्यों किया ?

(३) ग्रथन—कार्य का उपक्षेप, चर्चा या जिक्र। जैसे रत्नावली में यौगंधरायण की उक्ति—"देव, मैंने जो यह काम आपसे बिना कहे हुए किया, इसे आप क्षमा करें"।"

(४) निर्णय—अनुभव-कथन। जैसे रत्नावली में यौगंधरायण का कथन—"(हाथ जोड़कर) देव, सुनिए। सिंहलेश्वर की कन्या इस रत्नावली के विषय में एक सिद्ध पुरुष ने कहा था कि जो इसे ब्याहेगा, वह चक्रवर्ती राजा होगा। उसी विश्वास पर मैंने यह कन्या आपके लिये माँगी। रानी वासवदत्ता के मन में दुःख होने के विचार से सिंहलेश्वर ने कन्या देने से इन्कार किया। तब मैंने सिंहलेश्वर के पास बाभ्रव्य को भेजकर यह कहलाया कि रानी वासवदत्ता आग में जल गई हैं।"

(५) परिभाषण—एक दूसरे को कह सुनाना। जैसे रत्नावली में—"रत्नावली—(स्वगत) मैंने महारानी का अपराध किया है। अब मुँह दिखाने को जी नहीं चाहता।

वासवदत्ता—(हाथ फैलाकर) आ, अरी निष्ठुर, अब तो बंधु-स्नेह दिखा। (राजा से) आर्यपुत्र, मुझे अपनी निष्ठुरता पर बड़ी लज्जा आती है। आप जल्दी इसका बंधन खोल दें।

राजा—(प्रसन्न होकर) जैसी देवी की आज्ञा।

वासवदत्ता—(वसुभूति से) मंत्री यौगंधरायण के कारण ही मैं इतने दिनों तक रत्नावली के लिये दुर्जन बनी रही हूँ। उन्होंने जान सुनकर भी कोई समाचार मुझसे नहीं कहे।"

(६) प्रसाद—पर्युपासना अर्थात् कुछ कह या करके प्रसन्न करना। जैसे रत्नावली में यौगंधरायण का वचन—"महाराज, आपसे न कहकर मैंने जो किया है, उसके लिये मुझे क्षमा करें।"

(७) आनंद—वांछितासि या अभिलषित अर्थ की प्राप्ति। जैसे रत्नावली में वासवदत्ता के प्रति राजा का वचन—"दे दी, आपके अनुग्रह का कौन न आदर करे (रत्नावली को ग्रहण करता है)।"

(८) समय—दुःख का निर्गम या दूर होना। जैसे रत्नावली मे वासवदत्ता का वचन—"बहिन, धीरज धर, चेत कर।"

(९) कृति—लब्धार्थ का निश्चय अर्थात् लब्ध अर्थ के द्वारा शोक आदि का शमन अथवा शोकादि से जन्य अस्थिरता का निवारण। जैसे रत्नावली में राजा का यह कहना—"देवी, आपके अनुग्रह का कौन आदर न करे! वासवदत्ता—आर्यपुत्र, रत्नावली के माता पिता, बंधु बांधव सब दूर देश में हैं। आप ऐसा करें जिसमें यह उन्हें स्मरण करके उदास न हो।"

(१०) भाषण—प्रतिष्ठा, मान, यश आदि की प्राप्ति अथवा साम दाम आदि। जैसे रत्नावली में राजा की उक्ति—

"विक्रम बाहु सों पायो सगो, भूसार को सागरिका मैं पाई।
भूमि ससागर पाई, मिली महरानी सहोदर सों हरपाई॥
जीत्यो है कोसल देश, फिरी चहुँ ओर को आज हमारी दुहाई।

आप सों जोग मिली पुनि रही कहाँ का की कपाई ॥"

(११-१२) पूर्वभाव और उपगूहन—कार्य का दर्शन और अद्भुत वस्तु की प्राप्ति या अनुभव। जैसे रत्नावली में—

यौगंधरायण—(हँसकर) रानी जी, आपने अपनी छोटी बहिन को पहचान लिया। अब जैसा उचित समझें, करें।

वासवदत्ता—(मुस्कराकर) मंत्री जी, स्पष्ट ही कह दो न कि रत्नावली महाराज को दे दो।"

(१३) काव्यसंहार—वरदान प्राप्ति; जैसे शकुंतला नाटक में कश्यप का वचन—

> भरता तेरो इंद्र सम, सुत जयंत उपमान।
> और कहा वर देहुँ तोहि, तू हो सची समान॥

(१४) प्रशस्ति—आशीर्वाद। जैसे रत्नावली में—

> "देवन को पति इंद्र करै बरषा मन भाई।
> भूमि रहै चोखे धानन सों निसि दिन छाई॥
> विप्र करैं जप होम तोष यहि विधि देवन को।
> प्रलय प्रयंत रहै सुख संगम सज्जन गन को।
> वज्रलेपसम खलन के दुर्जय अरु दुस्सह वचन॥
> लोप पाय मिट जायँ सब शेष होय तिन को शमन।"

संध्यंगों का उद्देश्य—इस प्रकार पाँच संधियों के ६४ अंग हुए। इनका प्रयोग ६ निमित्तों से होता है—(१) इष्टार्थ—जैसी रचना करनी हो, उसे पूरा करने के लिये; (२) गोप्य-गोपन—जिस बात को गुप्त रखना हो, उसे छिपाने के लिये; (३) प्रकाशन—जिस बात को प्रकट करना हो, उसे स्पष्ट करने के लिये; (४) राग—भावों का संचार करने के लिये; (५) आश्चर्य-प्रयोग—चमत्कार लाने के लिये; और (६) वृत्तांत

का अनुपत्त—कथा को ऐसा विस्तार देने के लिये जिससे उसमें लोगों की रुचि बनी रहे। इन्हीं छः बातों को लाने के लिये इन ६४ संध्यंगों का आवश्यकता के अनुसार प्रयोग होना चाहिए। तात्पर्य यही है कि दृश्य-काव्य-रचना में संधियाँ और उनके अंग इस प्रकार रखे जायँ जिसमें इन छः उद्देश्यों की सिद्धि हो।

साहित्य-दर्पणकार का कहना है कि जैसे अंगहीन मनुष्य किसी काम को करने के अयोग्य होता है, वैसे ही अंगहीन काव्य भी प्रयोग के योग्य नहीं होता। संधि के अंगों का संपादन नायक या प्रतिनायक को करना चाहिए। उनके अभाव में पताका-नायक इसे करे। वह भी न हो तो कोई दूसरा ही करे। संधि के अंग प्रायः प्रधान पुरुषों के द्वारा प्रयोग करने के योग्य होते हैं। उपक्षेप, परिकर और परिन्यास अंगों (मुख-संधियों) में बीजभूत अर्थ बहुत थोड़ा रहता है। अतएव उसका प्रयोग अप्रधान पुरुषों द्वारा हो सकता है। इन अंगों का प्रयोग रस-व्यक्ति के निमित्त होना चाहिए, केवल शास्त्र-पद्धति का अनुसरण करने के लिये नहीं। जो वृत्तांत इतिहास-प्रसिद्ध होने पर भी रस व्यक्ति में अनावश्यक या प्रतिकूल होते हों, उन्हें बिलकुल छोड़ देना या बदल-देना चाहिए। मुख्य बात इतनी ही है कि प्रतिभावान् कवि इस व्यक्ति के लिये अंगों का प्रयोग करे; केवल शास्त्र के नियमों का पालन करने अथवा इतिहासानुमोदित बातों को कहने के लिये न करे।

ऊपर अर्थ-प्रकृतियों, अवस्थाओं और संधियों का वर्णन हो चुका। यह बात ध्यान में रखनी चाहिए कि यद्यपि इनका प्रयोग भिन्न भिन्न विचारों से किया जाता है, तथापि तीनों के पाँच पाँच भेद होते हैं और वे परस्पर एक दूसरे के सहायक या अनुकूल होते हैं। अर्थ-प्रकृतियाँ वस्तु के तत्वों से, अवस्थाएँ कार्य-व्यापार से और संधियाँ रूपक-रचना के विभागों से संबंध रखती हैं। इन बातों का स्पष्टीकरण नीचे लिखी सारिणी से हो जायगा—

वस्तुतत्व या अर्थ-प्रकृति	कार्य-व्यापार की अवस्था	संधि
(१) बीज	(१) आरंभ	(१) मुख
(२) बिंदु	(२) प्रयत्न	(२) प्रतिमुख
(३) पताका	(३) प्राप्त्याशा	(३) गर्भ
(४) प्रकरी	(४) नियताप्ति	(४) विमर्श
(५) कार्य	(५) फलागम	(५) निर्वहण

वस्तु के दो विभाग—वस्तु-विन्यास में एक बात और ध्यान देने की है । इसमें कुछ बातें तो ऐसी होती हैं, जिनका अभिनय करके दिखाना आवश्यक है, जिसमें मधुर और उदात्त रस तथा भाव निरंतर उद्दीप्त हो उठें । जो बातें नीरस अथवा अनुचित हों, उनकी सूचना मात्र दे देनी चाहिए, उनका विस्तार नहीं करना चाहिए । जिनका विस्तार किया जाना चाहिए, उन्हें 'दृश्य' और जिनकी केवल सूचना देनी चाहिए, उन्हें 'सूच्य' कहा जाता है । सूच्य विषयों में लंबी यात्रा, वध, मृत्यु, युद्ध, राज्य या देश का विप्लव, नगर आदि का घेरा डालना, भोजन, स्नान, संभोग, अनुलेपन, कपड़ा पहनना आदि हैं; परंतु इनका कहीं कहीं पालन नहीं हुआ है; जैसे भास ने मृत्यु दिखाई है और राजशेखर ने विवाह-कृत्य दिखाया है । एक नियम यह भी है कि अधिकारी का वध नहीं दिखाना चाहिए । जहाँ तक हो सके, नायक या नायिका की मृत्यु नहीं दिखानी चाहिए और न उसकी सूचना ही देनी चाहिए । केवल एक अवस्था में यह बात दृश्य या सूच्य वस्तु के अंतर्गत आ सकती है, जब कि मृत पुरुष या स्त्री पुनः जीवित हो उठे । हमारे यहाँ नाटकों का उद्देश्य अर्थ, धर्म या काम की प्राप्ति है; अर्थात् अभिनय में यह दिखाना चाहिए कि जीवन का क्या आदर्श है और वह कैसा होना चाहिए । साथ ही वह सामाजिकों को आनंद देनेवाला भी होना चाहिए । यही मुख्य कारण है कि हमारे यहाँ प्रायः दुःखांत नाटकों का अभाव है । ऊरुभंग नाटक में दुर्योधन की मृत्यु दिखलाने के कारण

उसको कुछ लोग दुःखांत कह सकते हैं; पर ऐसा सिद्धांत स्थिर करने में इस बात का ध्यान नहीं रखा जाता कि दुष्टों का दंड और सज्जनों का उपकार ही हिंदुओं के जीवन संबंधी सब व्यापारों का अंतिम फल माना जाता है। युरोप के नाटकों में यूनानी नाट्य कला का प्रभाव प्रत्यक्ष देखने में आता है। यूनानी दुःखांत नाटकों का उद्देश मानवी व्यापारों का ऐसा चित्र उपस्थित करना है जिसमें प्रतिकूल स्थिति या भाग्य का विरोध भरसक दिखाया जाय, चाहे इस प्रयत्न का कैसा ही आधिदैविक या मानुषिक विरोध क्यों न उपस्थित हो और चाहे अंत में उसका परिणाम सर्वनाश ही क्यों न हो; परंतु मानवीय उद्योग की महत्ता का चित्र उपस्थित करना ही एक मात्र उद्देश्य माना गया है। हिन्दू विचार में भाग्य मनुष्य से अलग नहीं है। वह उसके पूर्व जन्म के कर्मों का फल मात्र है। यदि किसी ने पूर्व जन्म में बुरे कर्म किए हैं, तो इस जन्म में वह उनका फल भोगेगा, उससे वह किसी अवस्था में बच नहीं सकता। रूपकों के उद्देश्य को ध्यान में रखकर विचार करने से यह स्पष्ट विदित हो जायगा कि जिन बातों का अभिनय करना या सूचना देना भी मना किया गया है वे ऐसी हैं जिन्हें शिष्ट समाज अनुचित और कला की दृष्टि से निंदनीय समझता है। इन्हीं सिद्धांतों में विरोध होने के कारण युरोपीय और भारतीय नाटकों में बड़ा भेद है। भारतीय तो केवल आनंद के लिये अभिनय देखकर और उससे शिक्षा ग्रहण करके जीवन के आदर्श की महत्ता समझते हैं; पर युरोपीय यह जानना चाहते हैं कि सामाजिक जीवन कैसा है। साधारणतः जीवन दुःखमय और सुखमय दोनों होता है, अतएव वहाँ दुखांत और सुखांत दोनों प्रकार के नाटक होते हैं। भारतवर्ष में अब तक लोग दुःखांत नाटकों को देखना नहीं चाहते; और जो नाटक-मंडलियाँ ऐसे नाटकों का अभिनय करती हैं, उन्हें लाभ नहीं होता। दुःखांत नाटकों में केवल यही विशेषता होती है कि उनका प्रभाव अरुंतुद या दुःख-

दायक होने के कारण सुखांत नाटकों की अपेक्षा अधिक स्थायी होता है।

अर्थोपक्षेपक—ऐसी बातें जो दृश्य वस्तु के अंतर्गत आ सकती हैं, अंकों में दिखलानी चाहिएँ; पर इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि उसमें एक दिन से अधिक की घटनाओं का समावेश न हो। यदि यह न हो सकता हो, तो उन्हें इस प्रकार से संक्षिप्त करना चाहिए कि वे काव्य के सौष्ठव को नष्ट न कर सकें। साथ ही अंकों को असंबद्ध न होने देना चाहिए। रचना इस प्रकार करनी चाहिए कि जिसमें एक घटना दूसरी घटना से साधारणतः निकलती हुई जान पड़े। अंकों में वस्तु-विन्यास सम्यक् रीति से होना चाहिए। जहाँ कहीं किसी अंक में किसी कार्य की समाप्ति अथवा किसी फल की प्राप्ति होती जान पड़े, वहाँ कोई बात ऐसी आ जानी चाहिए जो कार्य-व्यापार को अग्रसर करे। परंतु यह आवश्यक नहीं है और न ऐसा प्रायः देखने ही में आता है कि एक अंक के अनंतर दूसरा अंक आ जाय और दोनों में जिन घटनाओं का वर्णन हो, उनके बीच के समय की घटनाओं का उल्लेख ही न हो। प्रायः दो अंकों के बीच में एक वर्ष तक का समय अंतर्हित रहता है। यदि इससे अधिक का समय इतिहासानुमोदित हो, तो नाटककार को उसे घटाकर एक वर्ष या उससे कम का कर देना चाहिए। सामाजिकों को इस अंतर की सूचना देने के लिये शास्त्रकारों ने पाँच प्रकार के दृश्यों का विधान किया है जिन्हें अर्थोपक्षेपक कहते हैं। इन्हीं के द्वारा वे बातें भी प्रकट की जाती हैं जो सूच्य वस्तु में गिनी जाती हैं और जिनका अभिनय करके दिखाना शास्त्रानुमोदित नहीं है। ये पाँचों अर्थोपक्षेपक इस प्रकार हैं—

(१) विष्कंभक—जो कथा पहले हो चुकी हो अथवा जो अभी होनेवाली हो इसमें उसकी मध्यम पात्रों द्वारा सूचना दी जाती है या उसका संक्षिप्त वर्णन किया जाता है। यह दो प्रकार का होता है—शुद्ध और संकीर्ण। जब एक अथवा अनेक मध्यम पात्र इसका प्रयोग करते

हैं तब यह शुद्ध कहलाता है, और जब मध्यम तथा नीच पात्रों द्वारा इसका प्रयोग होता है, तब यह संकीर्ण कहा जाता है। शुद्ध विष्कंभक में मध्यम पात्रों का भाषण या वार्तालाप संस्कृत में और संकीर्ण विष्कंभक में मध्यम तथा नीच पात्रों का प्राकृत में होता है। शुद्ध का उदाहरण मालती-माधव के पंचम अंक में कपालकुंडला कृत प्रयोग और संकीर्ण का रामाभिनंद में चपणक और कापालिक कृत प्रयोग है।

(२) प्रवेशक--इसमें भी बीती हुई या आगे होनेवाली बातों की सूचना नीच पात्रों द्वारा दी जाती है। यह दो अंकों के बीच में आता है; अतएव पहले अंक में यह नहीं हो सकता। जो बातें छूट जाती हैं या छोड़ दी जाती हैं, उन्हीं की सूचना इसके द्वारा दी जाती है। इसमें पात्रों की भाषा उत्कृष्ट नहीं होती। जैसे वेणीसंहार के चौथे अंक में दो राक्षसों की बातचीत है। शकुंतला नाटक में विष्कंभक और प्रवेशक दोनों के उदाहरण हैं। तीसरे अंक के आरंभ में विष्कंभक द्वारा कण्व ऋषि का एक शिष्य अपने आश्रम में राजा दुष्यंत के ठहरने की सूचना संस्कृत में देता है और चौथे अंक के प्रवेशक में मछुए और सिपाहियों की बातचीत है।

(३) चूलिका--नेपथ्य से किसी रहस्य की सूचना देना चूलिका है। जैसे महावीरचरित में यह सूचना दी जाती है कि राम ने परशुराम को जीत लिया। रसार्णवसुधाकर में 'खंड चूलिका' का भी उल्लेख है जिसमें एक अंक के रंगमंच पर स्थित एक पात्र नेपथ्य में स्थित दूसरे पात्र से आरंभ में बात करता है; जैसे बाल रामायण के सातवें अंक में।

(४) अंकास्य--इसमें एक अंक के अंत में उसके आगे के अंक में होनेवाली बातों के आरंभ की सूचना पात्रों द्वारा दी जाती है। जैसे महावीरचरित के दूसरे अंक के अंत में सुमंत्र, वशिष्ठ, विश्वामित्र और परशुराम के आने की सूचना देता है और तीसरे अंक का आरंभ इन्हीं तीनों पात्रों के प्रवेश से होता है।

(५) अंकावतार—इसमें एक अंक की कथा दूसरे अंक में बराबर चलती रहती है, केवल अंक के अंत में पात्र बाहर जाकर अगले अंक के आरंभ में पुनः आ जाते हैं। जैसे मालवकाग्निमित्र के पहले अंक के अंत और दूसरे अंक के आरंभ में इसका प्रयोग देख पड़ता है।

अंकास्य और अंकावतार में इतना ही भेद है कि अंकास्य में तो आगे के अंक की बातों की सूचना मात्र दी जाती है और अंकावतार में पूर्व अंक के पात्र अगले अंक में पुनः आकर उसी कार्य-व्यापार को अग्रसर करते हैं। साहित्य-दर्पणकार ने अंकावतार का ऐसा लक्षण लिखा है जो अंकास्य के लक्षण से बहुत कुछ मिलता है। अतः उनको इन दोनों में भ्रम हो जाने की आशंका हुई। इसी से उन्होंने अंकास्य के स्थान पर अंकमुख नाम का एक भिन्न अर्थोपक्षेपक मानकर उसकी व्याख्या इस प्रकार की है—जहाँ एक ही अंक में सब अंकों की अविकल सूचना दी जाय और जो बीजभूत अर्थ का सूचक हो, उसे अंकमुख कहते हैं। जैसे मालतीमाधव के पहले अंक के आरंभ में कामंदकी और अवलोकिता ने भविष्य की सब बातों की सूचना दे दी है। इससे स्पष्ट है कि अंकास्य और अंकमुख में इतना ही भेद है कि पहले में केवल आगे के अंक की कथा सूचित की जाती है और दूसरे में संपूर्ण नाटक की।

इस प्रकार इन पाँचों अर्थोपक्षेपकों द्वारा सूच्य विषयों की सूचना दी जाती है।

नाट्य के अनुरोध से नाटकीय वस्तु के तीन भेद और माने गए हैं—श्राव्य, अश्राव्य और नियत श्राव्य। जो सब पात्रों के सुनने योग्य हो, उस श्राव्य को प्रकाश और जो किसी के सुनने योग्य न हो उसको अश्राव्य या 'स्वगत' कहते हैं। नियतश्राव्य दो प्रकार का होता है—पहला अपवारित और दूसरा जनान्तिक। सामने विद्यमान पात्र की ओर से मुँह फेर कर उसके किसी रहस्य की बात पर उससे छिपाकर कटाक्ष

करने को अपवारित कहते हैं। अपवारित शब्द का अर्थ है छिपाना। दो से अधिक पात्रों की बातचीत के प्रसंग में, अनामिका को छोड़ बाकी तीन उँगलियों की ओट में केवल दो पात्रों के गुप्त संभाषण को जनान्तिक कहते हैं। नाट्य-शास्त्र के अनुसार यह बात मानी गई है कि इस प्रकार के संभाषण को तीसरा नहीं सुनता।

आकाश की ओर देखता हुआ एक ही पात्र सुनने का अभिनय कर जब स्वयं ही प्रश्नों को दोहराता और स्वयं ही उत्तर देता है, तो उसे आकाशभाषित कहते हैं। इससे आगे पीछे की बातों की सूचना दी जाती है।

पूर्वरंग, प्रस्तावना आदि—किसी नाटक की मुख्य कथा को आरंभ करने के पहले कुछ कृत्यों का विधान है। इन्हें पूर्वरंग कहते हैं। इसमें वे सब कृत्य सम्मिलित हैं जिन्हें अभिनय करनेवाले नाटक आरंभ करने के पहले रंग-शाला के विघ्नों को दूर करने के लिये करते हैं। भरत मुनि ने अपने नाट्य-शास्त्र में इन बातों का वर्णन विस्तार से किया है। उनके अनुसार सब से पहले नगाड़ा बजाकर इस बात की सूचना दी जाती है कि अब अभिनय का आरंभ होने वाला है। इसके अनंतर गानेवाले और बाजा बजानेवाले रंगमंच पर आकर अपने यंत्रों आदि को ठीक करते तथा उनके सुर आदि मिला कर उन्हें बजाते हैं। इसके अनंतर सूत्रधार रंगमंच पर फूल छिटकाता हुआ आता है। उसके साथ एक सेवक पानी का पात्र और दूसरा इंद्र की ध्वजा लिए रहता है। सूत्रधार पहले उस जलपात्र से पानी लेकर अपने को पवित्र करता और तब ध्वजा को हाथ में लेकर रंग-मंच पर टहलता तथा स्तुति-पाठ करता है। इस स्तुति-पाठ को नांदी कहते हैं। इसके अनंतर वह उस देवता की स्तुति करता है जिसके उत्सव के उपलक्ष में अभिनय होनेवाला है अथवा राजा या ब्राह्मण की वंदना करता है। नांदी के समाप्त हो जाने पर "रंगद्वार" नामक कृत्य का

आरंभ होता है जिससे अभिनय के आरंभ की सूचना होती है। सूत्रधार श्लोक पढ़ता और इंद्र की ध्वजा की वंदना करता है। फिर पार्वती और भूतों की प्रसन्नता के लिये नृत्य होता है और सूत्रधार, विदूषक तथा सूत्रधार के सेवक में बात चीत होती है। अंत में नाटक के कथानक की सूचना देकर सूत्रधार विदूषक आदि चले जाते हैं। भरत मुनि के अनुसार इसके अनंतर स्थापक का प्रवेश होता है। इसका रूप, गुण आदि सूत्रधार के ही समान होता है और यह अपने वेष से इस बात का आभास देता है कि नाटक का विषय देवताओं से संबंध रखता है अथवा मनुष्यों से। यह सुंदर छंदों द्वारा देवताओं आदि की वंदना करता, नाटक के विषय की सूचना देता हुआ नाटक के नाम तथा नाट्यकार के गुण आदि का वर्णन करता और किसी उपयुक्त ऋतु का कीर्तन करके नाटक का आरंभ करा देता है।

भरत मुनि के पीछे के नाट्यकारों ने इन सब व्यापारों को बहुत सूक्ष्म रूप दे दिया है। धार्मिक कृत्यों का उन्होंने कहीं उल्लेख नहीं किया है। उनके अनुसार अभिनय का आरंभ नांदी-पाठ से होता है, जिसमें देवता, ब्राह्मण तथा राजा की आशीर्वादयुक्त स्तुति की जाती है। इसमें मंगल वस्तु, शंख, चंद्र, चक्रवाक और कुमुद आदि का वर्णन रहता है तथा यह ८ या १२ पदों या पादों (चरणों) का होता है। वास्तव में ऐसी स्तुति को रंगद्वार कहना चाहिए। यह नांदी नहीं है, क्योंकि इसमें तो अभिनय का अवतरण ही हो जाता है। नांदी सो नटों के बिना स्वरूप रचना किए मंगल-पाठ मात्र करने को मानना चाहिए। इसी विचार से किसी किसी नाटक की प्राचीन प्रतियों में इस स्तुति-पाठ के पहले ही यह लिखा मिलता है कि नांदी के अंत में सूत्रधार का प्रवेश होता है जिससे यह स्पष्ट है कि पीछे के नाट्यकार नांदी को केवल मंगल-पाठ ही मानते थे, यद्यपि यह मंगल-पाठ ऐसा होता था जिसमें नाटक के विषय का सूक्ष्म आभास मिल जाता था। जैसे मुद्राराक्षस के

नांदी में छल-कपट की तथा मालतीमाधव के नांदी में शृंगार रस की सूचना मिल जाती है। नांदी पाठ के अनंतर रंगद्वार का आरंभ होता है जिसमें स्थापक आकर काव्य की स्थापना करता है। यदि वर्णनीय वस्तु दिव्य होती है तो देवता का रूप बनकर, यदि अदिव्य होती है तो मनुष्य का वेप धारण करके और यदि मिश्र होती है तो दोनों में से किसी एक का रूप धारण करके आता है। वह वस्तु, बीज, मुख या पात्र की सूचना देता है। यद्यपि शास्त्रों में इन सब विधानों के स्थापक द्वारा किए जाने का नियम है, पर वास्तव में यही देखने में आता है कि सूत्रधार ही इनको करता है। वही नांदी पाठ करता है और जिस उपलक्ष में अभिनय होनेवाला है, उसका उल्लेख करके पारिपार्श्वक या अपनी पत्नी अथवा विदूषक का आह्वान करके बात चीत आरंभ कर देता है; तथा प्रायः किसी ऋतु आदि के वर्णन के साथ कवि तथा उसके नाटक की सूचना देकर प्रधान अभिनय का श्रीगणेश करा देता है। इन कृत्यों का संपादन करने में उसे भारती वृत्ति का अनुसरण करना चाहिए जिसमें दर्शकों का चित्त आकर्षित हो जाय। भारती वृत्ति का विवेचन आगे करेंगे। भारती वृत्ति के चार अंग माने गए हैं—प्ररोचना, वीथी, प्रहसन और आमुख। जहाँ प्रस्तुत की प्रशंसा करके लोगों की उत्कंठा बढ़ाई जाती है, उसे "प्ररोचना" कहते हैं। प्रशंसा चेतन और अचेतन के आश्रय से दो प्रकार की होती है। देशकाल की प्रशंसा अचेतनाश्रय कही जाती है और कथानायक, कवि, सभ्य तथा नटों की प्रशंसा चेतनाश्रय। प्रशसनीय कवि चार प्रकार के होते हैं—उदात्त उद्धत, प्रौढ एवं विनीत। सभ्य भी दो तरह के होते हैं—प्रार्थनीय और प्रार्थक। इनके लक्षण और उदाहरण के लिये देखिए रसार्णव सुधाकर (३।१४५—१५०)। उक्त प्ररोचना संक्षिप्त और विस्तृत भेद से दो प्रकार की होती है। संक्षिप्त—जैसे रत्नावली में सूत्रधार का यह वचन—

"कवि श्रीहर्ष निपुन अति भारो। गुणग्राहक सब सभा मझारो।
वत्सराज कर कथा मनोहर। तापर खेल करहिं हम सुंदर॥
इन चारन में एकहु वाता। होत सकल शुभ फल करि दाता।
हम चारों पाई एक बारा। धन्य आज है भाग हमारा॥"

बालरामायण नाटक की प्ररोचना विस्तृत है। वीथी तथा प्रहसन और उसके अंगों का वर्णन आगे होगा। इस प्रकार उत्कंठा बढ़ाकर वह नटी, पारिपार्श्वक या विदूषक से प्रस्तुत विषय पर विचित्र वक्तियों द्वारा वार्तालाप करता और बड़े कौशल से अभिनय का आरंभ करा देता है। इसे आमुख कहते हैं। आमुख के प्रस्तावना और स्थापना नाम के दो भेद माने गए हैं। जिसमें कतिपय वीथ्यंगों का प्रयोग होता है, उसे प्रस्तावना और जिसमें समस्त वीथ्यंगों का प्रयोग होता है, उसे स्थापना कहते हैं। शृंगार रस के नाटकों में आमुख, वीर और अद्‌भुत रस के नाटकों में प्रस्तावना, तथा हास्य, बीभत्स और रौद्र रस के नाटकों में स्थापना की योजना की जाती है। यह कार्य तीन प्रकार से सम्पन्न किया जा सकता है; अतः इसके तीन अंग हैं—

( ) कथोद्घात—जहाँ सूत्रधार के वचन या उसके भाव को लेकर कोई पात्र कुछ कहता हुआ रंग-मंच पर आ जाता है और अभिनय का आरंभ कर देता है। जैसे रत्नावली में सूत्रधार के इस पद को-

"द्वीपन जलनिधि मध्य सों, अरु दिगंत सों लाय।
मनचाही अनुकूल विधि, छन मँह देत मिलाय॥"

दोहराता हुआ यौगंधरायण रंग-मंच पर आकर अपना कथन आरंभ कर देता है। यह तो सूत्रधार के वचनों ही को लेकर उससे अभिनय का आरंभ करना है। जिसमें केवल उसका भाव लिया जाता है, उसका उदाहरण वेणीसंहार में है। सूत्रधार कहता है—

"निर्वाणवैरदहनाः प्रशमादरीणां
नन्दन्तु पांडुतनयाः सह माधवेन।

रक्तप्रसाधितऽभुवः क्षतऽविग्रहाश्च
स्वस्था भवंतु कुरुराजसुताः सभृत्याः॥"

इस पर भीम यह कहता हुआ आता है—"अरे दुरात्मा, यह मंगल-पाठ वृथा है। मेरे जीते जी धार्तराष्ट्रों का स्वस्थ रहना कैसा ?"

(२) प्रवृत्तक या प्रवर्तक—जहाँ सूत्रधार किसी ऋतु का वर्णन करे और उसी के आश्रय से किसी पात्र का प्रवेश हो। जैसे—

आसादितऽप्रकट निर्मल चन्द्रहासः
प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकांतः।
उत्खाय गाढातमसं घनकालमुग्रं
रामो दशास्यमिव संभृत बन्धुजीवः॥"

इसमें शरत्समय और राम की तुलना करने के कारण शरत्समय के आगम का वर्णन होते ही उसी समय राम का भी प्रवेश होता है।

(३) प्रयोगातिशय—जहाँ सूत्रधार प्रविष्ट होनेवाले पात्र का "यह देखो इनके समान" या "यह तो अमुक व्यक्ति हैं" इत्यादि किसी ढंग से साक्षात् निर्देश करे, उसे प्रयोगातिशय कहते हैं। जैसे मालविकाग्निमित्र के—

शिरसा प्रथम गृहता माज्ञा मिच्छमि परिषदः कर्तुम्।
देव्या इव धारिण्याः सेवादक्षः परिजनोऽयम्॥

इस श्लोक के द्वारा सूत्राधार "मैं परिषद् की आज्ञा को वैसे ही पूरा करना चाहता हूँ जैसे धारिणी देवी की आज्ञा को उनका यह परिजन" यह कहता हुआ परिजन के प्रवेश की सूचना देता है।

अथवा जैसे शाकुन्तल के—

तवास्मि गीतरागेण हारिणा प्रसभं हृतः।
एष राजेव दुष्यन्तः सारङ्गेणातिरंहसा॥

इस श्लोक में सूत्रधार ने अपनी उपमा साक्षात् दुष्यन्त से देकर उसके आने की सूचना दी है।

साहित्यदर्पण में प्रस्तावना के पाँच भेद गिनाए हैं—उद्घातक, कथो-

द्घात, प्रयोगातिशय, प्रवर्तक और अवलगित। उद्घातक का यह लक्षण दिया है—अभिप्रेत अर्थ के बोधन में असमर्थ पदों के साथ अपने अभिलषित अर्थ की प्रतीति कराने के लिये जहाँ और पद जोड़ दिए जायँ, वहाँ उद्घातक प्रस्तावना होती है। जैसे मुद्राराक्षस में सूत्रधार कहता है—

"क्रूरग्रहः सकेतुश्चन्द्रमसंपूर्ण मंडलमिदानीम्
अभिभवितुमिच्छति बलात्... ...."

इस पर नेपथ्य से यह कहता हुआ कि "मेरे जीते जी कौन चंद्रगुप्त का अभिभव करना चाहता है" चाणक्य प्रवेश करता है। कथोद्घात वही है जो ऊपर दिया गया है। प्रयोगातिशय के ऊपर दिए हुए लक्षण से साहित्यदर्पण का लक्षण भिन्न है। साहित्यदर्पण में प्रयोगातिशय का यह लक्षण दिया है—"यदि एक प्रयोग में दूसरा प्रयोग आरंभ हो जाय और उसी के द्वारा पात्र का प्रवेश हो, तो वह प्रयोगातिशय है।" जैसे कुंदमाला में सूत्रधार नटी को बुलाने जा ही रहा था कि उसने नेपथ्य में 'आर्या, इधर इधर' की आवाज सुनी। इस पर यह कहते हुए कि 'कौन आर्या को पुकारकर मेरी सहायता करता है' उसने नेपथ्य की ओर देखा और यह पद्य पढ़कर लक्ष्मण और सीता के प्रवेश की सूचना दी—

लंकेश्वरस्य भवने सुचिरं स्थितेति
रामेण लोकपरिवादभयाकुलेन।
निर्वासितां जनपदादपि गर्भगुर्वी
सीतां वनाय परिकर्षति लक्ष्मणोऽयम्॥

जहाँ एक प्रयोग में किसी प्रकार के सादृश्य आदि की उद्भावना के द्वारा किसी पात्र के प्रवेश की सूचना दी जाय, उसे अवलगित कहते हैं। जैसे शकुंतला में सूत्रधार ने यह कहकर

"तवास्मि गीतरागेण हरिणा प्रसभं हृतः"
एष राजेव दुष्यंतः सारंगेणातिरंहसा ॥"

दुष्यंत के प्रवेश की सूचना दी है।

इससे स्पष्ट है कि दशरूपक का 'प्रयोगातिशय' वही है जो साहित्य-दर्पण का 'अवलगित' है। कथोद्घात और उद्घातक में इतना ही भेद है कि एक में सूत्रधार के वचन या भाव को लेकर पात्र का प्रवेश होता है और दूसरे में सूत्रधार के अन्यार्थक कथन को अपने मन के अर्थ में लेता हुआ पात्र आता है। दोनों में जो कुछ अंतर है, वह यही है।

नखकुट्ट का कहना है कि नेपथ्य का वचन या आकाशभाषित सुनकर उसके आशय पर भी नाटकों में पात्रों का प्रवेश कराया जाता है।

वृत्तियाँ और उनके अंग—वृत्ति शब्द का साधारण अर्थ है बरताव, काम अथवा ढंग। नाट्यशास्त्र में नायक नायिका आदि के विशेष प्रकार के बरताव अथवा ढंग को वृत्ति कहते हैं। प्रवृत्ति, वृत्ति तथा रीति ये तीन साहित्य विद्या के अंग माने गए हैं। काव्यमीमांसा में इनका वर्णन राजशेखर ने इस प्रकार किया है—"तत्र वेषविन्यास-क्रमः प्रवृत्तिः, विलासऽविन्यासऽक्रमो वृत्तिः, वचनविन्यासऽक्रमो रीतिः।" अर्थात् विशेष प्रकार की वेश-रचना को प्रवृत्ति, विलास-प्रदर्शन को वृत्ति और वचन-चातुरी को रीति कहते हैं। 'साहित्यदर्पण' के टीकाकार तर्कवागीश ने "वर्त्तते रसोऽनयेति वृत्तिः"—जिसके कारण रस वर्तमान हो-जो रसास्वाद का प्रधान कारण हो-वह वृत्ति है—इस प्रकार का व्युत्पत्ति-लभ्य अर्थ दिखलाया है।

अब यह देखना चाहिए कि "विलासऽविन्यासऽक्रमो वृत्तिः" इस वाक्य के विलास शब्द का क्या अर्थ है। विलास नायक के गुण को कहते हैं। 'साहित्य-दर्पण' में उसका यह लक्षण लिखा है—

"धीरा दृष्टिर्गतिश्चित्रा विलासे सस्मितं वचः"

अर्थात् विलास के चिह्न हैं—गम्भीर दृष्टि से देखना, निराली

चाल से चलना और मुस्कराकर बातें करना। एवं विलास नायिका के स्वाभाविक अलंकारों में से भी एक है। वह है—

यानस्थानासनादीनां मुखनेत्रादिकर्मणाम्।
विशेषस्तु विलासः स्यादिष्टसंदर्शनादिना।

भाव यह है कि प्रियतम के दर्शन मिलने पर जो आने जाने में, उठने बैठने में, हँसने बोलने में, देखने सुनने में एक प्रकार का निरालापन आ जाता है, एक तरह की अदा पैदा हो जाती है, उसे विलास कहते हैं। इन लक्षणों के अनुसार बोल चाल, उठक बैठक के अनोखे ढंग को ही विलास कहना उचित जान पड़ता है।

अतः इससे यह सिद्ध हुआ कि नाट्य में यथार्थता और उसके द्वारा सजीवता लाने का प्रयत्न करते हुए नट और नटी सभी पात्रों के वाचिक, आंगिक, आहार्य और सात्विक चारों प्रकार के अभिनय की और प्रसंगानुकूल दृश्यों के प्रदर्शन की उस विशेषता को वृत्ति कहते हैं जो नाटकीय रस की अनुभूति में मुख्य सहायक हो। यह वृत्ति चार प्रकार की होती है-भारती, कैशिकी, सात्वती और आरभटी। इनके विषय में भरत मुनि ने लिखा है—

एवमेता बुधैर्ज्ञेया वृत्तयो नाट्यमातरः।

अर्थात् इन वृत्तियों को नाट्य की माताएँ समझना चाहिए। इनमें से पहली शब्द-वृत्ति और शेष तीन अर्थ-वृत्तियाँ कही जाती हैं। पहली को शब्द-वृत्ति इसलिये कहते हैं कि उसमें वाचिक अभिनय की ही अधिकता रहती है, उसकी योजना के लिये किसी विशेष दृश्य की अवतारणा करने की आवश्यकता नहीं होती। अन्य वृत्तियों में नृत्य, गीत, वाद्य तथा भिन्न भिन्न रसों के अनुरूप भाव और दृश्य भी दिखलाए जाते हैं। भारती ऋग्वेद, सात्वती यजुर्वेद, कैशिकी सामवेद और आरभटी अथर्ववेद से उत्पन्न मानी गई है। इसका कारण यह है कि ऋग्वेद के कई सूक्तों में संलाप के ऐसे प्रसंग हैं जिनमें सूक्ष्म रूप से

नाटक का बीज निहित है। जैसे सरमा और पणियों का संवाद (ऋ० १०।१०८), विश्वामित्र और नदियों का संवाद (ऋ० ३।३३), इत्यादि अतएव भारती वृत्ति का यह लक्षण किया गया है—

भारतीसंऽस्कृतऽप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।

—दशरूपक ३–५।

अर्थात् जिसके प्रयोगकर्ता नट हों (नदियाँ नहीं), जिसमें संस्कृत की प्रचुरता हो, उस वाग्व्यापार–बातचीत–को भारती कहते हैं। लक्षण का वाग्व्यापार शब्द ध्यान देने योग्य है। यों ही सत्त्व, शौर्य, दया आदि सात्त्विक भावों से सम्बन्ध रखनेवाली सात्वती की देवमन्त्रों से पूर्ण यजु से, नृत्य-गीत–बहुल कैशिकी की संगीतमय साम से और वध, बन्ध, संग्राम, क्रोध, इन्द्रजाल माया आदि उद्धत तथा भीषण भावों से भरी आरभटी की मारण, मोहन उच्चाटन आदि आभिचारिक क्रियाओं के वर्णन से व्याप्त अथर्व से उत्पत्ति मानना उचित ही है।

भारती वृत्ति और वीथ्यंग—इस विवरण से संबंध रखता हुआ भारती वृत्ति और वीथ्यंगों का विषय है जिसमें बहुत गड़बड़ दिखाई पड़ती है। जहाँ तक पता लग सका, है नाट्यशास्त्र के किसी आचार्य ने इसको स्पष्ट करने का उद्योग नहीं किया है। भारती वृत्ति का लक्षण दशरूपक में यह दिया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नटाश्रयः।
भेदैः प्ररोचना युक्तैर्वीथी प्रहसनामुखैः।

अर्थात भारती वृत्ति वह है जिसमें संस्कृत में वाग्व्यापार हो, जो नट के आश्रित हो तथा जिस के प्ररोचना के अतिरिक्त वीथी, प्रहसन और आमुख भेद होते हैं।

साहित्यदर्पण में इसका लक्षण इस प्रकार दिया है—

भारती संस्कृतप्रायो वाग्व्यापारो नराश्रयः।
तस्याः प्ररोचना वीथी प्रहसनामुखे ॥

अंगान्यत्रोन्मुखीकारः प्रशंसातः प्ररोचना ।"

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में भारती वृत्ति का वर्णन इस प्रकार किया है—

या वाक्प्रधानं पुरुषोपयोज्या
स्त्रीवर्जिता संस्कृत वाक्ययुक्ता ।
स्वनामधेयैर्भरतैः प्रयुक्ता
सा भारती नाम भवेत्तु वृत्तिः ॥

अब यदि तीनों लक्षणों को मिलाया जाय, तो यह स्पष्ट हो जाता है कि भारती वृत्ति उस नाट्य शैली या भाषा-प्रयोग की विशेषता को कहते हैं, जिसका प्रयोग भरत अर्थात नट लोग करते हैं (नटियाँ नहीं) और जिसमें संस्कृत भाषा के वाक्यों की अधिकता रहती है । यदि यह लक्षण ठीक माना जाय, तो साहित्यदर्पण का "नराश्रयः" पाठ ठीक न होकर "नटाश्रयः" पाठ ही ठीक जान पड़ता है; क्योंकि अनुमानतः प्रतीत होता है कि आरंभ में नट लोग सभासदों को प्रसन्न करने तथा उनके मन को मुग्ध करके अभिनय की ओर आकृष्ट करने के लिये इस का प्रयोग करते थे । पीछे से नाटक के और और अंशों में भी इस के प्रयोग का विधान होने लगा, जिससे इसके मूल को बदल कर "नटाश्रयः" का "नराश्रयः" पाठ माना गया । प्ररोचना और आमुख को इसका अंग मानने के कारण भी यही सिद्धांत निकलता है कि आरंभ में नट लोगों के द्वारा नाटक की प्रस्तावना के समय ही इसका प्रयोग होता था । यह कहा जा चुका है कि 'प्ररोचना' प्रस्तुत विषय की प्रशंसा करके लोगों की उत्कंठा बढ़ाने के कृत्य को कहते हैं; और आपस की बात चीत के द्वारा कौशलपूर्वक मुख्य अभिनय के आरंभ कराने के कृत्य को आमुख कहते हैं । अतएव इन दोनों का आरम्भ के समय प्रयोग होना ठीक ही है । पर अब प्रश्न यह है कि प्रहसन और वीथी दोनों किस प्रकार प्रस्तावना के लिये उपयुक्त भारती वृत्ति के अंग माने गए हैं । प्रहसन तो एक प्रकार का रूपक माना गया

है जिसमें एक ही अंक होता है तथा जिसमें हास्य रस की प्रधानता रहती है। वीथी भी एक प्रकार का रूपक है। उसमें भी एक ही अंक होता है तथा शृंगार रस की प्रधानता होती है। प्रहसन और वीथी दोनों में वृत्तांत कवि-कल्पित होता है। ऐसा जान पड़ता है कि आरंभ में प्रहसन और वीथी भी प्रस्तावना के अंग मात्र थे; अर्थात् हँसी या मसखरे-पन की बातें कहकर अथवा उनके विशेष प्रयोग से युक्त किसी छोटे से कथानक को लेकर तथा शृंगार रसयुक्त और विचित्र उक्तिप्रत्युक्ति से पूर्ण किसी कल्पित बात को लेकर अभिनय देखनेवालों का मन प्रसन्न किया जाता था। ऐसा जान पड़ता है कि प्रस्तावना के समय अनेक उपायों से सामाजिकों के चित्त को प्रसन्न करके अभिनय देखने की ओर उनकी रुचि को उत्कंठित और उन्मुख करना नटों का बड़ा कर्त्तव्य समझा जाता था। पीछे से प्रहसन और वीथी रूपक के स्वतंत्र भेद-विशेष माने जाने लगे। अथवा यह भी हो सकता है कि जिस प्रकार आज कल कभी कभी किसी अन्य रस के नाटक के आरंभ, मध्य अथवा अन्त में दर्शकों के मनोविनोद के लिये प्रहसन (Farce) का खेल किया जाता है, उसी प्रकार प्राचीन समय में भी, विशेषतः नाटकों के आरम्भ में और कभी कभी बीच बीच में भी, केवल प्रहसन ही के नहीं किन्तु तत्सदृश वीथी के भी अंगों का प्रयोग होता था। अतः वीथी और प्रहसन को अन्य नाटकों के अंग एवं स्वतंत्र रूपक मानने में कोई आपत्ति नहीं देख पड़ती। वीथी में वीथ्यंगों का प्रयोग आवश्यक और अन्य रूपकों में उनका प्रयोग ऐच्छिक माना गया है। अतः यह नियम नहीं है कि सभी रूपकों में प्रहसन अथवा वीथी के अंगों का प्रयोग होना ही चाहिए। वीथ्यंग १३ माने गए हैं जिनका विवरण इस प्रकार है—

(१) गूढ़ार्थक शब्द तथा उनके पर्यायवाची अन्य शब्दों का अर्थ समझने के लिये जो प्रश्नोत्तरमाला हो अथवा वस्तु विशेष के ज्ञान के लिये जो प्रश्नोत्तरमाला हो, उसे उद्घात्यक कहते हैं।

(२) अवलगित—जहाँ एक के साथ सादृश्यादि के कारण दूसरे कार्य का साधन हो या प्रस्तुत व्यापार में कोई दूसरा ही व्यापार हो जाय।

साहित्यदर्पणकार ने इन दोनों को प्रस्तावना के भेदों के अंतर्गत माना है और वीथ्यंगों में भी इनका उल्लेख किया है।

(३) प्रपंच—असत्कर्मों के कारण एक दूसरे की उपहास-पूर्ण प्रशंसा।

(४) त्रिगत—जिसमें शब्दों की श्रुतिसमता (एक से उच्चारण) के कारण अनेक अर्थों की कल्पना हो। इसकी सत्ता पूर्वरंग में नटादि तीन पात्रों के संलाप से होती है।

(५) छलन—देखने में प्रिय पर वास्तव में अप्रिय वाक्यों द्वारा धोखा देना। अन्य शास्त्रकार के मत से किसी के कार्य को लक्ष्य करके धोखा देनेवाले हास्य अथवा रोषकारी वचन बोलना छलन है।

(६) वाक्केली—किसी वक्तव्य बात को कहते कहते रुक जाना अथवा दो तीन व्यक्तियों की हास्य-जनक उक्ति प्रत्युक्ति। कुछ लोगों का कहना है कि जहाँ अनेक प्रश्नों का एक ही उत्तर हो, उसे भी वाक्केली कहते हैं।

(७) अधिवल—दो व्यक्तियों का बढ़ बढ़कर बातें करना।

(८) गंड—प्रस्तुत विषय से संबंध रखने पर भिन्न अर्थ का सूचक त्वरायुक्त वाक्य।

(९) अवस्यंदित—सीधे सीधे कहे हुए किसी वाक्य का दूसरे ही प्रकार से अर्थ लगा लेना।

(१०) नालिका—ऐसी पहेली जो हास्यपूर्ण हो और जिसका भाव गूढ़ हो।

(११) असत्प्रलाप—बे-सिर पैर की बात कहना अथवा ऐसा उत्तर देना जो असंबद्ध हो; या मूर्ख के आगे ऐसे हित-वचन कहना जिन्हें वह न समझता हो।

(१२) व्याहार—दूसरे का प्रयोजन सिद्ध करने के लिये हास्य-पूर्ण और क्षोभकारी वचन कहना।

(१३) मृदव—जहाँ दोष गुण और गुण दोष समझ पड़ें।

एक विचित्र बात है। इन वीथ्यंगों के जितने उदाहरण नाट्य ग्रंथों में मिलते हैं, उनमें से कोई ऐसा नहीं है जो वीथी नामक किसी रूपक-विशेष से लिया गया हो और जिसमें इन सब अंगों का प्रयोग दिखाया गया हो, यद्यपि मालविका और माधवी नाम की दो वीथियों का उल्लेख मिलता है। इसका कारण उन वीथियों की अप्रसिद्धि ही जान पड़ती है। वीथ्यंगों का जो विवरण ऊपर दिया गया है, उससे स्पष्ट है कि ये सब ऐसे प्रयोग हैं जिनसे प्रायः हास्य रस का उद्रेक होता है और जो सुननेवालों के हृदयों को चमत्कृत करके आनंद में निमग्न कर देते हैं। अतएव हमारे विचार में आरम्भ में वीथी और प्रहसन प्रस्तावना के ऐसे अंशों को कहते थे जिनमें हँसी या मसखरेपन की बातें अधिक रहती थीं और जो सामाजिकों के चित्त को प्रसन्न करके अभिनय देखने की ओर उनकी रुचि को उत्कंठित करने में समर्थ होते थे। धनंजय ने अपने दशरूपक में इन १३ वीथ्यंगों का उल्लेख करके स्पष्ट लिख भी दिया है—

एषामन्यतमेनार्थं पात्रं चाक्षिप्य सूत्रभृत्।
प्रस्तावनान्ते निर्गच्छेत्ततो वस्तु प्रपंचयेत् ॥

अर्थात् इन सब (वीथ्यंगों) के द्वारा सूत्रधार अर्थ और पात्र का प्रस्ताव करके प्रस्तावना के अंत में चला जाय और तब वस्तु का प्रपंचन आरंभ हो। साहित्यदर्पण-कार के अनुसार वीथी के अंग ही प्रहसन के भी अंग हो सकते हैं। हाँ यह भेद अवश्य है कि वीथी में उनकी योजना अवश्य होनी चाहिए; पर प्रहसन में उनकी सत्ता ऐच्छिक होती है। किंतु रसार्णव-सुधाकर में प्रहसन के इनसे भिन्न दस और ही अंग माने गए हैं। यथा—अवलगित, अवस्कन्द, व्यवहार,

विप्रलम्भ, उपपत्ति, भय, अनृत, विभ्रान्ति, गद्गदवाणी और प्रलाप। इनके लक्षण और उदाहरण के लिये देखिए रसा० (३।२७०)।

इस प्रकार प्रस्तावना द्वारा मुख्य अभिनय का आरंभ होना चाहिए। मुख्य अभिनय में सब से आवश्यक बात अंतिम फल की प्राप्ति है। इसके स्थिर करने में नाटककार को बड़े सोच विचार से काम लेना चाहिए। जैसा कि हम पहले कह चुके हैं, नाटक केवल आमोद-प्रमोद और मन-बहलाव के उपादान हैं। इनसे ये सब बातें तो प्राप्त होती ही हैं और होनी भी चाहिएँ, पर साथ ही ये उच्च, उपकारी तथा उपदेशमय आदर्श का चित्र भी उपस्थित करते हैं। जीवन की व्याख्या इनके द्वारा अवश्य होती है, पर जीवन कैसा होता है, यही उद्देश्य नहीं होना चाहिए; वरन यह दिखाना चाहिए कि जीवन कैसा होना चाहिए और उत्तम से उत्तम कैसा हो सकता है। इसी लिये कहा गया है कि अभिनय द्वारा अर्थ, धर्म और काम की प्राप्ति होती है। फल का निश्चय हो जाने पर नाटककार को अवस्थाओं, अर्थ-प्रकृतियों तथा संधियों के अनुसार विचारपूर्वक उनकी रचना करनी चाहिए।

संध्यंतर—कुछ शास्त्रकारों का मत है कि संधियों के अंतर्गत उपसंधियाँ, अन्तर संधियाँ या संध्यंतर भी होते हैं। इनका उद्देश्य भी व्यापार-शृंखला की शिथिलता को दूर कर उसे अग्रसर करना और चमत्कार लाना होता है। ये अंतर संधियाँ २१ बतलाई गई हैं; यथा—(१) साम—अपनी अनुवृत्ति को प्रकाशित करनेवाला प्रिय वाक्य, (२) दान—अपने प्रतिनिधि स्वरूप भूषणादि का समर्पण, (३) भेद—कपट वचनों द्वारा सुहृदों में भेद डालना, (४) दंड—अविनय को सुन या देखकर डाँटना, (५) प्रत्युत्पन्नमति, (६) वध—दुष्ट का दमन, (७) गोत्रस्खलित—नाम का व्यतिक्रम, (८) ओज—निज शक्ति के सूचक वचन, (९) धी—इष्ट के सिद्ध न हो जाने तक चिंता, (१०) क्रोध, (११) साहस, (१२) भय, (१३) माया, (१४) संवृत्ति—अपने कथन को

छिपाना', (१५) भ्रांति, (१६) दूत्य, (१७) हेत्ववधारण–किसी हेतु से कोई निश्चय, (१८) स्वप्न, (१९) लेख, (२०) मद, (२१) चित्र। इनमें से स्वप्न, लेख और चित्रादि का प्रयोग प्रायः देखने में आता है।

आरंभ में कार्य-व्यापार पर ध्यान देकर विष्कंभक का प्रयोग करना चाहिए; अर्थात् वस्तु का जो विशेष भाग अपेक्षित तो हो पर साथ ही नीरस भी हो, उसे छोड़ कर शेष अंश का अभिनय दिखाना चाहिए और उस अपेक्षित अंश को विष्कंभक में ले जाना चाहिए। परंतु जहाँ सरस वस्तु का आरंभ से ही प्रयोग हो सकता हो, वहाँ आमुख में की गई सूचना का ही आश्रय लेकर कार्य आरंभ करना चाहिए।

अंक में नायक के कृत्यों का प्रत्यक्ष वर्णन रहता है, अतएव उसे रस और भावपूर्ण होना चाहिए। अंकों में अवांतर कार्य तो पूरा हो जाना चाहिए, किंतु बिंदु लगा रहना चाहिए; अर्थात् मुख्य कथा की समाप्ति नहीं होनी चाहिए। एक अंक में एक ही दिन की कथा आनी चाहिए। एक के अनंतर दूसरे अंक की रचना अवस्था, अर्थ-प्रकृति, संधि, उसके अंग तथा अर्थोपक्षेपकों को ध्यान में रखकर करनी चाहिए। जिस काव्य में पाँच अंक तक होते हैं, उसे नाटक और जिसमें इससे अधिक दस अंक तक होते हैं, उसे महानाटक कहते हैं।

कुछ शास्त्रकारों ने अंक के मध्य में आनेवाले अंक को गर्भांक कहा है और लिखा है कि इसका प्रयोग रस, वस्तु और नायक का उत्कर्ष बढ़ाने के लिये होना चाहिए। इसमें रंगद्वार और आमुख आदि अंग होते हैं तथा बीज और फल का स्पष्ट आभास होता है। यह देखने में आता है कि किसी नाटक के अंतर्गत जो दूसरा नाटक होता है, वह गर्भांक में दिखाया जाता है; जैसे प्रियदर्शिका के तीसरे अंक में वासवदत्ता का अपनी सखियों द्वारा वत्सराज से अपने पूर्व प्रेम-कृत्यों का अभिनय कराना; अथवा उत्तर-रामचरित में वाल्मीकि

ऋषि का राम-लक्ष्मण के सम्मुख सीता के दूसरे वनवास की कथा अप्सराओं द्वारा दिखाना; अथवा बालरामायण में सीता-स्वयंवर का प्रदर्शन।

भाषा-प्रयोग—नाट्य शास्त्रों में इस बात पर भी विचार किया गया है कि पात्रों को किस भाषा में बोलना चाहिए। साधारणतः दो विभाग किए गए हैं—संस्कृत और प्राकृत। अनीच पुरुषों, संन्यासिनियों, योगियों और कहीं कहीं महादेवी और मंत्रियों की कन्याओं तथा वेश्याओं के लिये संस्कृत में बोलने का विधान है। रसार्णव सुधाकर में लिखा है कि संस्कृत का प्रयोग देवताओं, मुनियों, नायकों, ब्राह्मणों, क्षत्रियों, वणिकों, शूद्रों, मंत्रियों, कंचुकियों, संन्यासियों, विट आदि धूर्तों तथा योगियों को करना चाहिए। उसमें यह भी लिखा है कि कहीं कहीं रानियों वेश्याओं, मंत्रि-कन्याओं, पढ़ी लिखी स्त्रियों, योगिनियों, अप्सराओं तथा शिल्पकारिणियों को संस्कृत भाषा के प्रयोग की आज्ञा दी गई है। प्राकृत के अनेक भेद और उपभेद मानकर उनके प्रयोगों के नियम दिए गए हैं। साधारणतः स्त्रियों को प्राकृत में ही बोलना चाहिए। मध्यम और अधम लोगों को शौरसेनी, नीचों को मागधी, राक्षसों तथा पिशाचों को पैशाची और चांडालों आदि को अपभ्रंश बोलनी चाहिए। इन नियमों में बहुत कुछ मतभेद है। साहित्यदर्पण-कार ने एक एक जाति के लोगों के लिये एक एक भाषा तक का निर्देश कर दिया है। पर गिनती गिनाते गिनाते हारकर यह कह दिया है कि "यद्देश्यं नीच पात्रं तु तद्देश्यं तस्य भाषितं।" अर्थात् नीच पात्र जिस देश का हो, उसकी भाषा भी उसी देश की होनी चाहिए। "कार्यतश्चोत्तमादिना कार्यो भाषा विपर्ययः।"—उत्तम पात्रों की भी भाषा प्रयोजनानुसार बदल देनी चाहिए। इससे यही सिद्धांत निकलता है कि आचार्यों का यही उद्देश्य था कि अभिनय में बातचीत ऐसी हो जिसमें वास्तविकता का अनुभव होने लगे। भाषा-विभाग के मूल में यही सिद्धान्त

निहित है। पर आगे चलकर नाटक लिखनेवाले लकीर के फकीर हो गए; और बोलचाल की भाषा में कैसा परिवर्तन हो गया, इसका ध्यान न रख कर उसी पुरानी पद्धति का अनुकरण करते रहे।

निर्देश परिभाषा—साधारणतः सब लोग सब का नाम लेकर नहीं बुला सकते। इस में सदा से बड़ों, छोटों और बराबरवालों का विचार रखा गया है और शिष्टता तथा विनय के अनुरोध से सब देशों में अपने अपने ढंग की प्रथा प्रचलित है। हमारे नाट्यकारों ने भी इस प्रथा का आदर किया है और इसके नियम बना दिए हैं। ये नियम तीन विभागों में विभक्त हो सकते हैं; अर्थात् पूज्य, कनिष्ठ और सदृश लोगों में व्यवहारोपयोगी निर्देश शब्द।

पूज्य के प्रति निर्देश वचन

निर्देशक	निर्दिष्ट	निर्देश वचन
	देवता, मुनि, संन्यासी बहुश्रुत	भगवन्
	इनकी स्त्रियाँ	भगवती
	ब्राह्मण	आर्य
	वृद्ध	तात
	उपाध्याय	आचार्य
	गणिका	अज्जुका
	भूपाल	महाराज
	विद्वान्	भाव
ब्राह्मण	नराधिपः	नाम लेकर
परिजन	नृपति	भट्ट, भट्टारक
भृत्य, प्रजा	,,	देव

मुनि	नृपति	राजा अथवा अपत्य प्रत्यय लगाकर; जैसे पृथा के पुत्र को पार्थ, गंगा के पुत्र को गांगेय
विदूषक	राजा	सखे, राजन्
ब्राह्मण	सचिव	अमात्य, सचिव
सारथि	रथी	आयुष्मन्, आर्य
	साधु महात्मा	तपस्विन्, साधो
	युवराज	स्वामिन्
	कुमार	भर्त्तृदारक
	भगिनीपति	आवुत्त
	सेनापति	श्याल
परिचारक	रानी	भट्टिनी, स्वामिनी देवी, भट्टारिका
राजा	महिषी	देवी
,,	अन्य रानियाँ	प्रिया
पुत्र	पिता	तातपाद
,,	माता	अंब
	ज्येष्ठ भ्राता	आर्य
	मातुल	,,

सदृश के प्रति निर्देश वचन

पुरुषों द्वारा	पुरुष	वयस्य
स्त्रियों ,,	स्त्री	हला, सखी

कनिष्ठ के प्रति निर्देश वचन

गुरुजन	सुत, शिष्य आदि	दीर्घायु, वत्स, पुत्र, तात

गुरुजन	अन्यजन	
		शिल्प अथवा अधिकार का नाम लेकर, या भद्र, भद्रमुख
	नीच	हंडे
	अति नीच	हंजे
स्वामी	भृत्य	नाम लेकर

नाम-परिभाषा—नाट्य शास्त्रों में इस बात का भी विवेचन किया गया है कि कैसे पात्र का कैसा नाम रखना चाहिए। जैसे वेश्याओं के नाम ऐसे रखने चाहिएँ जिनके अंत में दत्ता, सिद्धा या सेना शब्द हों; जैसे वसंतसेना। रसार्णव-प्रभाकर में इसका विस्तृत वर्णन है।

रंग-शाला—इस संबंध में बड़ा मतभेद है कि प्राचीन समय में रंगशालाएँ बनती थीं या नहीं। शास्त्रकारों ने जो कुछ विवेचन किया है, उससे यह पता चलता है कि नाटक अभिनय के लिये रचे जाते थे। पर साथ ही ऐसे नाटक भी होते थे जो कहने के लिये तो दृश्य काव्य के अंतर्गत गिने जा सकते थे, पर वास्तव में जिनका आनंद पढ़ने में ही आता था। पद पद पर श्लोकों की भरमार सजीवता और स्वाभाविकता का मूलोच्छेद करनेवाली होती है। इस अवस्था में इस सिद्धांत पर पहुँचे बिना संतोष नहीं होता कि कुछ नाटक तो अवश्य अभिनय के लिये रचे जाते थे; पर साथ ही ऐसे नाटकों की भी रचना होती थी जो केवल पढ़े जाते थे और जिनका अभिनय या तो हो हो नहीं सकता था, या यदि होता भी होगा तो वह अस्वाभाविक जान पड़ता होगा। पर इसमें संदेह नहीं है कि प्राचीन समय में रंगशालाएँ बनाई जाती थीं। भरत मुनि ने अपने नाट्य शास्त्र में यह बतलाया है कि रंगशलाएँ, जिनको उन दिनों में प्रेक्षागृह कहते थे, कितने प्रकार की होती थीं और किस प्रकार बनाई जाती थीं। भरत

मुनि के अनुसार प्रेक्षागृह तीन प्रकार के होते थे--विकृष्ट, चतुरस्र और त्र्यस्र। विकृष्ट प्रेक्षागृह सब से अच्छा होता है और वह देवताओं के लिये है। उसकी लंबाई १०८ हाथ होती है। चतुरस्र प्रेक्षागृह मध्यम श्रेणी का होता है और उसकी लंबाई ६४ हाथ तथा चौड़ाई ३२ हाथ होती है। त्र्यस्र त्रिकोण या त्रिभुजाकार होता है और वह निकृष्ट माना जाता है। चतुरस्र राजाओं, धनवानों तथा सर्वसाधारण के लिये होता है और त्र्यस्र में केवल आपस के थोड़े से मित्र या परिचित बैठकर अभिनय देखते हैं। सभी प्रकार के प्रेक्षागृहों का आधा स्थान दर्शकों के लिये और आधा अभिनय तथा पात्रों के लिये नियत रहता है। रंग-मंच का सब से पिछला भाग रंगशीर्ष कहलाता है जो छः खभों पर बना होता है और जिसमें नाट्यवेद के अधिष्ठाता देवता का पूजन होता है। इसमें से नेपथ्य गृह * में जाने के लिये दो द्वार होते हैं।

रंगमंच के खंभों और दीवारों आदि पर बहुत अच्छी नकाशी और चित्रकारी होनी चाहिए और स्थान स्थान पर वायु तथा प्रकाश आने के लिये झरोखे होने चाहिएँ। रंगमंच ऐसा होना चाहिए जिसमें आवाज अच्छी तरह गूँज सके। वह दो खंड का भी होता है। ऊपर-वाले खंड में स्वर्ग आदि के दृश्य दिखाए जाते हैं। रंगमंच के खंभों पर नकाशी के साथ पशुओं, पक्षियों आदि के चित्र खुदे होने चाहिएँ और भीतों पर पहाड़ों, जंगलों, नदियों, मंदिरों, अट्टालिकाओं आदि के सुंदर चित्र बने होने चाहिएँ। भिन्न भिन्न वर्णों के दर्शकों के लिये भिन्न भिन्न स्थान होने चाहिएँ। ब्राह्मणों के बैठने का स्थान सब से

* कुछ विद्वानों ने नेपथ्य शब्द की व्युत्पत्ति पर विचार करके यह सिद्धांत निकाला है कि यह रंगमंच से नीचा होता था। यदि यह ठीक माना जाय तो पात्रों के रंगमंच पर प्रवेश के लिये 'रंगावतरण' शब्द इसके ठीक विपरीत भाव को प्रकट करेगा। ऐसा ज्ञात पड़ता है कि रंगमंच के बनाने में आवश्यकतानुसार नेपथ्य बना लिया जाता था। नीचाई ऊँचाई के किसी सर्वमान्य और आवश्यक नियम का पालन नहीं होता था।

आगे होना चाहिए और संकेत के लिये वहाँ सफेद रंग के खंभे होने चाहिएँ। उनके पीछे क्षत्रियों के बैठने का स्थान हो जिसके खंभे लाल हों। उनके पीछे उत्तर-पश्चिम में वैश्यों के लिये और उत्तर-पूर्व में शूद्रों के लिये स्थान हो, और इन दोनों स्थानों के खंभे क्रमशः पीले और नीले हों। थोड़ा सा स्थान अन्य जातियों के लिये भी रक्षित रहना चाहिए। यदि अधिक स्थान की आवश्यकता हो तो ऊपर दूसरा खंड भी बना लेना चाहिए। इस विवरण से यह स्पष्ट विदित होता है कि भारतवर्ष में रंगशाला आदि के बनाने के विधान थे। प्रायः जब राज-महलों में नाटकों का अभिनय होता होगा, तब साधारणतः रंगमंच की रचना कर ली जाती होगी।

यह तो भारतीय रंगशाला की अवस्था थी। ऐसा विदित होता है कि पीछे से इन रंगशालाओं के निर्माण के ढंग पर विदेशीय प्रभाव भी पड़ा। बहुत दिन हुए, सरगुजा रियासत के रामगढ़ स्थान में दो पहाड़ी गुफाओं का पता लगा था। उनमें से एक गुफा में एक प्रेक्षागृह बना है जो कई बातों में यूनानी नाटक-शालाओं से मिलता है। उस प्रेक्षागृह में कुछ चित्रकारी भी है जो बहुत दिनों की होने के कारण बहुत कुछ मिट गई है; और जो कुछ अंश बचा है, उससे विदित होता है कि वह अंश कई बातों में भरत मुनि के नाट्य शास्त्र में बतलाई हुई चित्रकारी से मिलता है। प्रेक्षागृह के संबंध में पास की दूसरी गुफा के भीतर अशोक लिपि में एक लेख भी खुदा हुआ है। पुरातत्त्ववेत्ताओं का मत है कि वह शिलालेख और गुफा ईसा से कम से कम तीन सौ वर्ष पहले की है। शिलालेख से पता चलता है कि वह गुफा सुतनुका नामक किसी देवदासी ने नर्त्तकियों के लिये बनवाई थी। ऐसा अनुमान होता है कि उन दिनों जहाँ भारतवर्ष में देशी ढंग के अनेक प्रेक्षा-गृह बनते थे, वहाँ किसी नर्त्तकी ने यूनानी ढंग की नाट्यशाला भी, एक नई चीज समझकर बनवा ली होगी। पहली गुफा में तो नाटक

वार्षिक अधिवेशन

काशी नागरी प्रचारिणी सभा का ३३ वाँ वार्षिक अधिवेशन रविवार ६ ज्येष्ठ १६८३ (२३ मई १६२६) को संध्या के ६ बजे सभाभवन में होगा।

कार्यक्रम

(१) सभा का तेंतीसवाँ वार्षिक विवरण विचारार्थ उपस्थित किया जायगा।

(२) संवत् १६८२ के आयव्यय का हिसाब तथा संवत् १६८३ का बजट उपस्थित किया जायगा।

(३) पदाधिकारियों और प्रबन्ध समिति के सदस्यों का चुनाव।

(४) अन्य आवश्यक कार्य यदि कोई हो।

श्यामसुंदरदास,
प्रधान मंत्री।

श्रीलक्ष्मीनारायन प्रेस काशी।

होते होंगे और दूसरी गुफा में नट और नर्तकियाँ आदि रहती होंगी। इसमें संदेह नहीं कि भारतीय ढंग के प्रेक्षागृहों के रहते हुए भी यूनानी ढंग की नाट्यशाला तभी बनी होगी जब भारतीय ढंग के प्रेक्षागृहों की बहुत अधिकता हो गई होगी और लोगों की रुचि किसी नए ढंग के प्रेक्षागृह की ओर हुई होगी।

रंगमंच के पीछे एक परदे के रहने का भी उल्लेख मिलता है। इसे यवनिका या जवनिका कहा गया है। इस शब्द के आधार पर कुछ लोगों ने यह अनुमान किया है कि भारतीय नाटकों का आधार यूनानी नाटक हैं; पर इस बात का कोई प्रमाण नहीं मिलता। इस शब्द के आधार पर अधिक से अधिक यही कहा जा सकता है कि जिस कपड़े का यह परदा बनाया जाता था, वह यवन देश (यूनान) से आता होगा। इस परदे को हटाकर नेपथ्य से आ जा सकते थे। इसके गिराने या चढ़ाने का कोई प्रमाण नहीं मिलता। कहीं कहीं यह भी लिखा मिलता है कि जिस अभिनय का जो रस प्रधान हो, उसी के अनुसार परदे का रंग भी होना चाहिए। भिन्न भिन्न रसों के सूचक भिन्न भिन्न रंग माने गए हैं;जैसे रौद्र–लाल, भयानक–काला, हास्य–श्वेत, शृंगार–श्याम, करुण–कपोत (खाकी), अद्भुत–पीत, बीभत्स–नील और वीर–हेमवर्ण (सुनहला)। किसी किसी आचार्य का यह भी कहना है कि सब अवस्थाओं में परदा लाल ही रंग का होना चाहिए।

नाट्य, वेषभूषा आदि—अभिनय का मूल उद्देश्य यही है कि जो कुछ दिखाना हो, उसे स्पष्ट करके दिखाया जाय। इसी को नाट्य कहा भी गया है। पर ऐसा जान पड़ता है कि अभिनय में बहुत सी बातें केवल उनका नाट्य करके बतला दी जाती थीं। जैसे यदि कहीं यह दृश्य दिखाना हो कि नदी पार करना है, तो इसके लिये यह आवश्यक नहीं माना गया है कि रंगमंच पर जल का प्रवाह हो और पात्र उसमें से होकर जाय। वरन् कपड़ों को उठाकर कमर में बाँध लेने तथा

हाथों से ऐसा नाट्य करने से कि मानों पानी में से हलकर या तैरकर जा रहे हैं, इस कृत्य की पूर्ति मान ली जाती थी। इसी प्रकार यदि रथ पर चढ़ने, उतरने का अभिनय करना हो तो उसका नाट्य करना ही अलम् था। वास्तव में रंगमंच पर रथ के लाने या उस पर चढ़ने आदि की आवश्यकता नहीं थी। सारांश यह है कि शरीर के प्रत्येक अंग का प्रयोग करके वास्तविक कृत्य की सूचना दे देने का विधान किया गया था, और ऐसा जान पड़ता है कि प्रेक्षकगण इन संकेतों को समझकर अभिनय का आनन्द उठा सकते थे। वेषभूषा आदि के संबंध में भी विवेचन किया गया है। कपड़ों का रंग तक गिनाया गया है; जैसे आभीर कन्याएँ नीले रंग का कपड़ा पहने रहें; धर्म कृत्यों के समय सफेद रंग का कपड़ा हो; राजा आदि भड़कीले रंग के कपड़े पहनें इत्यादि। चेहरे को रँगने का भी विधान है; जैसे—अंध्र, द्रविड़, कोशल, पुलिंद असित रंग के, शक, यवन, पह्लव, वाह्लीक गौर वर्ण के तथा पांचाल, शौरसेन, मागध, अंग, वंग आदि श्याम रंग के दिखाए जायँ। शूद्रों और वैश्यों का भी श्याम रंग हो; पर ब्राह्मण और क्षत्रिय गौर वर्ण के हों। सारांश यह है कि उस समय की स्थिति तथा अभिनय के प्रतिबंधों को ध्यान में रखकर जहाँ तक संभव था, वहाँ तक वास्तविकता तथा सजीवता लाने के उपाय पर विचार किया गया है, और नियम बनाए गए हैं।

[क्रमशः]

———

(५) महाकवि भूषण

[लेखक—पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित, काशी]

महाकवि भूषण का हिंदी साहित्य में एक मुख्य स्थान है। हिंदी पत्रिकाओं में आजकल भूषण पर अच्छी चर्चा चल रही है। मिश्रबंधु महोदय ने इन्हें नवरत्नों में स्थान दिया है जो कि उचित ही है। जिस समय सम्पूर्ण भारत शृंगार रस में निमग्न हो रहा था और विलास-लिप्सा बढ़ रही थी, उस समय एक भूषण ने ही देश की परिस्थिति पर विचार करके मार्ग निर्धारित किया था; तथा वीर रस की कविता करके शृंगार में डूबी हुई हिंदू जाति को जीवन प्रदान करने में बहुत बड़ा काम किया था, और उसे मातृ भूमि के उद्धारार्थ सन्नद्ध किया था। मैं इस लेख को निम्न लिखित भागों में विभक्त करता हूँ—

(१) भूषण का वंश-परिचय और मतिराम का बंधुत्व,

(२) भूषण और उसके आश्रयदाता,

(३) शिवाजी और भूषण की समकालीनता,

(४) शिवराज-भूषण का निर्माण-काल,

(५) विरोधी पक्ष की शंकाओं का समाधान,

(६) कविता का प्रभाव।

उपर्युक्त बातों पर क्रमशः विचार करते हुए शंकाओं का समाधान करने का प्रयत्न करूँगा। आशा है, विद्वत् समाज निष्पक्ष रीति से विचार करने का कष्ट उठावेगा।

वंश—परिचय

भूषण ने अपने ग्रंथ शिवराज-भूषण में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—

दुज कनौज कुल कश्यपी रत्नाकर सुत धीर।
बसत त्रिविक्रमपुर सदा तरनि-तनूजा तीर॥ २६॥
बीर बीरबर से जहाँ उपजे कवि अरु भूप।
देव बिहारीश्वर जहाँ विश्वेश्वर तद्रूप॥ २७॥

इन दोहों से विदित होता है कि महाकवि भूषण कान्यकुब्ज ब्राह्मणों में कश्यप गोत्री रत्नाकर के पुत्र थे और जमुना के किनारे तिविक्रमपूर 'तिकमनपुर' ग्राम के निवासी थे। वहीं पर बीरबरपुर में महाराज बीरबल का, जो अकबर बादशाह के मंत्री थे, जन्म हुआ था; और विश्वेश्वर के समान बिहारीश्वर महादेव का वहीं मंदिर भी था। इन बातों के अतिरिक्त और कोई बात भूषण के सम्बन्ध में उनके कथन से विदित नहीं होती। परन्तु शिवसिंहसरोज, वंशभास्कर, तजकिरए सर्व आजाद आदि से भूषण के तीन या चार भाइयों का पता चलता है। सरोज ने इनके तीन भाई मतिराम, चिन्तामणि और जटाशंकर या नीलकंठ माने हैं। शेष ग्रंथ प्रथम दो को ही भाई मानते हैं। किसी ने भूषण को बड़ा माना है, किसी ने मतिराम को और कोई चिन्तामणि को बड़ा भाई मानता है। मतिराम ने छंदसार पिंगल में अपने वंश का परिचय इस प्रकार दिया है।

तिरपाठी बनपुर बसै वत्स गोत्र मुनि गेह।
विबुध चक्रमनि पुत्र तहँ गिरिधर गिरधर देह॥२१॥
भूमिदेव बलभद्र हुव तिनहि तनुज मुनि मान।
पंडित पंडित मंडली मंडन मही महान॥२२॥
तिनके तनय उदारमति विश्वनाथ हुव नाम।
दुतिधर श्रुतिधर को अनुज सकल गुनन को धाम॥२३॥
तासु पुत्र मतिराम कवि निज मति के अनुसार।
सिंह स्वरूप सुजान को बरन्यौ सुजस अपार॥२४॥

इन दोहों से विदित होता है कि मतिराम वत्सगोत्री त्रिपाठी बनपुर निवासी पं० विश्वनाथ के पुत्र और श्रुतिधर के भतीजे थे; और उन्होंने स्वरूपसिंह बुँदेले के आश्रय में रहकर छंदसार पिंगल (वृत्तकौमुदी) ग्रंथ रचा। अब दोनों के कथन से विदित होता है कि दोनों का गोत्र भिन्न है। भूषण कश्यप-गोत्री थे और मतिराम वत्सगोत्री। पहले रत्नाकर के पुत्र थे और दूसरे विश्वनाथ के। अतः जब दोनों के पिता और गोत्र भिन्न हैं, तब वे सहोदर बन्धु कदापि नहीं हो सकते। संभव है, उनमें कोई अन्य संबंध हो। दोनों एक ग्रामवासी हो सकते हैं; क्योंकि तिकवनपुर और बनपुर मिलते हुए नाम हैं। इस पर कुछ सज्जनों ने यह शंका उत्पन्न की है कि ये मतिराम प्रसिद्ध मतिराम से, जो कि भूषण के भाई थे, भिन्न हैं। परंतु शिवसिंहसरोज में छंदसार पिंगल से उद्धृत एक कवित्त दिया हुआ है। उससे विदित होता है कि छंदसार पिंगल के रचयिता ही प्रसिद्ध मतिराम थे। वह छंद यह है—

दाता एक जैसो शिवराज भयो जैसो
अब फतह साहि सी नगर साहिबी समाज है।
जैसो चित्तौर-धनो राजा नरनाह भयो
जैसोई कुमाऊँपति पूरो रज लाज है।
जैसे जयसिंह यशवंत महराज भए,
जिनको मही में अजौं बढ़ो बल साज है।
मित्रसाहि नंदसो बुंदेल कुल चंद जग
ऐसो अब उदित स्वरूप महाराज है॥

इसमें मतिराम ने अपने तीन वर्तमान आश्रयदाताओं श्रीनगरपति फतह शाह, कमाऊँ-नरेश ज्ञानचंद और कुंडार-पति स्वरूपसिंह बुँदेले की प्रशंसा शिवाजी, राणा प्रताप, महाराज जयसिंह और जसवंतसिंह से तुलना करके की है। इस तुलना में गुण और स्वभाव का साम्य भी बहुत कुछ पाया जाता है। प्रथम दो राजाओं के

आश्रय में मतिराम का रहना पूर्व से ही प्रसिद्ध है। शिवसिंह सेंगर और गोविंद गिल्ला भाई जी ने भी उक्त दोनों आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है। यह फतह शाह श्रीनगर (अलमोड़ा) के राजा थे। गोविन्द भाई जी ने भूल से इन्हें बुँदेला मान लिया है। अलमोड़ा गजेटियर में इनका स्पष्ट उल्लेख मिल जाता है।

उक्त प्रमाण से यह निश्चित है कि छंदसार पिंगल प्रसिद्ध मतिराम का ही है। अतः भूषण और मतिराम के सहोदर भ्राता होने की किंवदन्ती भ्रम-मूलक है। नारनौल से दूसरी प्रति छंदसार पिंगल की मिलने से यह बात और भी दृढ़ हो गई।

श्रीयुक्त पं० मायाशंकर जी याज्ञिक से वार्तालाप करने पर विदित हुआ कि उक्त बात पर वे भी मुझसे सहमत हैं।

चिन्तामणि के भाई न होने के सम्बन्ध में अब तक कोई लेख नहीं मिला और कन्नोजी (मकरंद शाह) भोंसला के आश्रय में उनका रहना पाया जाता है। कन्नोजी नागपुर में * संवत् १७९० के लगभग वर्तमान थे। उस से पहले या पीछे नागपुर में कोई भोंसला इस नाम का नहीं पाया जाता। शिवाजी के पूर्वजों में एक नाम मकरंद शाह अवश्य पाया जाता है। परन्तु उस समय में चिन्तामणि का वर्तमान होना असंभव है। नवीन कृत प्रबोध-रस-सुधासर से विदित होता है कि जहाँगीर के समय में प्रसिद्ध चिन्तामणि से भिन्न चिन्तामणि नामक एक और कवि भी थे। अतः शुजा के प्रशंसक चिन्तामणि से प्रसिद्ध चिन्तामणि भिन्न थे जो कि भूषण के भाई थे।

नीलकंठ के विषय में कोई प्रमाण भूषण के भाई होने का नहीं पाया जाता। अतः मैं भी उनको भाई मानने में असमर्थ हूँ। शिवसिंह सेंगर ने सरोज की भूमिका में उसके निर्माण का कारण भूषण,

---

* देखो नागपुर गजेटियर पृ० ३२।

चिन्तामणि और मतिराम के सम्बन्ध में मिथ्या किंवदन्तियों के फैलने से उत्पन्न हुए भ्रम को दूर करना बतलाया है और भूषण का जन्म सं० १७३८ तथा चिन्तामणि का सं० १७२९ वि० लिखा है। अतः मेरा अनुमान है कि सरोज का कथन सत्य है जो कि उसने खोज के साथ लिखा है। भूषण का सं० १७९७ वि० तक वर्तमान होना निश्चित रूप से सिद्ध हो चुका है।

भूषण और उनके आश्रयदाता

अब तक खोज से भूषण के लगभग १२–१३ आश्रयदाता मिल चुके हैं। उनके विषय में क्रमशः कुछ वर्णन किया जाता है—

(१) भूषण ने अपने सब से पहले आश्रयदाता रुद्रसाहि का वर्णन शिवराज-भूषण के प्रारंभ में ही किया है। वह दोहा यह है—

कुल सुलंक चित्रकूट पति साहस सील समुद्र।
कवि भूषण पदवी दई हृदयराम-सुत रुद्र ॥२६॥

इस दोहे से विदित होता है कि रुद्रसाहि जी चित्रकूट-पति सोलंकी वंश में हृदयराम (हृदय शाहि या हरिहर शाह) के पुत्र थे। हृदयराम के ये तीनों ही नाम साहित्य क्षेत्र और इतिहास में पाए जाते हैं। इन्होंने भूषण को 'भूषण' की उपाधि दी थी। इनका उपाधि से पूर्व नाम क्या था, यह ज्ञात होना कठिन है। रुद्र साहि जी की प्रशंसा में चिंतामणि कवि का भी एक कवित्त याज्ञिक महोदय ने आषाढ़ सं० १९८१ की माधुरी में प्रकाशित किया है*। उसमें उनको बाबू रुद्रसाहि कह कर संबोधन किया गया है।

रीवाँ गजेटियर पृ० ८० में बिजौरा (बर्दी) के बाबू रुद्रसाहि का वर्णन आया है। उसमें रुद्रसाहि के प्रपौत्र मयूर शाह का प्रारंभ काल अठारहवीं शताब्दी माना है। समालोचक पत्र के संपादक महोदय ने यह

---

* देखो माधुरी आषाढ़ सं० १९८१, पृ० ७४३.

समय सन् १७५० लिया है। अब विचारणीय यह है कि रीवाँ गजेटियर-वाले रुद्रसाहि और शिवराज भूषण में वर्णित रुद्रसाहि एक ही व्यक्ति हैं अथवा भिन्न भिन्न हैं। दोहे में उन्हें सोलंकी बतालाया है। गजेटियरवाले रुद्रसाहि भी चालुक्य वंशी (चंदेल) हैं, जिनका दूसरा नाम सोलंकी भी है। दोहे में वे चित्रकूट-पति कहे गए हैं। रीवाँ राज्य के सोलंकी भी चित्रकूट-पति कहे जाते हैं। रीवाँ राज्य के प्रसिद्ध दरबारी कविराज लालजी महापात्र ने भी, जो नरहरि महापात्र के वंशज हैं, मुझसे यही कहा है कि सोलंकी चित्रकूट-पति के नाम से विख्यात हैं; क्योंकि उनके पूर्वजों ने पहले पहल चित्रकूट पर ही अधिकार जमाया था। अब्दुल रहीम (खानखाना) ने भी एक दोहे में रीवाँ-नरेश को संबोधन कर ऐसा ही संकेत किया है। वह दोहा यह है—

चित्रकूट में रमि रहे रहिमन अवध नरेश।
जा पै विपता परति है सो आवतु एहि देश॥

जब रहीम आपत्ति की दशा में चित्रकूट में भ्रमण कर रहे थे, तब उन्हें कुछ कवियों ने आ घेरा। उनके पास देने को कुछ नहीं था। तब रहीम ने उक्त दोहा रीवाँ नरेश के पास भेजा था, जिस पर महाराज रीवाँ ने एक लाख रुपया उनके पास भेज दिया जिसे उन्होंने कवियों में बाँट दिया। इस दोहे से भी यही ध्वनि निकलती है कि सोलंकी चित्रकूट-पति कहे जाते हैं। चित्रकूट पहाड़ का जो सिलसिला राजापुर से रीवाँ राज्य की ओर बढ़ा है, वह वहीं तक चला गया है। संभव है, इसी से रुद्रसाहि को चित्रकूट-पति कहा गया हो, क्योंकि उसका कुछ अंश उनके राज्य में भी था; अथवा सोलंकी होने से ही यह उल्लेख किया गया हो।

वर्दी रीवाँ राज्य के बघुआने में है और चिंतामणि ने भी उन्हें बाबू रुद्रसाहि कहा है तथा उनके साहस की बड़ी प्रशंसा की है। गजेटियर में भी उनका प्रशंसापूर्ण वर्णन आया है। कवियों ने अपने छंदों में उनके

पिता का नाम हृदयराम तथा हृदय शाह दोनों बतलाया है; परंतु गजेटियर में वह हरिहर शाह के नाम से उल्लिखित हैं। यह हरिहर शाह हृदय शाह का ही अपभ्रंश रूप है जो अँग्रेजी में अँग्रेज लेखक के ठीक ठीक न समझने के कारण लिखा गया है। अतः यह निश्चित है कि भूषण और चिंतामणि के आश्रयदाता और गजेटियर में वर्णित रुद्र साहि एक ही व्यक्ति हैं।

श्रीयुत पं० कृष्णबिहारीजी मिश्र ने इनका समय सं० १६५८ ई० माना है; परंतु इसमें एक बड़ी भूल है। रुद्रशाह के दो पीढ़ी पीछे मयूर शाह का प्रारंभ काल आपने सं० १७५० ई० लिया है और एक पीढ़ी का अनुमान से समय २० वर्ष माना है। अतः दो पीढ़ी पूर्व रुद्रसाह का समय १७५०–४० = १७१० ई० पूर्व होना चाहिए। परंतु आपने यह समय १६५८ ई० निकाला है जो कि अवश्य भ्रमपूर्ण है। मैंने पौष की माधुरीवाले लेख के पृ० ७७५ पर रुद्र साहि का समय सन् १७०० (संवत् १७५७ वि०) के लगभग लिया था। उसे विचित्र गणित से मिश्रजी ने भ्रमपूर्ण बताने की कृपा की है। पाठक स्वयं निर्धारित करें कि मेरा कथन भ्रमपूर्ण है अथवा मिश्रजी का। मिश्रजी ने १४ वर्ष व्यर्थ ही छोड़ दिए हैं और २३ पीढ़ी के स्थान में २४ पीढ़ी मान ली हैं। इसी से यह लगभग ५० वर्ष का अंतर दिखाई देता है। आशा है, मिश्रजी फिर विचारने का कष्ट उठावेंगे। जब रुद्रसाहि का समय निर्धारित हो गया, तब यह भी मानना पड़ेगा कि भूषण की कविता या तो रुद्रसाहि के समय की है अथवा उसके पीछे की होगी, उससे पूर्व की कदापि नहीं हो सकती।

(२) भूषण के दूसरे आश्रयदाता रीवाँ-नरेश अवधूतसिंह जी थे जो कि रुद्रसाहि के द्वारा ही हुए होंगे। इनका समय सं० १७५७ से १८१२ वि० तक है। पं० कृष्णबिहारीजी मिश्र सं० १७६८ वि० में भूषण का रीवाँ दरबार में उपस्थित होना मानते हैं। शिवराजभूषण के पृष्ठ १६६ पर इनकी प्रशंसा में एक कवित्त दिया हुआ है।

(३) महाराज साहू सितारा-नरेश का राज्यकाल सं० १७६५ से १८०५ तक है। इनकी प्रशंसा में भूषण और चिंतामणि के कई छंद पाए जाते हैं। कहीं कहीं पाठांतर हो गया है। फिर भी कुछ छंद अबाध रूप से साहू की प्रशंसा में मिलते हैं*। साहू के दरबार में जाने से पूर्व आखेट के समय भूषण ने अनजान में ५२ कवित्त, जो शिवाबावनी के नाम से प्रसिद्ध हैं, साहू को सुनाए थे। परंतु यह शिवाजी के प्रति किंवदंती होने से तथा उसमें ऐतिहासिक विरोध पड़ने के कारण 'इन्द्र जिमि जम्भ पर' वाला कवित्त १८ या ५२ बार कहने और शिवाजी द्वारा पुरस्कृत होने की किंवदंती प्रसिद्ध हो गई और ये किंवदंतियाँ भिन्न भिन्न स्थानों में भिन्न भिन्न रूप से पाई जाती हैं।

(४) कमाऊँ नरेश ज्ञानचन्द्र भी भूषण के आश्रयदाता थे, यद्यपि ये ज्ञानचन्द्र के पिता उद्योतचन्द्र के दरबार में भी रहे थे। भूषण के पारितोषिक न लेने पर मतिराम से कमाऊँ नरेश के असंतुष्ट होने की किंवदंती मिथ्या है। अलमोड़ा के पंत जी का पत्र मिश्र जी को इसी संबंध में मिला है। उन्होंने अन्य दो संस्कृत कवियों के संबंध में यह उल्लेख किया है जिस पर मतिराम ने "एक मतवाले काहू अंकुश न मानो तो दुरद दरवाजिन तें दूर कीजियतु हैं" कवित्त कहा था। मतिराम ने अलंकार-पंचाशिका सं० १७४७ में रामचन्द्र के लिये बनाई था जिसमें उद्योतचन्द्र की साधारण प्रशंसा करते हुए ज्ञानचंद्र के हाथियों की भूरि भूरि प्रशंसा की है। वह छन्द यह है—

सहज सिकार खेलै पुहुमि पहार पतियार,
　　　　रहो पतन गढ़ ढार सों लपटि कैं।
कहैं मतिराम नाद सुनत नगारन की,
　　　　नगन के गढ़पती गढ़ तें निकटि कैं।

* शिव० भूषण पृ० १६३, १६८, १९९ व माधुरी आषाढ़ १९८१, पृ० ७४०—१ व शिवराज भूषण पृ० १६७, शिवसिंह सरोज पृ० २५६ व अलंकार पंचाशिका अप्रकाशित।

सोहै दल वृंद में गयंद पर ज्ञानचन्द्र,
बसत बिलंद ऐसी सोभा रही चढ़ि कैं।
मेरे जान मेघ के ऊपर अमारी कसि,
मघवा महीं को सुख लेन आयौ चढ़ि कैं॥

भूषण ने भी ज्ञानचन्द्र के हाथियों की भूरि भूरि प्रशंसा की है जिसका अंतिम पद यह है—"मेघ से घमंडित मजेजदार तेजपुंज गुंजरत कुंजर कमाऊँ नरनाह के*।" इन दोनों वर्णनों की तुलना से स्पष्ट प्रतीत होता है कि भूषण ज्ञानचन्द्र की ही सभा में गए थे। उद्योतचन्द्र तो मतिराम से असंतुष्ट से थे। फिर उनका भूषण को वहाँ ले जाना कभी संभव नहीं।

मतिराम ने कमाऊँ नरेश का छंदसार पिंगल में उल्लेख किया है†। वह भी ज्ञानचन्द्र की ओर ही संकेत है; क्योंकि छंदसार पिंगल सं० १७५८ वि० में बना और उद्योतचन्द्र का सं० १७५७ से दो एक वर्ष पूर्व ही देहांत हो चुका था। अतः निश्चित है कि भूषण ज्ञानचन्द्र के ही दरबार में गए थे। मतिराम ने छंदसार पिंगल के उक्त छंद में अपने तीन वर्तमान आश्रयदाताओं का उल्लेख किया है; अतः समालोचक‡ के कथनानुसार किंवदंती के आधार पर नहीं, अपितु उक्त पर्याप्त प्रमाण होने से भूषण को ज्ञानचन्द्र के आश्रित माना है और मिश्र जी की किंवदंती उन्होंने स्वयं ही मिथ्या प्रमाणित कर दी है।

(५) बाजीराव पेशवा—इनकी प्रशंसा में भूषण के दो एक कवित्त पाए जाते हैं—"बाजीराव बाज की चपेट चंग चहूँ ओर तीतर तुरुक दिल्ली भीतर बचे नहीं" =। यह स्पष्ट बाजीराव की प्रशंसा में है। गोविन्द गिल्लाभाईजी ने यही पाठ माना है। शिवराजभूषण में 'बाजी

---

* देखो शिवराज भूषण पृ० १६७ † देखो माधुरी पौष १९८१, पृ० ७९१.
‡ देखो समालोचक पृ० ६२.
= देखो शिवराजशतक।

सब बाज कीकै' पाठ दिया है, वह निरर्थक है। प्राचीन प्रतियों में प्रथम पाठ ही मिलता है। भूषण को बाजीराव पेशवा के समकालीन न मानने के कारण ही यह पाठ-भेद किया गया है। एक दूसरे छन्द "भूषन सिरोज लौं परावने परत जाके दिल्ली पर परत परन्दन की धार है"† में भी साहू की प्रशंसा की गई है। परंतु निश्चित बात यह है कि साहु कहीं लड़ने नहीं गए और न स्वयं सेना के साथ युद्ध में रहे। उक्त वर्णन में सं० १७९२‡ वि० में बाजीराव पेशवा के जो कि साहु के मंत्री थे, दिल्ली जाते समय सिरोंज पर छावनी नियत करने का ही उल्लेख है। मेरे विचार से "बाजीराव गाजी ने उबारखौ आइ छत्रसाल, आमिल बिठायौ चंबल करके कदरा सों"× वाला छंद भी भूषण का ही है। बाजीराव पेशवा के छोटे भाई की भी प्रशंसा में एक छन्द पाया जाता है।

(६) चिंतामणि (चिमनाजी) बाजीराव के छोटे भाई थे। इनकी प्रशंसा में, शिवराज शतक में गोविन्द भाईजी ने एक छन्द दिया है; परन्तु शिवाबावनी में किसी ने पाठांतर कर दिया है। इसका कारण यह प्रतीत होता है कि 'त्यों म्लेच्छ वंश पर चिंतामणि देखिये' + का भाव न समझकर और चिंतामणि को कवि मानकर यह पाठांतर इतर प्रान्तवालों ने कर दिया ÷ परंतु महाराष्ट्र प्रांत में वही पाठ बना रहा और बाजीराव के छंद के साथ रहने से समझने में कोई कठिनाई नहीं हुई। अतः चिंतामणि के आश्रय में भी भूषण का रहना पाया जाता है।

---

* शि० भू० पृ० १७०

† शिव भू० छंद ७, पृ० १६८

‡ दे० ग्रांट डफ की हिस्ट्री द्वितीय भाग

× दे० माधुरी पौष सं० १९८१ पृ० ७७२

+ दे० शिवराज शतक पृ० ४८

÷ दे० शिवाबावनी छंद ३८

(७) महाराज छत्रशाल बुँदेला की प्रशंसा में भूषण के बहुत से छंद पाए जाते हैं। एक छंद में "साहू को सराहौं कै सराहौं छत्र साल को" * पद आया है। इस से स्पष्ट विदित होता है कि भूषण साहू के दरबार से लौटकर छत्रशाल के यहाँ गए थे। इनको भूषण ने 'डोकरा' कहकर उल्लेख किया है। "आये मलिच्छन के छुकरा पै तबौं छुकरा कों डकार न आई' † । इससे प्रतीत होता है कि भूषण की अवस्था छत्रशाल जी से बहुत छोटी थी। महाराज छत्रशाल ने भूषण के प्रस्थान पर पालकी में कंधा लगाया था।

(८) रावराजा बुधसिंह बूँदीनरेश की प्रशंसा में भूषण के कई छंद मिलते हैं ‡। इनकी कटारी की कई कवियों ने बड़ी प्रशंसा की है। भूषण बूँदी गए थे। उन्होंने भी उनकी तलवार का अच्छा वर्णन किया है। ये लगभग २० वर्ष तक दिल्ली के दीवान पद पर भी कार्य करते रहे थे। उसी समय भूषण को इन्हों ने जहाँदार शाह के दरबार में उपस्थित किया था।

(९) जयपुरनरेश सवाई जयसिंह सं० १७५६ में गद्दी पर बैठे थे। "भले भाई भासमन भासमान मान जा को मानत भिखारिन के भूरि भय जाल है" + इत्यादि छंद में वेधशालाओं का स्पष्ट वर्णन है। उसकी उत्तम सभाओं तथा राज्य के गए हुए भाग के उद्धार करने का भी वर्णन है। ये सब बातें जयपुर नरेशों में से केवल सवाई जयसिंह में पाई जाती हैं। मिरजा जयसिंह दूसरों के लिये लड़े थे। उन्होंने अपना राज्योद्धार नहीं किया और न किसी ने उनका राज्य दबाया ही था, न वेधशालाएँ ही बनवाईं। परन्तु जयसिंह ने ये सब

---

* देखो—शिवराज भूषण पृ० १६२ नं. १०

† शि. भू. की भूमिका पृ. ६५

‡ शि. भू. पृ. १६५. छंद नं. ३ व आषाढ़ सं० १९८२ की माधुरी; पृ. ७१२.

+ पौष सं. १९८१ की माधुरी पृ. ७७८.

कार्य किए। उन्होंने बूँदीनरेश से अपना राज्य वापस छीन लिया और बुधसिंह को बूँदी से निकाल दिया। जयपुर भी उन्होंने बसाया। उनके पास धन भी बहुत था। वेधशालाएँ जयपुर, दिल्ली, काशी और उज्जैन में बनवाईं। मिश्रजी इसे भूषण का रचा ही नहीं बतलाते और न सवाई जयसिंह के लिये रचा बतलाते हैं। यही नहीं, बाजीराव पेशवा, जहाँदार शाह, भगवंतराय खीची आदि किसी के लिये भी भूषण के कवित्त रचने से आप इनकार करते हैं। परन्तु भूषण में यह विशेष गुण था कि जिसकी प्रशंसा में छंद रचते थे, उसकी कुछ विशिष्ट घटनाओं का भी उल्लेख कर देते थे। अन्य कवियों की अपेक्षा उनकी यह विशेषता अलग झलकती रहती है। आपने भूषण शब्द को विशेषण मानकर रचयिता का नाम उड़ाने का प्रयत्न किया है। परन्तु "भूषन भरतखंड भरत भुआल है" में भरतखंड, भरत भुआल के साथ ठीक अर्थ देता है; क्योंकि भरतखंड का भरत ही संस्थापक था, जिससे सवाई जयसिंह की उपमा दी गई है। यह तुलना कितनी अच्छी है! सब ने इसे भूषण का ही रचा माना है। पर यह मिश्रजी के विचारों का विरोधी है, इस से स्यात् उनकी यह धारणा हो गई हो।

सवाई जयसिंह ने जयपुर में शुद्धि सभा भी कराई थी जिसमें दो व्यवस्थाएँ शुद्धि के संबंध में दी गई थीं। इनकी प्रतियाँ सरस्वती पुस्तकालय काशी में प्रस्तुत हैं तथा शीघ्र प्रकाशित होनेवाली हैं। यह कार्य भी भूषण के प्रयत्नों के अनुकूल था; अतः भूषण और जयसिंह से भेंट अवश्य हुई होगी।

मिश्रजी ने सवाई पद न आने से इसे मिरजा जयसिंह के लिये रचा माना है; परंतु मिरजा शब्द भी तो इसमें नहीं है। भूषण राष्ट्रवादी कवि थे। वे कदापि मुसलमानों की उपाधि को महत्व देना न चाहते थे। यही नहीं, उन्होंने हृदय शाह को हृदय राम और रुद्र शाह को रुद्र कहकर ही संतोष किया है। शिवराज भूषण में जयसिंह की बहुत प्रशंसा की है

और जसवंतसिंह पर कई बार कटाक्ष कर गए हैं। इसका मुख्य कारण भी सवाई जयसिंह से सम्मानित होना ही प्रतीत होता है। उक्त घटनाएँ बतलाती हैं कि वह छंद भूषण का ही है। उसमें भूषण का नाम भी दिया हुआ है। फिर भी इससे इनकार करना ठीक प्रतीत नहीं होता।

(१०) दिल्ली का बादशाह जहाँदार शाह सं० १७६९ वि० में गद्दी पर बैठा। यह बड़ा रसिक था। रावराजा बुद्धसिंह इसके दीवान थे। जब भूषण रावराजा बुद्धसिंह के दरबार में गए होंगे, तभी बादशाह के बुलाने पर उनकी भेंट हुई होगी और तभी जहाँदार शाह बहादुर के लिये "चढ़त पैंड"* वाला कवित्त कहा गया होगा। मिश्रजी "जहाँ" शब्द भर्ती का मानकर 'दारा शाह' की प्रशंसा में उक्त छंद मानते हैं। याज्ञिकजी का भी यही विचार है। भरतपुर लाइब्रेरी की जिस प्रबोध-रस-सुधासार पुस्तक का उल्लेख किया गया है और बतलाया गया है कि उस ग्रंथ में 'जहाँ' शब्द अलग और 'दारा शाह' अलग लिखा है, उसकी दोनों प्रतियों को देखने का सौभाग्य मुझ को भी प्राप्त हुआ है। श्रीयुत पं० मायाशंकरजी याज्ञिक के पास वे दोनों प्रतियाँ थीं। एक प्रति में 'जहाँदार शाह' एक साथ लिखा है और दूसरी में 'जहाँदारा शाह' पर तीनों शब्द क्रमशः समान अंतर पर लिखे हैं। अतः 'जहाँ' को 'दारा शाह' से भिन्न मानना कदापि उचित नहीं। 'जहाँदार शाह' शब्द पृष्ठ के अंत पर लिखा है और कवित्त का शेष संपूर्ण भाग दूसरे पृष्ठ पर चला गया है। इससे भी जहाँदार शाह एक ही शब्द प्रतीत होता है। दारा के रा की मात्रा मूल से बढ़ी प्रतीत होती है और जहाँदारा शाह के र पर आ की मात्रा बहुत खटकती है। हम दारा शाह के समकालीन किसी हिंदू राजा को नहीं पाते जो भूषण का आश्रयदाता हो। अपितु ४०–४५ वर्ष पीछे तक कोई हिंदू राजा भूषण का

* दे० माधुरी पौष १९८१ पृ० ११२.

कार्य किए। उन्होंने बूँदीनरेश से अपना राज्य वापस छीन लिया और बुधसिंह को बूँदी से निकाल दिया। जयपुर भी उन्होंने बसाया। उनके पास धन भी बहुत था। वेधशालाएँ जयपुर, दिल्ली, काशी और उज्जैन में बनवाईं। मिश्रजी इसे भूषण का रचा ही नहीं बतलाते और न सवाई जयसिंह के लिये रचा बतलाते हैं। यही नहीं, बाजीराव पेशवा, जहाँदार शाह, भगवंतराय खीची आदि किसी के लिये भी भूषण के कवित्त रचने से आप इनकार करते हैं। परन्तु भूषण में यह विशेष गुण था कि जिसकी प्रशंसा में छंद रचते थे, उसकी कुछ विशिष्ट घटनाओं का भी उल्लेख कर देते थे। अन्य कवियों की अपेक्षा उनकी यह विशेषता अलग झलकती रहती है। आपने भूषण शब्द को विशेषण मानकर रचयिता का नाम उड़ाने का प्रयत्न किया है। परन्तु "भूपन भरतखंड भरत भुआल है" में भरतखंड, भरत भुआल के साथ ठीक अर्थ देता है; क्योंकि भरतखंड का भरत ही संस्थापक था, जिससे सवाई जयसिंह की उपमा दी गई है। यह तुलना कितनी अच्छी है! सब ने इसे भूषण का ही रचा माना है। पर यह मिश्रजी के विचारों का विरोधी है, इस से स्यात् उनकी यह धारणा हो गई हो।

सवाई जयसिंह ने जयपुर में शुद्धि सभा भी कराई थी जिसमें दो व्यवस्थाएँ शुद्धि के संबंध में दी गई थीं। इनकी प्रतियाँ सरस्वती पुस्तकालय काशी में प्रस्तुत हैं तथा शीघ्र प्रकाशित होनेवाली हैं। यह कार्य भी भूषण के प्रयत्नों के अनुकूल था; अतः भूषण और जयसिंह से भेंट अवश्य हुई होगी।

मिश्रजी ने सवाई पद न आने से इसे मिरजा जयसिंह के लिये रचा माना है, परतु मिरजा शब्द भी तो इसमें नहीं है। भूषण राष्ट्रवादी कवि थे। वे कदापि मुसलमानों की उपाधि को महत्व देना न चाहते थे। यही नहीं, उन्होंने हृदय शाह को हृदय राम और रुद्र शाह को रुद्र कहकर ही संतोष किया है। शिवराज भूषण में जयसिंह की बहुत प्रशंसा की है

और जसवंतसिंह पर कई बार कटाक्ष कर गए हैं। इसका मुख्य कारण भी सवाई जयसिंह से सम्मानित होना ही प्रतीत होता है। उक्त घटनाएँ बतलाती हैं कि वह छंद भूषण का ही है। उसमें भूषण का नाम भी दिया हुआ है। फिर भी इससे इनकार करना ठीक प्रतीत नहीं होता।

(१०) दिल्ली का बादशाह जहाँदार शाह सं० १७६९ वि० में गद्दी पर बैठा। यह बड़ा रसिक था। रावराजा बुद्धसिंह इसके दीवान थे। जब भूषण रावराजा बुद्धसिंह के दरबार में गए होंगे, तभी बादशाह के बुलाने पर उनकी भेंट हुई होगी और तभी जहाँदार शाह बहादुर के लिये "चढ़त पैंड"* वाला कवित्त कहा गया होगा। मिश्रजी "जहाँ" शब्द भर्ती का मानकर 'दारा शाह' की प्रशंसा में उक्त छंद मानते हैं। याज्ञिकजी का भी यही विचार है। भरतपुर लाइब्रेरी की जिस प्रबोध-रस-सुधासार पुस्तक का उल्लेख किया गया है और बतलाया गया है कि उस ग्रंथ में 'जहाँ' शब्द अलग और 'दारा शाह' अलग लिखा है, उसकी दोनों प्रतियों को देखने का सौभाग्य मुझ को भी प्राप्त हुआ है। श्रीयुत पं० मायाशंकरजी याज्ञिक के पास वे दोनों प्रतियाँ थीं। एक प्रति में 'जहाँदार शाह' एक साथ लिखा है और दूसरी में 'जहाँदारा शाह' पर तीनों शब्द क्रमशः समान अंतर पर लिखे हैं। अतः 'जहाँ' को 'दारा शाह' से भिन्न मानना कदापि उचित नहीं। 'जहाँदार शाह' शब्द पृष्ठ के अंत पर लिखा है और कवित्त का शेष संपूर्ण भाग दूसरे पृष्ठ पर चला गया है। इससे भी जहाँदार शाह एकही शब्द प्रतीत होता है। दारा के रा की मात्रा मूल से बढ़ी प्रतीत होती है और जहाँ-दारा शाह के र पर आ की मात्रा बहुत खटकती है। हम दारा शाह के समकालीन किसी हिंदू राजा को नहीं पाते जो भूषण का आश्रय-दाता हो। अपितु ४०-४५ वर्ष पीछे तक कोई हिंदू राजा भूषण का

* दे० माधुरी पौष १९८१ पृ० ११२.

आश्रयदाता नहीं था। भूषण की उपाधि ही दारा शाह के चालीस वर्ष पीछे उन्हें मिली थी। जहाँदार शाह को हिन्दुओं से पूर्ण सहानुभूति थी। राज्य का दीवान भी हिन्दू था तथा इस कवित्त में उसकी विजय और वीरता का उल्लेख है। संगीत, कविता आदि से भी बहुत प्रेम करता था। दारा शाह की तो अंतिम युद्ध में पराजय हुई थी। अतः इसकी प्रशंसा में कहे जाने के लिये १०–२० वर्ष पूर्व के किसी युद्ध को खोजना पड़ेगा। अतः निश्चित रूप से यह छंद दारा शाह की प्रशंसा में नहीं, जहाँदार शाह की प्रशंसा में ही कहा गया है। "दिलीस है किन जाहु बुलाये" पद इसी का संकेत करता है।

(११) भगवंतराय खीची—ये असोथर नरेश थे और इन्होंने कई युद्धों में बड़ी विजय प्राप्त की थी तथा अपना राज्य बहुत बढ़ा लिया था। खीची की प्रशंसा में मुझे भूषण कृत जो छंद मिला था, मिश्रजी उसे भूधर का रचा बतलाते हैं, वह भी एक अशिक्षित भाट के कथन पर। उस पर मिश्र जी ने पेलिओग्राफी विद्या (अक्षर-विज्ञान) का आधार लेकर भूषण को भूधर समझाने का प्रयत्न किया है। परंतु लिखित प्राचीन प्रमाण की अपेक्षा एक अशिक्षित के मौखिक कथन का कोई मूल्य नहीं। तिस पर भी नरहरि महापात्र के वंशज लालजी कविराजा द्वारा एक कवित्त और भी भूषण कृत खीची की प्रशंसा में मिला। वह उन्हें याद भी था और संग्रह में लिखा हुआ भी था। वह कवित्त यह है—

> सुंडन समेत काटि विहद मतंगन कौं,
> श्रोणित कौ नद महि मंडल में भरिगौ।
> भूषन भनत तहाँ भूप भगवंतसिंह,
> भारत समान मही भारत सो करिगौ।
> ताही समैं माखौ देखि मुगल तुराब खाँ को,
> जानिसे न तट लौं कहाँ ते धौंसत छरिगौ।

बाजीगर कैसो दगाबाजी करि बाजी चढ़ि,
हाथी हाथा हाथी तें सहादति बतरिगो ॥

उक्त कविराजा जी प्रसिद्ध विद्वान् और रीवाँ राज्य के जागीरदार दरबारी कवि हैं। उन्हों ने भूषण कृत "उठि गयो आलम तें रुजुक सिपाहिन को" * इत्यादि छंद को भी भूषण कृत ही बतलाया था। इस दूसरे छंद के मिलने से अशिक्षित भाट का कथन कोई मूल्य नहीं रखता और न अक्षर विज्ञान ही कुछ सहायता कर सकता है। अब निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि ये छंद भूषण के ही हैं और वे भगवंतराय खीची की मृत्यु के समय सं० १७९७ तक अवश्य वर्तमान थे।

(१२) पौरच जाति के राजा अमरेश के पुत्र अनिरुद्ध सिंह की प्रशंसा में भी भूषण कृत एक छंद मिला है। ये क्षत्री थे। अलीगढ़ जिले में पौरच लोगों ने कुछ राज्य स्थापित किए थे†। इस कवित्त में मैंडू का उल्लेख है जो ई. आइ. आर. पर प्रसिद्ध रेलवे जंकशन है। इतिहास से इनके समय का पता नहीं चलता।

इन बारह राजाओं के अतिरिक्त अन्य भी कुछ लोगों के आश्रय में भूषण के रहने की संभावना है‡। कुछ सज्जन जैपुर नरेश रायसिंह के दरबार में भी भूषण का होना मानते हैं। मेरा अनुमान है कि यह कवित्त जयसिंह के संमुख उनके पूर्वजों की प्रशंसा में कहा गया है, क्योंकि इस में उनके ५ पूर्वजों का उल्लेख है। अन्य कोई छंद उनकी प्रशंसा में नहीं पाया जाता। यदि भूषण रायसिंह के यहाँ गए होंगे, तो उन के अंतिम समय में पहुँचे होंगे। चिंतामणि के भी कुछ छंद रामसिंह की प्रशंसा में पाए जाते हैं।

---

* दे० माधुरी पौष १९८१, पृ. ७७०.

† देखिए अलीगढ़ गजेटियर।

‡ देखिए माधुरी आषाढ़ सं १९८१, पृ. ७३५ और पृ. ७४३

शिवराजभूषण में भूषण के कुछ आश्रयदाताओं का उल्लेख है* । उसमें कुमाऊँ, बांधव, आमेर, दिल्ली और स्यात् मोरंग के राजाओं का पता चल गया है; क्योंकि उनके वर्णन के कवित्त भूषण रचित पाए गए हैं। श्रीनगर का राजा फतह साह बहुत ही उदार और कवियों के लिये कल्पवृत्त था। इसलिये संभव है, वहाँ भी भूषण अवश्य गए हों। मतिराम तो निश्चित रूप से वहाँ रह चुके थे। उसकी तुलना उन्होंने शिवाजी से की है। बीजापुर, गोलकुंडा, जोधपुर और चित्तौर का उल्लेख भी यही बतलाता है कि भूषण वहाँ भी गए थे। इस प्रकार आश्रयदाताओं के ज्ञात होने से भूषण के जीवन की बहुत सी घटनाओं तथा समय का पता लग जाता है।

भूषण और शिवा जी

उक्त आश्रयदाताओं में से एक भी शिवाजी के समकालीन नहीं थे। शिवाजी संवत् १७३७ वि० में परलोकवासी हुए थे। इसके २० वर्ष पश्चात् तक भूषण का एक भी आश्रयदाता दिखाई नहीं देता। अकेले छत्रशाल के प्रारंभिक काल से शिवाजी का अंतिम समय मिलता है। परन्तु भूषण छत्रशाल महाराज के यहाँ साहू के दरबार से लौटकर गए थे और तभी उन्होंने "साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रशाल को" † वाला छन्द पढ़ा था। भूषण के आश्रयदाताओं की सूची उनके समय के साथ यहाँ दी जाती है—

(१) बाबू रुद्रसाहि सोलंकी सं० १७५७ वि० के लगभग

(२) महाराज अवधूतसिंह रीवाँनरेश सं० १७५७ से १८१२ वि०तक

(३) कमाऊँ नरेश ज्ञानचन्द्र सं० १७५७ से १७६५ तक

(४) महाराज छत्रशाल बुँदेला सं० १७२८ से १७९१ तक

---

* दे०—शिवराज भूषण, छंद २४१.

† देखो—शिवराज भूषण, पृ. २६३, छंद १० वाँ।

(५) महाराज साहू सितारा नरेश — सं० १७६५ से १८०५ तक
(६) रावराजा बुधसिंह बूँदी नरेश — सं० १७६४ से १७९८ तक
(७) सवाई जयसिंह जयपुरनरेश — सं० १७५६ से १८०० तक
(८) जहाँदार शाह दिल्ली नरेश — सं० १७६९ वि०
(९) बाजीराव पेशवा — सं० १७७७ वि० से १७९७
(१०) चिंतामणि (चिमना जी) — सं० १७८० के लगभग
(११) भगवन्तसिंह खीची असोथर नरेश सं० १७८० से १७९७ तक
(१२) अनिरुद्धसिंह पौरच नरेश — अज्ञात काल

इन बारह आश्रयदाताओं में एक भी शिवाजी का समकालीन नहीं। भूषण को उपाधि भी रुद्र साहि द्वारा सं० १७५७ के लगभग मिली थी। अतः रुद्र साहि से २० वर्ष पूर्व परलोकवासी होनेवाले शिवाजी के दरबार में भूषण कैसे पहुँच सकते हैं ?

फिर यह प्रश्न होता है कि उन्होंने शिरवाज भूषण की रचना क्यों की ? भूषण शिवाजी को ईश्वर का अवतार मानते थे; क्योंकि उन्होंने हिन्दू धर्म की रक्षा की थी और भूषण राष्ट्रीय कवि थे। अतः अन्य राजाओं में शिवाजी का आदर्श स्थापित करने के लिये ही उन्होंने शिवराजभूषण रचा था। उसका भारत के बहुत से राजाओं पर प्रभाव भी काफी पड़ा था, जिस से सोलंकी, खीची, जाट, पौरच, बुन्देले, मरहठे और राजपूत सब में पर्याप्त जीवन आया था। भूषण के शिवाजी से मिलने की घटना भी साहू से ही संबंध रखती है।

शिवराजभूषण की रचना भी यही बतलाती है कि वह शिवाजी के दरबार में रहकर नहीं रचा गया। उसमें ऐतिहासिक क्रम बिलकुल नहीं है और न जीवनचरित्र के ढंग पर ही वह लिखा गया है। सूदन का सुजान-चरित्र, लाल का छत्रप्रकाश, पद्माकर की हिम्मत बहादुर विरुदावली आदि ग्रंथ उनके रचयिताओं ने अपने आश्रयदाताओं के सामने रहकर रचे हैं। उनमें और शिवराजभूषण के क्रम में बहुत भिन्नता है। इसकी बहुत सी

घटनाएँ शिवाजी के पीछे की हैं और उसके निर्माण-काल से पीछे की घटनाएँ तो और भी अधिक हैं। शिवराजभूषण के छंद २४९ में जो अनेकों आश्रयदाताओं का उल्लेख है, उनके यहाँ जाने के पीछे ही भूषण साहू के दरबार में पहुँचे थे और तभी अपने ग्रंथ में उन्होंने उनका उल्लेख किया है।

अतः भूषण शिवाजी के समकालीन कदापि न थे और न उनके आश्रय में उन्होंने ग्रंथ रचा और न मतिराम भूषण के भाई थे। अतः मेरे विचार से ये दोनों बातें किंवदंती के आधार पर ही फैल गई हैं। फिर पीछे से भूषण की रचनाओं को बहुत कुछ तोड़ा मरोड़ा भी गया है। इसके विषय में तथा शिवराजभूषण की रचना के विषय में किसी भिन्न लेख में विचार किया जायगा। विस्तार-भय से इस लेख को यहाँ समाप्त करके आशा करता हूँ कि साहित्य-सेवा और सत्य की खोज करनेवाले हिंदी-प्रेमी इस पर गंभीरता पूर्वक विचार करने का कष्ट उठावेंगे।

समालोचना

राजपूताने का इतिहास—प्रथम खंड। ग्रन्थकर्ता तथा प्रकाशक रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, अजमेर।

यह ग्रंथ केवल इतिहास ही नहीं है, वरन् राजपूताने का खासा गज़ेटियर है। जिस ग्रंथ में किसी देश के राजा, राज्य और राजशासन का वर्णन हो, उसे बहुधा इतिहास कहते हैं। परंतु गज़ेटियर वह विवरण है जिसमें केवल इतिहास ही नहीं, वरन सभी विषयों का समावेश रहता है। इसे रूप-रंग, आकार-विस्तार, नदी-नाले, पहाड़-जंगल, जल वायु, खेती-बारी, लोग-बाग, धर्म-कर्म, जाति-पाँति, रीति-रस्म, चाल ढाल, आचार-विचार, कपड़े-लत्ते, गहना-गुरिया, बोली-बानी, शिक्षा-कला, रोग-राई, अकाल-दुकाल, ढोर-बछेरू, पेशे-धंधे, व्यापार-रोजगार, लेन-देन, धन सम्पत्ति, लूट-मार, लड़ाई-दंगे, राज-दरबार, अमल-भाग, जीर्ण-शीर्ण महल मंदिर, शहर-कस्बे, गाँव-खेड़े और मुख्य मुख्य ठौरों की ख्याति इत्यादि की झाँकी समझना चाहिए। ऐसी जानकारी के भांडार से किसको लाभ न पहुँचेगा? शासन-कर्ताओं के लिये तो यह अमूल्य संग्रह है। जो जानकारी किसी देश में वर्षों रहकर प्राप्त नहीं हो सकती, वह उस स्थान के गज़ेटियर का अध्ययन करने से एक सप्ताह भर में उपलब्ध हो जाती है। इसलिये अँग्रेजों ने लाखों रुपए खर्च करके केवल भारतवर्षीय गज़ेटियर ही नहीं, वरन् हर एक प्रदेश और जिले के अलग अलग विवरण तैयार करवा डाले, जिसके कारण 'ताजा विलायत' वाला भी इस प्रदेश के प्राचीन निवासियों तक को ऐसी प्रामाणिक बातें बतलाया करता है, जो उनके कभी श्रवण-गोचर न हुई हों। यह नहीं समझना चाहिए कि गज़ेटियर लिखने की बात केवल अँग्रेजों को सूझी। इनके पहले के शासनकर्त्ता भी इस प्रकार की रचना कर गए हैं।

मुसलमानी जमाने में अब्दुल फजल आईने-अकबरी को रचकर अपने जमाने की स्थिति का एक अमूल्य वर्णन छोड़ गया है। उसके पूर्व मैथिल कवि विद्यापति ने भी संस्कृत में एक गजेटियर लिख डाला था। वह स्वयं शासनकर्ता नियुक्त हुआ था; इसी कारण उसे ऐसे ग्रंथ के लिखने की आवश्यकता जान पड़ी। हिंदी में इस प्रकार के उपयोगी ग्रंथ उन्नीसवीं शताब्दी में नहीं लिखे गए थे; परंतु बीसवीं शताब्दी के आरंभ से अब कुछ इस ओर ध्यान खिंचा है। इस शैली की प्रथम हिंदी पुस्तक बाबू साधुचरण प्रसाद ने लिखी, जिसका नाम भारत-भ्रमण है। वह किसी अंश में भारतवर्षीय इम्पीरियल गजेटियर की समता करता है।

इसके लिखे जाने के कुछ काल पश्चात् मध्य प्रदेश में जिलों के पृथक् पृथक् हिंदी गजेटियर लिखने का कार्य आरंभ हुआ। अभी तक १० जिलों के विवरण छपे हैं। उसी प्रान्त का एक प्रादेशिक गजेटियर भी तैयार हो चुका और छप रहा है। प्रायः एक वर्ष पूर्व जब मुझसे उसके विषय में भूमिका के रूप में दो शब्द लिखने का आग्रह किया गया था, तब मेरा अनुमान था कि वह प्रादेशिक गजेटियरों का प्रथम ग्रंथ होगा। परंतु ओझा जी के परिश्रम ने यह मान शूरता-सिरमौर राजपूताने को दिलाया। उनका 'राजपूताने का इतिहास' एक नवीन वर्ग का गजेटियर है; क्योंकि उसमें जिला और प्रादेशिक गजेटियर दोनों इकट्ठे कर दिए गए हैं। प्रादेशिक भाग में चार अध्याय हैं। शेष अध्यायों में पृथक् पृथक् रजवाड़ों का विस्तारपूर्वक वर्णन किया गया है। प्रादेशिक अंश का प्रथम अध्याय सारे राजपूताने का भूगोल संबंधी चित्र उपस्थित करता है और साथ ही साथ सामाजिक, साहित्यिक, धार्मिक आदि व्यवस्थाओं का भी बोध करा देता है। दूसरे और तीसरे अध्यायों में राजपूत जाति और प्राचीन राजवंशों का विस्तारपूर्वक वर्णन है, जिनमें "राजपूत जाति को क्षत्रिय न माननेवालों की तद्विषयक

दलीलों को जाँचकर सप्रमाण यह बतलाया है कि जो आर्य क्षत्रिय लोग हजारों वर्ष पूर्व भारत भूमि पर शासन करते थे, उन्हीं के वंशधर आज कल के राजपूत हैं"। शिक्षित देशों में विकासवाद पर बड़ा जोर दिया जाता है, जिसमें नीची अवस्था से क्रमशः ऊँची दशा को पहुँचना एक प्राकृतिक नियम सुस्थिर किया गया है। विकासवादी डार्विन साहब ने* यह सिद्ध किया है कि मनुष्य बंदर की औलाद है। कुछ कुछ इसी सिद्धांत पर संयुक्त प्रांत के शिक्षा विभागाध्यक्ष नेस्फील्ड साहब ने ब्राह्मणादि का आविर्भाव चमार-डोमों से बतलाया था। इसी प्रकार प्रसिद्ध इतिहासकार डाक्टर विन्सेंट स्मिथ ने अपने इतिहास में क्षत्रियों की उत्पत्ति मूल निवासी भील कोलादि जंगली जातियों से लिख दी है। ओझा जी ने बड़ी योग्यता के साथ इसका खंडन किया है और अपने कथन के समर्थन में ऐसे प्रमाण दिए हैं जिनका किसी प्रकार खंडन ही नहीं हो सकता। साथ ही साथ ओझा जी ने अपने देश-भाइयों के विवाद का भी यथोचित समाधान किया है। लब्ध-प्रतिष्ठ डाक्टर देवदत्त भांडारकर कलकत्ता विश्वविद्यालय के प्रधान इतिहासाध्यक्ष ने श्रीरामचन्द्र कुलोत्पन्न उदयपुर के क्षत्रिय वंश को शिलालेखों और अन्य प्रमाणों से ब्राह्मण जातीय सिद्ध किया था। परंतु ओझा जी ने उनके अर्थ लगाने की अशुद्धता बतलाकर और कई नवीन सबल प्रमाण देकर उदयपुर वंश को पंडिताई या भिक्षुकी से बचा लिया। नहीं तो संभव था कि उदयपुरी वंश ब्रह्मतेज प्राप्त करते ही कदाचित् भांडारकर का भाँड़ा-फोड़ कर डालता। परंतु क्षत्रियत्व की मात्रा स्थिर रहने के कारण, विप्र-दोष को दोष न गिनकर अपने पूर्वजों के कथनानुसार वह कहता ही चला जाता है—"भारत हू पाँ परिय तुम्हारे"। इन अध्यायों के पढ़ने से राजपूतों की प्राचीन

* अब तो डार्विन के विरुद्ध अमेरिकावालों की थ्योरी बदल गई है। हाल ही में वहाँ के एक शिक्षक को डार्विनी वाद पर व्याख्यान देने के कारण दंड दिया गया है।

शासन-पद्धति, युद्ध-प्रणाली, स्वामि-भक्ति, वीरता और उनकी वीरांगनाओं के पातिव्रत्य धर्म, शूर-वीरता और साहस आदि का चित्र हृदय-पट पर अनायास खिंच जाता है। इसके सिवा ग्रन्थकर्त्ता ने उन प्राचीन घरानों का भी दिग्दर्शन करा दिया है जो वर्तमान क्षत्रिय वंशों के अतिरिक्त राजपूताने में राज्य कर गए हैं। सिकन्दर और उसके यूनानी साथी भारत में कैसे आए और चन्द्रगुप्त ने उन्हें कैसे निकाला, शक, कुशान और हूण लोगों का कैसे आगमन हुआ और उनकी क्या गति हुई, गुप्त वंश कैसे बढ़ा, हर्षवर्धन ने अपना साम्राज्य कैसे स्थापित किया, इत्यादि घटनाओं का परिचय संक्षिप्त रीति से करा दिया गया है। इसके साथ ही यह भी बतला दिया गया है कि राजपूत जाति अपना प्राचीन इतिहास भाटों की करतूत से कहाँ तक भूल गई और बाप का बेटा और बेटे का बाप कैसे बना दिया गया और शुद्ध स्रोत से उत्पन्न वंश के लोग अपावन कुलों से अपना संबंध कैसे बतलाने लगे। जो बहुतेरी भूलें टाड सरीखे खोज के इतिहास में प्रवेश कर गई थीं, उनका भी यथोचित निवारण कर दिया गया है। चौथे अध्याय में मुसलमानों, मरहठों और अँग्रेज़ों से राजपूताने का संबंध बतलाया गया है। सन् १९१५ ईस्वी में "हितकारिणी" पत्रिका में बाबू राखालदास रचित बंगाल के इतिहास (बँगला) की समालोचना करते हुए मैंने लिखा था—"यदि हर एक प्रान्त के एक दो विद्वान् बनर्जी बाबू की शैली की ऐतिहासिक पुस्तकें रच डालें, तो हिन्दुस्थान के इतिहास का संग्रह कैसा परिपूर्ण और श्रेष्ठ हो जाय और भारतीय साहित्य के एक अपूर्ण अंग की पूर्ति हो जाय! यह बात नहीं है कि हिन्दी जाननेवालों में ऐसे इतिहासज्ञ नहीं हैं। हर एक प्रदेश में कई नामी पुरुष मौजूद हैं। उदाहरणार्थ, रायबहादुर पं० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, जिन्होंने सोलंकियों के विषय में एक उत्तम ग्रन्थ लिख डाला है। वे कदाचित् समस्त राजपूताने के राजपूतों का अनुपम इतिहास लिख सकते हैं।" मुझे यह

लिखते बड़ा हर्ष होता है कि दस ही वर्ष के पश्चात् ओझा जी ने भीमकाय ग्रन्थ लिखकर ऊपर लिखी अभ्यर्थना को सार्थक करके दिखला दिया। ओझा जी के गजेटियर का प्रधान अंग इतिहास ही है और वह यथार्थ में अनुपम है।

इस ग्रंथ की खूबी यह है कि कोई बात बिना प्रमाण बतलाए नहीं लिखी गई है। इसी कारण आधा ग्रंथ फुट-नोटों से भरा हुआ है। यह बात अँग्रेजी गजेटियरों में भी नहीं पाई जाती। यह इतिहास-लेखकों के लिये विशेष उपयोगी है। लेखन-शैली उत्तम और हृदयग्राही है। यत्र तत्र प्रादेशिक मुहाविरे ग्रन्थकर्त्ता के निवास-स्थल का परिचय करा देते हैं। यह पुस्तक हर एक पुस्तकालय में संग्रह करने योग्य है।

हीरालाल

(रायबहादुर, बी० ए०)

पृथ्वी प्रदक्षिणा या विदेश में २१ मास—ज्ञान मंडल ग्रन्थमाला का २२ वाँ ग्रंथ। लेखक श्रीयुक्त बाबू शिवप्रसाद गुप्त, सम्पादक बाबू मुकुन्दीलाल श्रीवास्तव, प्रकाशक ज्ञानमंडल कार्यालय, काशी। मूल्य १५)

गत सन् १९१४ ई० के मई मास अर्थात् युरोपीय महायुद्ध आरंभ होने के कोई तीन ही चार मास पूर्व काशी के सुप्रतिष्ठित रईस और वर्त्तमान "आज" तथा "ज्ञानमंडल" कार्यालय के अध्यक्ष श्रीयुक्त बाबू शिवप्रसाद जी गुप्त विदेश-यात्रा करने के लिये घर से निकले थे और इक्कीस मास तक विदेश में रहने के उपरान्त स्वदेश लौटे थे। इन इक्कीस मासों में से लगभग छः मास इंग्लैंड और आयर्लैंड में, छः मास अमेरिका में, ढाई मास जापान में, दो मास कोरिया और चीन में तथा तीन मास सिंगापुर जेल में व्यतीत हुए थे। इस प्रवास में गुप्त महाशय ने जो कुछ देखा, सुना और समझा था, वही

उन्होंने इस पुस्तक में लिखा है। पुस्तक के चार खंड हैं जिनमें अलग अलग मिस्र, अमेरिका, जापान और चीन देश का वर्णन है। इंग्लैंड का इस देश में कोई हाल नहीं दिया गया है और जान बूझकर नहीं दिया गया है। इसका कारण भी स्पष्टवादी गुप्त जी ने साफ बतला दिया है; और वह यह कि उनके राजनीतिक विचार उन्हें उस समय की परिस्थिति को देखते हुए इंग्लैंड के सम्बन्ध में कुछ कहने नहीं देते थे। पुस्तक में केवल चार ही देशों का वर्णन है; और नाम है उसका "पृथ्वी प्रदक्षिणा" इसलिये कुछ लोगों ने पुस्तक के नाम के सम्बन्ध में आपत्ति भी की है। इसमें संदेह नहीं कि इसमें अतिव्याप्ति दोष आता है; पर वह इस दृष्टि से क्षम्य हो सकता है कि इस दोष से रहित नामकरण भी सहज नहीं था। अस्तु; पुस्तक में २१० एक रंगे, दो-रंगे और तिनरंगे चित्र तथा छः मानचित्र हैं। पुस्तक बहुत बढ़िया चिकने मोटे कागज पर छोटे अक्षरों में छपी हुई है।

हिन्दी में प्रवास सम्बन्धी ग्रंथ और यात्रा-विवरण बहुत ही कम हैं; और जो हैं भी, उनमें विदेश यात्रा से सम्बन्ध रखनेवाले ग्रंथ और भी कम हैं। ऐसी दशा में हम आरंभ में ही बिना किसी प्रकार के संकोच के कह सकते हैं कि हिन्दी के प्रवास-साहित्य में इस समय यह ग्रंथ अनेक दृष्टियों से सर्वश्रेष्ठ स्थान का अधिकारी है। एक तो यों ही हम भारतवासी विदेश यात्रा से घबराते हैं; और फिर हममें से जो लोग किसी प्रकार अथवा किसी कारण विदेश जाते भी हैं, तो अधिकांश पूरे साहब बहादुर बनकर लौटते हैं। और साहब बहादुर बन जाने पर हिन्दी के साथ कोई सरोकार रखा नहीं जा सकता! कुशल है कि बाबू शिवप्रसाद गुप्त उन लोगों में नहीं हैं; नहीं तो इस ग्रंथ-रत्न से भी बेचारी हिन्दी वंचित ही रह जाती। विदेश जाने से बहुत पहले बाबू साहब में अपने देश के प्रति और साथ ही अपनी मातृभाषा के प्रति बहुत कुछ प्रेम और बहुत कुछ अभिमान उत्पन्न हो

चुका था, जिसने उनसे इसकी रचना मातृभाषा हिंदी में कराई । इसे हिंदी का सौभाग्य ही समझना चाहिए ।

प्रवास के साधारणतः तीन उद्देश्य हुआ करते हैं—धनार्जन, ज्ञानार्जन और मनोविनोद । गुप्त महाशय की विदेश-यात्रा कुछ तो मनोविनोद के उद्देश्य से हुई थी और कुछ ज्ञानार्जन के लिये भी । वे आरम्भ से ही अपने देश की राजनीतिक, सामाजिक और आर्थिक दुर्दशा से परिचित हो चुके थे और सदा दुखी मन से उस दुर्दशा का अनुभव किया करते थे । पुस्तक में अनेक स्थलों पर इस बात का प्रमाण मिलता है कि गुप्त महाशय ने इतने दिन विदेश में आँखें बन्द करके नहीं बिताए थे—उन्होंने खाली सैर सपाटा नहीं किया था—बल्कि वे स्थान स्थान पर अपने देश की अवस्था तथा देशवासियों के आचार विचार आदि की तुलना करते चलते थे; और इस बात का अनुभव करते चलते थे कि हमारा देश संसार की प्रायः सभी बातों में शेश संसार से कितना पिछड़ा हुआ है—उसे अभी कितनी अधिक उन्नति करने की आवश्यकता है । पुस्तक में ऐसी अनेक बातें आई हैं जिनसे यही सिद्ध होता है कि गुप्त महाशय के लिये एक मात्र देश-सेवा ही धर्म है और देश-सेवा ही कर्म है । आप जहाँ गए हैं, वहीं आपने अपने देश और उसकी दुर्दशा का चित्र अपनी आँखों के सामने रखा है; जहाँ अवसर मिला है, वहीं उसकी उन्नति का उपाय सोचा है । जहाँ कोई अच्छा काम होता देखा है, वहीं अपने देशवासियों को उसका अनुकरण करने की सम्मति दी है; जहाँ कोई उपयुक्त कार्य-क्षेत्र देखा है, वहीं अपने देशवासियों को पहुँचकर कार्य करने के लिये उत्साहित किया है; जहाँ कहीं अपने देशवासियों की दुर्दशा देखी है, वहाँ आँसू बहाए हैं । गुप्त महाशय की प्रसिद्ध शुद्ध-हृदयता और स्पष्टवादिता उनके देश-प्रमे के आवेश में निकले हुए उद्गारों पर कुछ और ही रंगत चढ़ा देती है । कहीं तो वह पाठकों को लज्जित करके उनका सिर झुका देती है और कहीं उनमें

आशा तथा उत्साह का संचार करती है। तात्पर्य यह कि पुस्तक पढ़ने से मन में अनेक ऐसे विचार उत्पन्न होते हैं जो यदि हम चाहें, तो हमें और हमारे देश को बहुत कुछ अग्रसर कर सकते हैं।

संक्षेप में हम यही कहना चाहते हैं कि उक्त चार देशों के सुन्दर प्राकृत दृश्यों तथा वहाँ की राजनीतिक, सामाजिक तथा आर्थिक आदि अवस्थाओं के वर्णन से परिपूर्ण यह ग्रन्थ बहुत ही उपादेय और संग्राह्य है। पं० कृष्णकान्त मालवीय और स्व० पं० लक्ष्मीनारायण त्रिपाठी के संशोधन तथा सम्पादक महाशय के सम्पादन के उपरान्त भी पुस्तक की भाषा में अनेक स्थलों में शिथिलता रह गई है, यह कुछ आश्चर्य और दुःख की बात है। पर बड़ी चीज के सामने छोटी चीज कुछ मालूम नहीं हुआ करती; इसलिये पुस्तक की उपयोगिता तथा सुन्दरता के सामने वह शिथिलता भी दब जाती है। यों सुनने में पुस्तक का मूल्य १५) हिन्दीवालों को अधिक मालूम होता होगा; परन्तु पुस्तक पर लागत भी कम नहीं आई है। जो लोग इतना देकर पुस्तक खरीदने में समर्थ हों, उन्हें इसका संग्रह करके एकाधिक प्रकार से इससे लाभ उठाना चाहिए।

श्यामसुंदर दास (बी० ए०)

---

(७) उपमा का इतिहास

[लेखक—श्रीयुक्त पंडित उदयशंकर भट्ट, लाहौर]

(संस्कृत भाग)

पूर्व रूप

संस्कृत साहित्य में 'उपमा' शब्द अत्यन्त व्यापक है। इस शब्द का प्रयोग तथा इसके पर्यायवाचक शब्द वेद, ब्राह्मण, उपनिषद्, दर्शन, व्याकरण, निरुक्त, न्याय, मीमांसा और अलंकार आदि सभी शास्त्रों में मिलते हैं। मीमांसा और व्याकरण में 'अतिदेश' शब्द इसी अर्थ में प्रयुक्त होता है। वेदों में उपमा के पर्यायवाची शब्दों का अधिकतर प्रयोग हुआ है और स्वयं उपमा का कम। वेदों में ऐसे बहुत कम स्थान आते हैं, जहाँ स्पष्ट रूप से 'उपमा' शब्द आया हो। न्याय शास्त्र में यह एक तीसरा प्रमाण है। अलंकार शास्त्र इस का मुख्य विषय है। इस शास्त्र में यह शब्द अन्य शास्त्रों से अंकुरित होकर पुष्पित और पल्लवित हुआ है। अलंकार शास्त्रों में इसकी महत्ता इतनी अधिक है कि यह अलंकारों में सर्व-प्रथम माना गया है। राजशेखर ने इसको सम्पूर्ण काव्य-सम्पत्ति का शिरोमणि और कवि-वंश की माता बताया है। इसी प्रकार अलंकार-सर्वस्व ने उपमा को अनेक विचित्रताओं से युक्त और अनेक अलंकारों का बीज माना है। उपर्युक्त दोनों ग्रन्थकारों की बातें अक्षरशः सत्य हैं। आगे चलकर इस लेख में ये दोनों पूर्ण रूप से स्पष्ट हो जाती हैं। इस लेख में हम उपमा की व्यापकता और उसके स्वरूप-परिवर्तन तथा विकास पर पूर्ण रूप से परन्तु संक्षिप्त विवेचन करेंगे।

इतिहास

उपमा शब्द के प्रयोग और इसकी मौलिकता के विषय में कुछ लिखना कठिन है। कोई शास्त्र इसका प्रारम्भिक इतिहास नहीं बताता। हाँ राजशेखर ने काव्य मीमांसा में इस पर कुछ प्रकाश जरूर डाला है; परन्तु वह इतना अपूर्ण है कि उससे आगे बढ़ा नहीं जाता। उसका कहना है कि आरम्भ में इस शास्त्र की प्रक्रिया शिव ने ब्रह्मा को सिखाई, और वही भिन्न भिन्न अधिकारियों द्वारा संसार में फैली। उसने उपमा का औपकायन नामक किसी व्यक्ति द्वारा संपन्न-प्रसिद्ध होना बतलाया है। परंतु यह औपकायन कौन थे, कब और कहाँ हुए, यह बताना कठिन है। वेदों में औपकायन नामक कोई ऋषि नहीं मिलते। व्याकरण शास्त्र ने अपनी टाँग अड़ाकर औपकायन की कुछ व्युत्पत्ति जरूर दी है। उससे मालूम होता है कि यह औपकायन किसी उपक नामक व्यक्ति के गोत्रज थे। पाणिनीय व्याकरण के सूत्र 'उपकादिभ्योऽन्यतरस्यामद्वन्द्वे' ११.४.६९ से गोत्रापत्य में औपकायन शब्द सिद्ध होता है। गणों में उपकादि गण का भी पाठ है। इससे यह तो स्पष्ट है कि पाणिनि को उपक तथा औपकायन दोनों का ज्ञान था; परन्तु राजशेखर को औपकायन आदि व्यक्तियों का पता कैसे और कहाँ लगा, यह अज्ञात है। इन्हीं प्रचारकों में उतथ्य, पाराशर, कुबेर, कामदेव और भरतादि व्यक्तियों के नाम हैं। इनमें भरत तो नाट्य-शास्त्र के प्रणेता प्रसिद्ध ही हैं; दूसरे व्यक्ति भी पुराणों में मिलते हैं। परन्तु पता उनके ग्रंथों का भी नहीं लगा। अतः औपकायन सम्भवतः भरत, पाराशर, कुबेर, कामदेव आदि के ही समकालीन होंगे। भरत मुनि कृत नाट्यशास्त्र के रचना-काल के विषय में पंडितों में परस्पर अत्यन्त मतभेद है। प्रोफेसर मेक्डानल ने A History of Sanskrit Literature के पृष्ठ ४५३ में ईसा की पाँचवीं सदी में भरत का होना लिखा है। महामहोपाध्याय पंडित हरप्रसाद शास्त्री ने जरनल आफ एशियाटिक

सोसाइटी बंगाल १९१३ पृ० ३०७ में इस शास्त्र का ईसा से पूर्व दूसरी सदी में होना लिखा है। जो हो, हमें भरत का इतिहास नहीं ढूँढना है। कहना केवल यही है कि औपकायन इन्हीं के आसपास या इनके समकालीन होंगे।

विषय-प्रवेश

आरम्भ में ही लिखा जा चुका है कि वेदों में उपमा के पर्याय-वाची शब्द तथा स्वयं उपमा शब्द भी कई स्थानों पर आया है। निघण्टु-कार काश्यप * ने वेदों में आनेवाले बारह प्रकार के उपमावाचक शब्द लिखे हैं। वे निम्नलिखित हैं—"इदमिव; इदंयथा, अग्निर्न, चतुरश्चिदददमानात्, ब्राह्मणाः व्रतचारिणः, वृक्षस्य नुवे पुरुद्रसवयाः, जार आभगम्, मेषो भूतो इ भियं नयः, तद्रूपः, तद्वर्णः, तद्वत् तथेत्युपमाः"। इसमें इव, यथा, न, चित्, नु आदि वर्ण उपमाबोधक हैं। इनके मंत्र भी निरुक्त में यथा स्थान दिए गए हैं। ब्राह्मणा व्रतचारिणः में लुप्तोपमा है। गार्ग्य ने उपमा का लक्षण 'अतत्तत्सादृश्यं' किया है। ऋग्वेद में उपमा शब्द भी मिलता है†। सायणाचार्य ने यहाँ उपमा का अर्थ दृष्टान्त किया है। कदाचित् उपमा शब्द वेदों के समय में इतना प्रसिद्ध न था। साथ ही इस का व्यवहार भी आजकल के समान उपमा के अर्थ में नहीं होता था। अन्यथा इसी मंत्र में 'इव' शब्द स्पष्ट रूप से उपमा के अर्थ में आता हुआ भी स्वयं उपमा शब्द दृष्टान्त अर्थ में प्रयुक्त न होता। मालूम होता है, काश्यप के समय में उपमा शब्द का ठीक प्रयोग होता था। यही कारण है कि उसने अन्त में 'तथे-

---

* कुछ लोगों का मत है कि वैदिक निघण्टु के बनानेवाले काश्यप नहीं थे, बल्कि यास्क ही ने निघण्टु की रचना की।

† त्वमग्ने प्रयत दक्षिणं नरं वर्मेव स्यूतं परिपासि विश्वतः। स्वादुक्षद्मा यो वसतौ स्योन कृज्जीव याजं यजते सोपमादिवः १। ३१। १५।

त्युपमाः' शब्द लिखा है। कोशकार काश्यप ने उपमावाची शब्द लिखते हुए उनके भेद नहीं बताए, इसका कारण यही है कि वह उसके विषय के बाहर की बात थी। वेदों में पूर्णोपमा तथा लुप्तोपमा दो ही प्रकार की उपमाएँ मिलती हैं। परन्तु निरुक्तकार ने इसका विस्तृत विवेचन किया है, यह हम आगे दिखलावेंगे। उपनिषदों में कई स्थानों पर उपमा शब्द आया है। मैत्रेयी उपनिषद् में उपमा के भेद भी बतलाए गए हैं। उसमें लिखा है—श्रवणाङ्गुष्ठयोगेनान्तर्हृदयाकाशशब्दमाकर्णयन्ति। सप्तविधेयं तस्योपमा। यथा नद्य. किंकिणीकांस्यचक्रकभेकविःकृन्ति विवृष्टिर्निवाते वदती ति"। अर्थात् नदी की धारा, घंटियाँ, घड़ियाल, पहिया, मेंढक, मेघ तथा सुनसान जगह का योगी लोग ज्ञान प्राप्त करते तथा शब्द सुनते हैं। उक्त उद्धरण में उपमा शब्द उपमान के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। संस्कृत शास्त्र में कई स्थलों पर उपमा शब्द उपमान के अर्थ में आता है। पाणिनि ने भी उपमा शब्द का प्रयोग उपमान के अर्थ में ही किया है*। नैयायिक लोग उपमान को एक प्रमाण मानते हैं†। उनके मत से प्रसिद्ध वस्तु के साधर्म्य—सादृश्य-ज्ञान से सुप्रसिद्ध साध्य वस्तु का ज्ञान उपमान होता है। दृष्टांत के लिये उनके यहाँ एक वाक्य है—"गौरिव गवयः"। अर्थात् "गौ के समान गवय है।" यहाँ गवय पदार्थ ज्ञातव्य है और गौ ज्ञात। ज्ञात गौ के साधर्म्य ज्ञान से तत्सदृश लक्षण देखकर गवय नामक अज्ञात पदार्थ का ज्ञान होता है। इस प्रकार का ज्ञान 'संज्ञा संज्ञि-संबंध प्रतिपत्ति' कहलाता है। 'उपनय' शब्द भी नैयायिकों में प्रयुक्त होता है। उपनय का अर्थ है किसी वस्तु को दूसरी वस्तु के समीप ला देना। दूसरों शब्दों में इसका अर्थ सादृश्य संबंध ज्ञान का सहेतुक विनिगमन कराना है। यह शब्द

---

* तुल्यार्थैरतुलोपमाभ्यां तृतीयान्यतरस्याम्—अष्टाध्यायी, २. ३. ७२।

† प्रसिद्धसाधर्म्यात्साध्यसाधनमुपमानम्—न्यायदर्शन, १. १. ६.

अनुमान के पाँच अवयव वाक्यों में से एक है। इसका स्वरूप है—तथा चायं तस्मात् तथा। अर्थात्—"इन कारणों से यह वस्तु इस के समान है; अतः यह वस्तु भी इसी गुणवाली है" आदि। मीमांसक लोग भी इसी प्रकार का उपमान मानते हैं; पर उसके वर्णन की यहाँ आवश्यकता नहीं है। महाभाष्य में नैयायिकों के समान ही उपमान का निर्वचन किया गया है*। निरुक्तकार यास्क ने उपमा के विषय में बहुत कुछ लिखा है, परन्तु उपमा पर नहीं। इन्होंने निघंटुकार काश्यप की बारह उपमाओं को छः बना दिया है। इन के मत में इव, यथा, न, चित्, नु और आ ये कर्मोपमा हैं। यास्क की दूसरी उपमा भूतोपमा है†। जिस जगह इस भूतोपमा का उदाहरण है, वहाँ इन्द्र को यज्ञ में आह्वान करने के लिये मेष की उपमा दी गई है। अर्थात् मेष जिस प्रकार बिना विलम्ब और बिना उत्तर दिए ही यज्ञ में आकर मौजूद हो जाता है, उसी प्रकार वह भी यज्ञ का भाग लेने के लिये आवे। इसमें एक प्राणी के गुण के समान दूसरे उपमेय प्राणी के गुण तथा स्वभाव की कल्पना की गई है। यास्क की तीसरी उपमा है रूपोपमा‡। यहाँ तत्सदृश रूप से उपमेय का कथन किया गया है; और उपमेय के अतिरिक्त उपमान, वाचक और धर्म का लोप है। काव्य-प्रकाशकार मम्मट ने इसको त्रिलुप्तोपमा कहा है×। इसकी उद्योत टीका में त्रितय का लोप केवल समास में बताया गया है। यास्क की चौथी उपमा 'था' है। पाँचवीं सिद्धोपमा है+। इसमें उपमान

---

* मानं हि नामानिर्ज्ञातज्ञानार्थमुपादीयतेऽनिर्ज्ञातमर्थं ज्ञास्यामीति। तत्समीपे यन्नात्यन्ताय मिमीते तदुपमानं गौरिव गवय इति महाभाष्यसूत्र "उपमानानि सामान्यवचनैः"।

† मेष इति भूतोपमा। मेषो भूतो ३ भियन्नयः। ऋ० सं० ५. ७. २४. ५। निरुक्त पृ. २२१।

‡ अग्निरिति रूपोपमा। "हिरण्यरूपः स हिरण्यसंदृक् अपांनपात्सेदु हिरण्यवर्णः हिरण्ययात्परि योनेर्निषद्या हिरण्यदा ददत्यन्नमस्मै"। निरुक्त. पृ. २२३ ऋ. सं. २. ७. २३. ५.

× त्रिलोपे च समासगा। काव्य प्र. दशम उल्लास, पृ. ४५३.

+ यदिति सिद्धोपमा, ब्राह्मणवत्, वृषलवत् ब्राह्मणा इव, वृषला इव। नि. पृ. २३२.

और उपमेय दोनों ही पदार्थ लोक सिद्ध होते हैं। यास्क की छठी उपमा लुप्तोपमा है। यह उपमा मम्मट आदि काव्यकारों के समय में आकर रूपक के रूप में आई। यास्क कहते हैं कि कोई कोई आचार्य इस उपमा को अर्थोपमा भी कहते हैं। निरुक्त की टीका में अर्थोपमा के विषय में दुर्गाचार्य कहते हैं कि इसको अर्थोपमा भी कहा जाता है*, क्योंकि वक्ता के अभिप्राय से उक्त उपमा शब्द यहाँ अर्थ से जाने जाते हैं। यास्क के बाद पाणिनि ने करीब चालीस सूत्रों द्वारा उपमा का प्रतिपादन किया है। पाणिनि ने लौकिक न्याय का भी कथन किया है †। जैसे देवदत्त का वध काकतालीय न्याय से हुआ। यहाँ कौए के आगमन और ताल-पतन के समान दोनों अर्थ एक समवेत क्रिया के वाची हैं। कौए का आगमन देवदत्त के आगमन का उपमान है, और ताल-पतन दस्यु के आक्रमण के समान दोनों क्रियाओं का एक कालावच्छेद से दस्यु द्वारा देवदत्त का वध करता है, अतः काकतालीय न्याय से देवदत्त का वध हुआ। शांतनव ने फिट् सूत्रों में उपमा का वर्णन किया है ‡। आलंकारिकों ने इसको 'अनन्वयोपमा' कहा है। जैसे राम और रावण का युद्ध राम और रावण के समान हुआ। सारांश यह है कि पाणिनि, कात्यायन, पतंजलि और शांतनव आदि वैयाकरणों ने उपमा का यत्र तत्र अधिक विवेचन किया है। पाणिनि ने यास्क की 'सिद्धोपमा' का वर्णन अष्टाध्यायी के इकीस सूत्रों में किया है। इसी सिद्धोपमा का नाम उन्होंने 'अतिदेश' रखा है। 'अतिदेश' शब्द व्याकरण और मीमांसा में पारिभाषिक है। व्याकरण में इस का नाम 'अनुदेश' भी है। व्याकरण के १. १ ५६ सूत्र के भाष्य में पतञ्जलि ने अतिदेश का

---

* तानि च पुनरसमाम्नातानि च निघण्टुसमाम्नाये तेषु हि वक्तुरभिप्रायगना। उपमा शब्दा अर्थेन उपमीय ते (लिङ्गधन्ते) इत्यर्थो प्रयुज्यते। पृ. २३४।

† समासाच्चतद्विषयात्—महाभाष्य। ५. ३. १०६।

‡ तुल्यार्थयोरुपनामधेयस्य। चन्द्रेव चंचा। न वृक्षपर्वतविशेषव्याघ्रसिंहमहिषाणाम्। ताल इव तालः। मेरुरिव मेरु। फिट् सूत्र द्वि. पा. १६,१८.

विस्तृत व्याख्यान किया है। स्थानी और अतिदेश दो पृथक् वस्तुएँ हैं*। इसमें एक स्थान में दूसरी वस्तु का आदेश होता है; जैसे गुरु के पुत्र में गुरु का भाव। जिस प्रकार गुरु के संमुख पैर फैलाकर न बैठना, आने पर उठकर अभिवादन करना, जूठन न खिलाना आदि आचरण गुरु के साथ बरते जाते हैं, उसी प्रकार गुरु-पुत्र में भी इन भावों का आरोप अतिदेश है। यह 'अतिदेश' दो प्रकार का है—सामान्य और विशेष। सामान्य अतिदेश में सामान्य ज्ञान की प्रतिपत्ति होती है, विशेष की नहीं। जैसे "इस क्षत्रिय के साथ ब्राह्मणों जैसा व्यवहार करना"। इसका आशय यह हुआ कि इस क्षत्रिय से ब्राह्मणों के समान व्यवहार किया जाय, विशेष देवदत्त या यज्ञदत्त के समान नहीं। यास्क ने भी ब्राह्मणवत्, वृषलवत् आदि पाठ देकर अतिदेश के बदले सिद्धोपमा नाम स्थिर किया है। भाष्य-प्रदीप में कैयट ने अतिदेश का विस्तृत व्याख्यान किया है, जिसका सारांश भी उपर्युक्त सा ही है। मीमांसा दर्शन के शाबर भाष्य में अतिदेश के विषय में बहुत कुछ लिखा गया है। पूर्व मीमांसा में एक जगह अतिदेश के विषय में बताया है—"जो धर्म एक स्थान पर विहित है, उसका दूसरे स्थान पर लाकर रख देना अतिदेश कहलाता है†।" इसी भाष्य में उस अतिदेश को तीन प्रकार का बताया है-कर्माति-

---

* स्थानिवदादेशोऽनल्विधौ।······स्थान्यादेश पृथक्त्वादेशे स्थानिवदनुदेशो गुरुवत् गुरुपुत्र इति। यथा अन्यस्थानी अन्यादेशः। स्थान्यादेशपृथक्त्वादेतस्मात् कारणात् स्थानिकार्यमादेशेन प्राप्नोति।······तच्चान्तरेण यत्नं न सिद्ध्यतीति तस्मात्स्थानिवदनुदेशः। एवमर्थमिदमुच्यते गुरुवद् गुरुपुत्र इति। तद्यथा गुरुवत् गुरुपुत्रे वर्तितव्यमिति गुरौ यत्कार्यं तद् गुरुपुत्रेऽतिदिश्यते।······ननु चैतमर्थे एवायं यत्नः क्रियते अन्यस्य कार्यमुच्यमानं अन्यस्य यथा स्यादिति। सत्यमेव मर्थो नतु प्राप्नोति। किं कारणम्, सामान्यातिदेशे विशेषानतिदेशः। सामान्ये ह्यतिदिश्यमाने विशिष्टो नातिदिष्टो भवतीति। ब्राह्मण वदस्मिन् क्षत्रिये वर्तितव्यमिति सामान्यं यद् ब्राह्मणकार्यं तदतिदिश्यते। यद्विशिष्टं माठरे कौण्डिन्ये वा न तदतिदिश्यते। महाभाष्य, सू. १. १. ५६।

† अतिदेशो नाम परम विहिता धर्मास्तान रिय अन्यत्रतेपारेशः। शै. शा. ७. १. १२

देश, संस्कारातिदेश और यौगिकातिदेश। अलंकार शास्त्रों में इसी अतिदेश के भिन्न भिन्न नाम हैं। वामन ने इसको 'वक्रोक्ति' कहा है। वामन ने 'वक्रोक्ति' का लक्षण अलंकार के अन्य आचार्यों से भिन्न किया है*। संभवतः वामन पर वैयाकरण मीमांसकों का अधिक प्रभाव पड़ा है; अन्यथा 'वक्रोक्ति' का लक्षण अलंकार के किसी आचार्य से तो मिलता। दण्डी ने वक्रोक्ति कोई अलंकार ही नहीं माना †। उनका कहना है कि श्लेष मुख्य है। साधारणतया स्वभावोक्ति और वक्रोक्ति ये दो श्लेष अलंकार के भेद मात्र हैं। भामह ने 'वक्रोक्ति' को अतिशयोक्ति माना है‡। आशय यह है कि भिन्न भिन्न आचार्यों ने वक्रोक्ति को अपने अपने पहलू से परखा है। हाँ, एक बात है। दण्डी का समाधि अलंकार अतिदेश से बहुत मिलता है ×। सरस्वती कण्ठाभरण में भोजदेव ने 'समाधि' के दो भेद किए हैं—सोद्भेद, और निरुद्भेद +। इस समाधि अलंकार का अर्थ भी अतिदेश के समान ही है। विज्ञ पाठक समझ लेंगे कि उपमा अतिदेश से वक्रोक्ति और वक्रोक्ति से समाधि तक किस प्रकार पहुँची है।

क्रम-विकास

अब हम उपमा पर भिन्न भिन्न अलंकाराचार्यों के मत दिखाने

---

* सादृश्याल्लक्षणा वक्रोक्ति । काव्य. सू. ३. ८.

† श्लेषः सर्वासु पुष्णाति प्रायो वक्रोक्तिषु श्रियम् ।
भिन्नं द्विधा स्वभावोक्तिर्वक्रोक्तिश्चेति वाङ्मयम् । काव्या. २. ३६३.

‡ (अतिशयेन उक्ति) सैषा सर्वत्र वक्रोक्तिरनयार्थो विभाव्यते ।
यत्नोऽस्यां कविना कार्यः कोऽलंकारोऽनया विना । ११. ७५ ।

× अन्यधर्मस्ततोऽन्यत्र लोकसीमानुरोधिना ।
सम्यगाधीयते यत्र स समाधिः स्मृतो यथा ।
कुमुदानि निमीलन्ति कमलान्युन्मिषन्ति च । काव्या. १. १३–१४ ।

+ समाधिमन्यधर्माणामन्यत्रारोपणं विदुः
निरुद्भेदोऽथ सोद्भेदो मद्विधापरिपठ्यते । स. क. ४. ३२ ।

की चेष्टा करेंगे। यह प्रश्न बहुत विवादास्पद है कि अलंकार के सर्व-प्रथम आचार्य कौन हुए। हम यह तो पहले लिख ही चुके हैं कि राज-शेखर ने काव्य मीमांसा में भिन्न भिन्न अलंकारों के प्रवर्तक तथा प्रचारक भिन्न भिन्न ऋषि गिनाए हैं। इसी तरह उन्होंने उपमालंकार के प्रचारक औपकायन का नाम लिया है। औपकायन का कोई ग्रन्थ नहीं मिलता। साथ ही राजशेखर के अतिरिक्त और किसी आचार्य ने औपकायन का उल्लेख नहीं किया। कदाचित् औपकायन का कोई ग्रंथ राजशेखर को मालूम होगा। परंतु आज कल वह ग्रंथ लुप्तप्राय है*। राजशेखर के गिनाए हुए आचार्यों में भरत का नाट्य शास्त्र ही एक ऐसा ग्रंथ है जो आजकल प्रसिद्ध है; इसलिये भरत ही काव्य शास्त्र के आदि प्रवर्तक कहे जा सकते हैं। इसके सिवा एक बात और भी है। वह यह कि राजशेखर द्वारा बताए हुए औपकायन आदि व्यक्तियों ने भिन्न भिन्न अलंकारों का उद्भावन नहीं किया होगा, किंतु उन्होंने सिद्धांत रूप से उन अलंकारों को संसार के सामने पेश किया होगा। अन्यथा रूपक, उपमा आदि अलंकार तो वेदों में भी पाए जाते हैं; और वेदों से उन ऋषियों का पूर्व होना अनुमान-सिद्ध नहीं है। यदि वे सृष्टि के आदि काल में होते, तो वेदों में किसी मंत्र-द्रष्टा के रूप में उनका नाम अवश्य आता। परंतु वेदों में ऐसा नाम नहीं आता। इन सब बातों से यही निष्कर्ष निकलता है कि ये लोग एक विषय के आचार्य होंगे, तथा इनका शाखागत संप्रदाय भी होगा। यही कारण है कि गोत्रापत्य में इन लोगों का नाम पाया जाता है।

कुछ लोगों का विचार है कि अलंकार शास्त्र की दृष्टि से अग्निपुराण का स्थान सर्व प्रथम है। महेश्वर ने अपने काव्यादर्श में लिखा है†—"भरत

---

*J. R. A. S. 1905 p. 841 के लेख में कुछ पुराने आचार्यों के नामों का उल्लेख किया गया है। इसमें लिखा है कि काव्यादर्श से मालूम होता है वररुचि, नारद, और नन्दि स्वामी ने कुछ ग्रंथ बनाए हैं जो आज कल नहीं मिलते।

† साहित्य दर्पण by P. V. Kane, P. II. Introdnction.

मुनि ने सुकुमार विचारवाले राजकुमारों को गहन शास्त्रों में प्रवेश कराने के लिये काव्य-रसास्वादन के मूल कारण अलंकार शास्त्र का संक्षेप से अपनी कारिकाओं मे अग्नि पुराण से उद्धृत किया"* । इसी प्रकार विद्याभूषण विरचित साहित्यकौमुदी की टीका कृष्णानंदिनी में अग्नि पुराण से ही भरत के नाट्य शास्त्र का उद्धरण सिद्ध किया गया है† । परंतु विचारपूर्वक देखने से दोनों लेखकों की बातें असगत जान पड़ती हैं । अग्नि पुराण ३३९. ६ में लिखा है—"भरत के एक विशेष वृत्ति बनाने के कारण इसका नाम 'भारती वृत्ति' पड़ा है‡ ।" इसका आशय स्पष्ट है कि यह वाक्य भरत के बाद बना । ऐसी दशा में यह कहना कि अग्नि पुराण भरत से पूर्व बना, असंगत है । इस विषय में और भी बहुत से प्रमाण दिए जा सकते हैं; परंतु वे यहाँ अप्रयोजनीय हैं ।

भरत—भरत ने नाट्य-शास्त्र में उपमा का लक्षण देते हुए लिखा है कि काव्यों में जहाँ सादृश्य से किसी वस्तु का उपमान बनाया जाता है, वहाँ गुण तथा आकृति के साम्य से उपमा होती है + । भरत ने काव्यों के दस दोष बताए हैं और दस गुण । साथ ही उपमा, रूपक, दीपक और यमक ये चार ही अलंकार माने हैं × । इन्होंने रूपक पर अधिक जोर दिया है । इनका उपमा का लक्षण भी अर्वाचीन

---

* सुकुमारान्राजकुमारान् स्वादुकाव्यप्रवृत्तिद्वारा गहने शास्त्रान्तरे प्रवर्त्तयितुमग्निपुराणादुद्धृत्य काव्यरसास्वादकारणमलंकारशास्त्रकारिकाभिः संक्षिप्य भरतमुनिप्रणीतवान् । काव्यप्रकाशादर्श ।

† काव्यरसास्वादनाय वह्निपुराणादिदृष्टां साहित्यप्रक्रियां भरतः संक्षिप्ताभिः कारिकाभि निबंध । साहित्य-कौमुदी, कृष्णानन्दिनी टीका । Introducton, Sahitya Darpan. by P. V. Kane.

‡ भरतेन प्रणीतत्वात् भारतीवृत्तिरुच्यते ।

+ यत्किंचित् काव्यबंधेषु सादृश्येनोपमीयते उपमा नाम सा ज्ञेया गुणाकृतिसमाश्रया । भरत, नाट्यशास्त्र १६—४२ ।

× उपमा दीपकं चैव रूपकं यमकं तथा ।
काव्यस्यैते ह्यलंकाराश्चत्वारः परिकीर्तिताः ।

काव्यकारों से भिन्न ही हुआ है। जहाँ अर्वाचीनों ने सादृश्य-जन्य उपमा का लक्षण किया है,*वहाँ भरत के अतिरिक्त प्रायः सभी प्राचीनों में मतैक्य है। परंतु भरत ने १६ वें अध्याय में हीन पुरुषों का उत्तम के साथ गुणानुवाद ही उपमा का लक्षण किया है †। यद्यपि वास्तविक लक्षण में इन्होंने भी सादृश्य से ही उपमा की कल्पना की है, तो भी मालूम होता है कि १६ वें अध्याय के आरंभ में भरत के मस्तिष्क में यही लक्षण घूम रहा था। निरुक्तकार यास्क ने जरूर इसी प्रकार उपमा का वर्णन किया है; तो भी भरत का यह उपमा-लक्षण निरुक्तकार से ठीक मिलता जुलता नहीं है। यास्क ने दूसरे अध्याय में उपमा के लक्षण में लिखा है कि किसी महान् गुण-प्रसिद्धतम वस्तु से जहाँ छोटी गुणयुक्त हीन वस्तु की तुलना की जाय, वहाँ उपमा होती है‡। भरत ने पाँच प्रकार की उपमाएँ बताई हैं—प्रशंसा, निंदा, कल्पिता, सदृशी और किञ्चित्-सदृशी। परंतु यास्क ने अन्य नामों के साथ काश्यप की १२ उपमाओं को काट छाँटकर छः माना है। आगे चलकर भरत ने अन्य उपमाओं के लक्षण दिए हैं, जो कथित उपमाओं से पृथक् हैं। भरत ने उनके विषय में कहा है—'काव्यों से समझ लेने चाहिएँ'। इतना होते हुए भी भरत ने अलंकार-वर्णन बहुत थोड़ा किया है।

मेधावी—इसके बाद दूसरा नंबर मेधावी का है। मेधावी का कोई ग्रंथ नहीं मिलता। भामह ने काव्यालंकार सूत्र में दो बार इनका नाम लिया है। उसने दूसरे अध्याय के ४० वें श्लोक में उपमा के सात दोष दिखाए हैं +। इससे यह स्पष्ट है कि मेधावी ने कोई ग्रंथ अवश्य बनाया

* अथात् उपमा यदतत्तत्सदृशमिति गार्ग्यस्तदासां कर्म, निरुक्त ३. १३. ख०

† गुणानुवादो हीनानामुत्तमैरुपमा स्मृता, भरत ना. १६. १४. काव्य. मा.

‡ तदासां कर्म ज्यायसानुवा गुणेन प्रख्याततमेन वा कनीयांसं वाप्रख्यातं वोपमिमीते। निरुक्त ३ अ. १३ खं.

+ त एते उपमा दोषाः सप्त मेधाविनोदिताः। काव्यालंकार सूत्र. २–४.

होगा। भामह ने और एक जगह मेधावी का नाम लिया है। यहाँ मेधावी ने भरत के चार अलंकारों में कुछ नवीनता का परिष्करण किया है; अर्थात् 'संख्यान' नामक एक अलंकार मेधावी ने और माना है। मालूम होता है, यही आगे चलकर उत्प्रेक्षा की शकल में आया है* । तो भी 'संख्यान' शब्द है बहुत संदेहास्पद। दण्डी ने काव्यादर्श में यथासंख्य नामक एक अलंकार का दिग्दर्शन कराया है †। जिस अलंकार का जिक्र दण्डी ने किया है, वह तो उत्प्रेक्षा हो ही नहीं सकता। नमि साधु ने रुद्रट के काव्यालंकार सूत्र पर टिप्पणी करते हुए 'मेधावी' के बदले 'मेधाविरुद्र' नाम लिखा है। कहा नहीं जा सकता, इनका वास्तविक नाम मेधाविरुद्र था या मेधावी। जो हो, इनका कोई ग्रंथ प्राप्य नहीं है।

धर्मकृति और भट्टि—श्रीयुत पी० के० काने ने धर्मकृति नामक किसी बौद्ध अलंकार-शास्त्री का जिक्र किया है। उनका ग्रंथ भी अप्राप्य है। अतएव हमने इनके भट्टि का नाम उसमें विषयक खोज में लेना उचित समझा है। इसमें कोई संदेह नहीं कि अलंकारशास्त्री की हैसियत से भट्टि ने कोई बाँका काम नहीं किया। उनका बनाया हुआ केवल एक ग्रन्थ 'भट्टिकाव्य' ही है। श्री के० पी० त्रिवेदी महाशय ने 'Bombay Sanskrit Series' में भट्टि के बनाए हुए भट्टि काव्य का सम्पादन किया है। त्रिवेदी महाशय ने इस ग्रन्थ की भूमिका में इस काव्य की प्राचीनता का प्रमाण देते हुए लिखा है कि ये वल्लभी के राजा धरसेन के समय में हुए थे। वही इनकी ग्रंथ-रचना का काल है। वल्लभी से आजकल के काठियावाड़ के वाला नामक स्थान का आशय है। धरसेन नाम के कई राजा हुए हैं। अंतिम धरसेन का समय

---

* यथासंख्यमथोत्प्रेक्षामलंकारद्वयं विदुः ।
संख्यानमिति मेधाविनोत्प्रेक्षाभिहिता क्वचित् ॥

† यथासंख्यमिति प्रोक्तं संख्यानं क्रम इत्यपि—काव्यादर्श—२—२७३ ।

५७१ ईसवी के लगभग है। इस तरह पहला धरसेन अंदाजन् ईसा की पाँचवीं सदी के पूर्व या इसके आसपास हुआ होगा। अस्तु; भट्टि ने अपने काव्य में सात प्रकार की उपमाएँ बताई हैं—अन्वर्थोपमा, इवोपमा, यथोपमा, सहोपमा, तद्धितोपमा, लुप्तोपमा और समासोपमा। इनमें से कुछ उपमाएँ तो यास्क और काश्यप के अनुरूप हैं। सहोपमा और तद्धितोपमा नई कल्पना कही जा सकती हैं। इन्होंने अलंकार पर कोई अलग ग्रंथ नहीं बनाया। एक ही ग्रंथ में काव्य, व्याकरण और अलंकारों की मुख्य मुख्य बातें रख दी हैं। अतएव इनका ग्रंथ लक्षण शास्त्र के जिज्ञासुओं के बहुत काम का नहीं है। भट्टि के बाद कौन सा आलंकारिक हुआ, यह कहना ज़रा कठिन है। ऐतिहासिकों में परस्पर घोर मतभेद है। एक पक्ष का कहना है कि इनके बाद काव्यालंकार के कर्त्ता भामह हुए। दूसरे का कथन है कि काव्यादर्श के रचयिता दण्डी हुए। हमारे लेख का यह विषय नहीं है; अतः हम इस पर विशेष विवेचना न करते हुए भामह को ही पहले लेते हैं *।

भामह—ने काव्यालंकार नामक एक ग्रंथ बनाया है। कुछ समय हुआ, यह ग्रंथ प्रताप-रुद्र यशोभूषण के साथ बड़ौदा संस्कृत सीरीज में श्री के० पी० त्रिवेदी द्वारा प्रकाशित हुआ है। इसमें छः परिच्छेद हैं। १६० श्लोकों में अलंकार का वर्णन किया है। इनकी उपमा का लक्षण भरत से भिन्न है। इन्होंने बड़े से छोटे या उत्कृष्ट से अनुत्कृष्टादि की बातें उपमा का कारण नहीं बताई हैं। इनका कहना है कि देश, काल और क्रिया से विरुद्ध भिन्न उपमान द्वारा उपमेय में गुण के यत्किञ्चिन्मात्र साम्य से उपमा होती है †। भामह ने अब तक आए हुए आलंकारिकों से उपमा का लक्षण

* अलंकार शास्त्र के क्रमबद्ध इतिहास पर इन पंक्तियों के लेखक ने एक पुस्तक लिखना आरंभ कर दिया है। कुछ भाग लिखा भी जा चुका है।

† विरुद्धेनोपमानेन देशकालक्रियादिभिः। उपमेयस्य यत् साम्यं गुणलेशेन सोपमा। ११. २. काव्यालंकार।

सुस्पष्ट और व्याप्ति दोष से शून्य किया है। इन्होंने उपमा के सात ही दोष दिखाए हैं तथा प्रतिवस्तूपमा को उपमा का ही भेद माना है। दण्डी ने भी काव्यादर्श में प्रतिवस्तूपमा अलग अलंकार नहीं माना है; परंतु वामन ने ऐसा नहीं किया। इसके अतिरिक्त इन्होंने उपमा के पृथक् भेदों की कल्पना नहीं की; उन्हीं प्राचीन आचार्यों के मत को दुहराया है।

दण्डी—काव्यादर्श के प्रणेता महाकवि दण्डी हैं। काव्यादर्श अलंकार और काव्य शास्त्रों में प्राचीनतम ग्रन्थ माना जाता है। इनके समय के विषय में बहुत मतभेद है। श्री पी. वी. काने महाशय ने साहित्य-दर्पण की भूमिका में उनके ग्रन्थ तथा समय के विषय में अच्छा प्रकाश डाला है। काने महोदय ने दण्डी के ग्रंथ से बहुत से प्रमाण देकर उन को भामह के बाद का सिद्ध किया है। सारांश, उन्होंने दण्डी का समय सन् ईसवी ७२० के बाद माना है। इसमें कोई संदेह नहीं कि दण्डी ने अपने ग्रंथ में काव्य सम्बन्धी ज्ञान भामह से अधिक भरा है। इनकी भाषा बहुत सरल और सुबोधगम्य है। इन्होंने उपमा के बहुत से भेद किए हैं। प्रत्येक उपमा-लक्षण के उदाहरण भी उसी के साथ लिख दिए हैं। आज वे उपमा-लक्षण अन्य अलंकारों के नाम से व्यवहृत होते हैं। हम यथास्थान यह बतलाने की चेष्टा करेंगे कि दण्डी ने अब तक आए हुए अलंकारों के आचार्यों से अधिक अलंकार लिखे हैं। मालूम होता है, बहुत से अलंकार तो दण्डी ने स्वयं बनाए हैं। द्वितीय परिच्छेद के आरंभ में दण्डी ने स्वयं इसका उल्लेख किया है। उनका कहना है—"पूर्वाचार्यों ने बीज रूप से जो काव्य संबंधी सिद्धांत लिखे हैं, उनका विस्तारपूर्वक वर्णन करना ही हमारा उद्देश्य है"*। इन्होंने

---

* किन्तु बीजं विकल्पानां पूर्वाचार्यैः प्रदर्शितम्। तदेव परिसंस्कर्तुमयमस्मत्परिश्रमः॥ काव्यादर्श २. २.

उपमान और उपमेय के सामान्य धर्म को उपमा नाम से व्यवहृत किया है। इनकी प्रथम उपमा धर्मोपमा* है। उपमेय और उपमान के तुल्य धर्म से धर्मोपमा होती है। जहाँ उपमेय में अनेक प्रतीयमान उपमान हों, वहाँ वस्तूपमा होती है। प्रसिद्धि-विपर्यास अर्थात् उपमान को उपमेय और उपमेय को उपमान बना देने से प्रसिद्धि-विपर्याप उपमा होती है। अर्वाचीन अलंकार-वेत्ताओं ने इसे 'प्रतीप' के नाम से पुकारा है। उपमान और उपमेय का जहाँ परस्पर औत्कर्ष्य कथन किया जाय, वहाँ दण्डी के मत में अन्योन्योपमा है। आगे चलकर इस का नाम उपमेयोपमा पड़ा है।

इस प्रकार दण्डी का उपमा-क्रम यह है—

दण्डी के समय के नाम	अर्वाचीन काल के नाम
१ धर्मोपमा	
२ प्रसिद्धि-विपर्यासोपमा	प्रतीप अलंकार
३ अन्योन्योपमा...	उपमेयोपमालंकार
४ नियमोपमा	
५ समुच्चयोपमा...	समुच्चयालंकार
६ अतिशयोपमा	
७ उत्प्रेक्षितोपमा	
८ अद्भुतोपमा...	अतिशयोक्ति (मम्मट)
९ मोहोपमा... ...	भ्रान्तिमान् (विश्वनाथ आदि)
१० संशयोपमा...	संशय
११ निर्णयोपमा...	निश्चयालंकार
१२ श्लेषोपमा...	श्लेष

* यथा कथंचित्सादृश्यं यत्रोद्भूतं प्रतीयते उपमानाम सा तस्याः प्रपञ्चोऽयं निदर्श्यते। काव्यादर्श २. १४.

१३ समानोपमा*

१४ निन्दोपमा

१५ प्रशंसोपमा

१६ आचिख्यासोपमा

१७ विरोधोपमा

१८ प्रतिषधोपमा

१९ चटूपमा

२० तत्वाख्यानोपमा

२१ अभूतोपमा

२२ असाधारणोपमा

२३ असंभ्भावितोपमा

२४ बहूपमा ... ... मालोपमा (साहित्यदर्पण)

२५ विक्रियोपमा

२६ मालोपमा†

२७ एकैव शब्द घटिता वाक्यार्थोपमा

२८ अनेकेवशब्द घटिता वाक्यार्थोपमा

२९ तुल्ययोगोपमा‡ ... ... तुल्ययोगिता

३० हेतूपमा +

लेख के बढ़ जाने के भय से हमने इन सब के लक्षण और उदाहरण नहीं दिए। इनमें बहुत सी उपमाएँ स्वरूप से ही बदलकर अन्य अलंकारों के

---

* यह भी श्लेष का भेद ही है। दण्डी के उदाहरण में समग रूप की झलक है।

† यह मालोपमा अन्य आचार्यों से भिन्न है। दर्पणकार ने इसे रसनोपमा कहा है।

‡ उद्भट ने तुल्ययोगोपमा का लक्षण दण्डी से मिलता जुलता ही दिया है। परन्तु काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द आदि अर्वाचीन ग्रन्थकारों ने 'तुल्ययोगिता' एक पृथक् अलंकार माना है।

+ यह भी भिन्न अलंकार ही है।

नाम से अर्वाचीन काव्यकारों के समय में व्यवहृत होने लगीं, और कुछ लुप्तप्राय हो गईं। दण्डी ने अन्य अलंकार भी लिखे हैं, परंतु उपमा के भेद बहुत किए हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उपमा प्रायः सब अलंकारों का मूलभूत कारण है। दण्डी ने भामह के समान ही उपमा के सात दोष दिखाए हैं—हीन, अधिक, वचनभेद, लिङ्गभेद, विपर्य्यय, असादृश्य और असंभव। इस दृष्टि से दण्डी ने अलंकारों को अच्छी तरह मथा है।

उद्भट—दंडी के बाद उद्भट के काव्यालंकार-संग्रह का नंबर है। काव्यालंकार संग्रह छः वर्गों में बाँटा गया है। इसमें अलंकार का कोई क्रम नहीं है। पंद्रहवें पृष्ठ पर अलंकारों के क्रम के विषय में टीकाकार ने लिखा है कि यह क्रम कुमारसंभव के आधार पर है*। इसमें दंडी के समान उपमा के भेद नहीं किए गए हैं। इनके मत से उपमान और उपमेय में चेतोहारी साधर्म्य का होना उपमा का लक्षण है†। उद्भट उपमा का लक्षण करने में दंडी से बढ़ गए हैं। दंडी के यथाकथंचित् साधर्म्य से चेतोहारि साधर्म्य में विशेषता है। मालूम होता है कि इनके समय में आकर उपमा का लक्षण अधिक विकसित हो गया था। एक बात जो इनके ग्रंथ में पाई जाती है, वह है व्याकरण का प्राधान्य। जहाँ दंडी ने उपमा को सब अलंकारों में मुख्य माना है, वहाँ उद्भट ने व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार विशेष विशेष प्रत्यय, क्यङ्, क्यच्, क्विप्, णमुल आदि के द्वारा उपमा का कलेवर पूर्ण किया है। इन्होंने श्रौती और आर्थी नाम की दो उपमाएँ मानी हैं—साधारणतया पूर्णा और लुप्ता। वाक्यगा, तद्धितगा, समासगा, सुप् और कृत के

---

* अनेन ग्रंथकर्त्रा स्वोपरचितकुमारसंभवैक देशोऽत्र उदाहरणत्वेनोपन्यस्त इति पूर्वं दीपकस्योदाहरणानि। का० लं० सं० टीका।

† यच्चेतोहारिसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः
मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमातु तत्॥ का. सं. १. वर्ग, पृ. १६

१३ समानोपमा*

१४ निन्दोपमा

१५ प्रशंसोपमा

१६ आचिख्यासोपमा

१७ विरोधोपमा

१८ प्रतिषधोपमा

१९ चटूपमा

२० तत्वाख्यानोपमा

२१ अभूतोपमा

२२ असाधारणोपमा

२३ असंभावितोपमा

२४ बहूपमा ... ... मालोपमा (साहित्यदर्पण)

२५ विक्रियोपमा

२६ मालोपमा†

२७ एकेव शब्द घटिता वाक्यार्थोपमा

२८ अनेकेवशब्द घटिता वाक्यार्थोपमा

२९ तुल्ययोगोपमा‡ ... ... तुल्ययोगिता

३० हेतूपमा +

लेख के बढ़ जाने के भय से हमने इन सब के लक्षण और उदाहरण नहीं दिए। इनमें बहुत सी उपमाएँ स्वरूप से ही बदलकर अन्य अलंकारों के

---

* यह भी श्लेष का भेद ही है। दण्डी के उदाहरण में सभंग श्लेष की झलक है।

† यह मालोपमा अन्य आचार्यों से भिन्न है। दर्पणकार ने इसे रसनोपमा कहा है।

‡ रुद्रट ने तुल्ययोगोपमा का लक्षण दण्डी से मिलता जुलता ही किया है। परन्तु काव्यप्रकाश, साहित्यदर्पण, कुवलयानन्द आदि अर्वाचीन काव्यग्रंथों ने 'तुल्ययोगिता' एक पृथक् अलंकार माना है।

\+ यह भी भिन्न अलंकार ही है।

नाम से अर्वाचीन काव्यकारों के समय में व्यवहृत होने लगीं, और कुछ लुप्तप्राय हो गईं। दण्डी ने अन्य अलंकार भी लिखे हैं, परंतु उपमा के भेद बहुत किए हैं। इससे यह तो स्पष्ट ही है कि उपमा प्रायः सब अलंकारों का मूलभूत कारण है। दण्डी ने भामह के समान ही उपमा के सात दोष दिखाए हैं—हीन, अधिक, वचनभेद, लिङ्गभेद, विपर्य्यय, असादृश्य और असंभव। इस दृष्टि से दण्डी ने अलंकारों को अच्छी तरह मथा है।

- उद्भट—दंडी के बाद उद्भट के काव्यालंकार-संग्रह का नंबर है। काव्यालंकार संग्रह छः वर्गों में बाँटा गया है। इसमें अलंकार का कोई क्रम नहीं है। पंद्रहवें पृष्ठ पर अलंकारों के क्रम के विषय में टीकाकार ने लिखा है कि यह क्रम कुमारसंभव के आधार पर है*। इसमें दंडी के समान, उपमा के भेद नहीं किए गए हैं। इनके मत से उपमा और उपमेय में चेतोहारी साधर्म्य का होना उपमा का लक्षण है†। उद्भट उपमा का लक्षण करने में दंडी से बढ़ गए हैं। दंडी के यथाकथंचित् साधर्म्य से चेतोहारि साधर्म्य में विशेषता है। मालूम होता है कि इनके समय में आकर उपमा का लक्षण अधिक विकसित हो गया था। एक बात जो इनके ग्रंथ में पाई जाती है, वह है व्याकरण का प्राधान्य। जहाँ दंडी ने उपमा को सब अलंकारों में मुख्य माना है, वहाँ उद्भट ने व्याकरण की प्रक्रिया के अनुसार विशेष विशेष प्रत्यय, क्यङ्, क्यच्, क्विप्, णमुल आदि के द्वारा उपमा का कलेवर पूर्ण किया है। इन्होंने श्रौती और आर्थी नाम की दो उपमाएँ मानी हैं—साधारणतया पूर्णा और लुप्ता। वाक्यगा, तद्धितगा, समासगा, सुप् और कृत के

---

* अनेन ग्रंथकर्त्रा स्वोपरचितकुमारसंभवैक देशोऽत्र उदाहरणत्वेनोपन्यस्तस्तत्र पूर्वे दीपकस्योदाहरणानि। का० सं० सं० टीका।

† यच्चेतोहारिसाधर्म्यमुपमानोपमेययोः
मिथो विभिन्नकालादि शब्दयोरुपमातु तत्॥ का. सं. १. वर्ग, पृ. १६

भेदों से पाँच प्रकार की उपमाएँ कही है। इन्हीं के अवांतर भेदों से सत्रह प्रकार की उपमाएँ होती हैं। उपमा के ये भेद दंडी से अपेक्षाकृत थोड़े होते हुए भी अधिक महत्वपूर्ण हैं।

वामन—वामन की बनाई हुई काव्यालंकार सूत्र वृत्ति भी पुरानी किताब है। ऐतिहासिकों का विचार है कि इनके इस ग्रंथ का निर्माण-काल ईसा की नवीं सदी है। पंडित पी० वी० काने ने साहित्यदर्पण तथा जरनल आफ दि बॉबे ब्रांच रायल एशियाटिक सोसाइटी भाग २३ में प्रतिहारेन्दुराज तथा काव्यमीमांसाकार राजशेखर से पूर्व वामन का होना सिद्ध किया है। कुछ भी हो, वामन है बहुत पुराना आलंकारिक। वामन ने उपमान और उपमेय में गुणलेश के साम्य को उपमा बताया है*। काव्यालंकार सूत्रवृत्ति में उपमान और उपमेय के साम्य से 'कल्पिता' नामक उपमा की कल्पना की गई है। फिर उसके दो भेद किए गए हैं—पदार्थ वृत्ति और वाक्यार्थ वृत्ति। उसके दो भेद हैं। पूर्णा और लुप्ता। वामन ने यास्क के समान स्तुति, निंदा और तत्वाख्यान से उपमा की उत्पत्ति मानी है। भामह और दंडी के समान छः दोष भी उपमा के बताए गए हैं—हीन, अधिक, लिंगभेद, वचनभेद, असादृश्य और असंभव।

फलतः भरत, भट्टि, भामह, दंडी और रुद्रट सभी ने उपमा का विवेचन किया है। उपमेयोपमा दंडी के अतिरिक्त सभी ने मानी है। दंडी ने इसे अन्योपमा के नाम से पुकारा है।

भोजदेव—भोजदेव का बनाया हुआ सरस्वती कंठाभरण भी काव्य शास्त्र पर एक अच्छा ग्रंथ है। इसके ग्रंथ में उपमा, रूपक, साम्य, संशय, अपन्हुति, समाधि, समासोक्ति, उत्प्रेक्षा, अप्रस्तुत स्तुति, तुल्ययोगिता, उल्लेख, सहोक्ति, समुच्चय, आक्षेप, अर्थांतरन्यास, विशेषोक्ति,

---

* उपमानोपमेयस्य गुणलेशतः साम्यमुपमा। अ० ४, अ० २, सू० १.

परिकर, दीपक, क्रम, पर्याय, अतिशयोक्ति, श्लेष, भाविक और संसृष्टि को उभयालंकार माना गया है। यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भोज ही अब तक एक ऐसे आलंकारिक हुए हैं, जिन्होंने इन ऊपर कहे हुए अलंकारों को शब्द और अर्थ दोनों में माना है। इनका उपमा-लक्षण भी कुछ बढ़ा चढ़ा है। ये गुण-लेश के साम्य को ही उपमा नहीं मानते, अपितु इनका मंतव्य है कि "प्रसिद्धि-वश उपमा और उपमेय का सादृश्य ज्ञान ही यहाँ उपमा के नाम से कहा गया है" *। श्लोक में 'सेहोपमा' से यही आशय मालूम होता है कि ग्रंथकार को उपमा का यही अर्थ अभीष्ट है। गार्ग्य के समान उपमा का लक्षण नहीं है। कंठाभरण में श्रौती और आर्थी ये उपमा के दो भेद किए गए हैं। ग्रंथ की अंतर्भूतेवार्था, अंतर्भूत-सामान्या, सर्व-समासा, पदोपमा आदि भेद ऊपर कहे हुए दंडी आदि के उपमा-लक्षणों से भिन्न नहीं हैं; परंतु एकेवशब्दा, अनेकेशब्दा, अनिवशब्दा, वैधर्म्यवती ये चार उपमाएँ दंडी की उपमाओं से कुछ भिन्न हैं। ये ही चार उपमाएँ वाक्यार्थोपमा के अंतरभूत हैं। इसमें एक 'प्रपंचोपमा' नाम की उपमा भी मानी गई है। प्रपंचोपमा का लक्षण करते हुए भोजदेव ने लिखा है—"जहाँ कथन-भंगि से वाक्यार्थों में सादृश्य की प्रतीति हो, वहाँ वाक्यार्थों के ही विस्तार से प्रपंचोपमा होती है" †। यह दो प्रकार की है—प्रकृतरूपा और विकृतरूपा। प्रकृतरूपा के चार भेद हैं—एकदेशोपमा, मालोपमा, रसनोपमा और समस्तोपमा। इसी तरह विकृतरूपा के भी चार भेद हैं—विपर्यासोपमा, उभयोपमा, उत्पाद्योपमा और अनन्वयोपमा। साहित्य-दर्पणकार ने विपर्यासोपमा को अवांतर भेद से काव्यलिंग माना है।

---

* प्रसिद्धेरनुरोधेन यः परस्परमर्थयोः।
भूयोऽवयवसामान्ययोगः सेहोपमा मता। स० कं०, ४, ४ श्लोक०।

† यत्रोक्तिभङ्ग्या वाक्यार्थसादृश्यमवगम्यते।
वाक्यार्थयोर्विस्तरतः सा प्रपंचोपमा मता। १६.

मम्मट भट्ट—काव्यप्रकाशकार मम्मट भट्ट काव्य एवं अलंकार शास्त्र के विकास के आदि गुरु हैं। मम्मट ने ध्वन्यालोककार उद्भट, भामह, रुद्रट और अभिनवगुप्त आदि प्राचीन आचार्यों के मतों पर सारगर्भित व्याख्यान करते हुए काव्य के यथार्थ अंगों के मतों का विवेचन किया है। आचार्यत्व और बहुज्ञता की दृष्टि से इनका स्थान बहुत ऊँचा है। उपमा के विषय में इनके विचार अलंकार संप्रदाय में अधिक मान्य हैं। इन्होंने साधर्म्य को उपमा माना है*। काव्यप्रकाश की बालबोधिनी टीका में साधर्म्य के विषय में लिखते हुए बतलाया गया है कि जहाँ उपमेय और उपमान एक गुण, क्रिया तथा धर्मवाले हों, वहीं साधर्म्य है। यह अर्थ प्रायः सभी आलंकारिकों को अभीष्ट है। इन्होंने प्रायः पीछे आई हुई उपमाओं को ही माना है; उपमा विषयक कोई नई कल्पना नहीं की है। मुख्य भेद दो बताए हैं—पूर्णा और लुप्ता। इन्हीं के भेदों तथा उपभेदों से २५ प्रकार की उपमाएँ बन जाती हैं। काव्यप्रकाशकार ने उपमा के भेदों को ही संक्षिप्त किया हो, यह बात नहीं। इन्होंने बहुत से अलंकार भी नहीं माने। मालोपमा तथा रसनोपमा इन्हें अभीष्ट नहीं है। इनका मत है कि इस प्रकार अवान्तर भेदों से बहुत सी उपमाएँ बन सकती हैं। इन्होंने कुल मिलाकर ६१ अर्थालंकार माने हैं। इन्होंने अन्य अलंकारों में अंतर्भूत हो जानेवाले अलंकारों का उपमा के अवांतर भेद विशिष्ट अलंकारों के समान खंडन किया है। परंतु अन्य ग्रंथकारों ने उपमा के बहुत से भेद किए हैं।

विद्यानाथ—विद्यानाथ के बनाए हुए प्रतापरुद्रयशोभूषण में भी उपमा के बहुत भेद किए गए हैं। उस में व्याकरण के प्रत्यय भेदों से भी उपमा की कल्पना की गई है। समझने के लिये उनकी उपमा-सूची नीचे दी जाती है—

---

* साधर्म्यमुपमा—का० प्र०, १२५।

१ वाक्यार्थगा पूर्णा श्रौती
२ समासगा पूर्णा श्रौती
३ तद्धितगा पूर्णा श्रौती
४ वाक्यार्थगा पूर्णा आर्थी
५ समासगा पूर्णा आर्थी
६ तद्धितगा पूर्णा आर्थी
७ अनुक्त धर्म वाक्यगा श्रौती
८ अनुक्त धर्म समासगा श्रौती
९ अनुक्त धर्म तद्धितगा श्रौती
१० अनुक्त धर्म समासगा आर्थी
११ अनुक्त धर्म वाक्यगा आर्थी
१२ अनुक्त धर्म तद्धितगा आर्थी
१३ अनुक्त धर्मवादिः कर्मक्यचालुप्ता
१४ अनुक्त धर्मवादिराधारक्यचालुप्ता
१५ अनुक्त धर्मवादिः कर्मण्णमुल्लुप्ता
१६ अनुक्त धर्मवादिः कर्तृणमुल्लुप्ता
१७ अनुक्त धर्मवादिः क्रियालुप्ता
१८ अनुक्त धर्मवादिः कर्तृक्यचालुप्ता
१९ अनुक्त धर्मवादिः कर्तृक्यङालुप्ता
२० अनुक्त धर्मोपमाना वाक्यगालुप्ता
२१ अनुक्त धर्मोपमाना समासगालुप्ता
२२ अनुक्तेवादिः समासगालुप्ता
२३ अनुक्त धर्मवाद्युपमाना समासगालुप्ता
२४ बिम्ब प्रतिबिम्बभाव
२५ समस्त वस्तु विषय
२६ एकदेश-वर्त्तिनी

२७ अनन्वयोपमा और
२८ उपमेयोपमा।

ऊपर की सूची में जो उपमा और उसके अवान्तर भेद दिखलाए गए हैं, वे उद्भट के समय से लेकर प्रायः सभी अर्वाचीन आचार्यों ने थोड़े बहुत माने अवश्य हैं।

श्रीकृष्ण तंत्रपर-काल-समीन्द्र—इन महोदय की बनाई हुई अलंकारमणिहार नामक पुस्तक में तीस प्रकार की उपमाएँ कही गई हैं। पुस्तकस्थ उपमाएँ विद्यानाथ की उपमाओं के समान ही हैं; कदाचित् ही कोई विभिन्नता हो।

अग्निपुराण—अग्निपुराण में भी अलंकारों पर अच्छा प्रकाश डाला गया है। अग्निपुराण के विषय में भी बहुत मतभेद है। डी. ए. वी. कालेज के अनुसंधान विभाग में एक प्राचीन हस्तलिखित प्रति मौजूद है। उस प्रति से आनन्दाश्रम तथा भाण्डारकर की प्रतियों में भेद है। श्लोक-संख्या तथा क्रम के विचार से यह प्रति भिन्न है। इतना होते हुए भी अलंकार विषय दोनों में एक सा है। कहीं कहीं श्लोकों में भेद तथा पाठांतर मालूम हुआ है। अस्तु; अग्निपुराण में अठारह प्रकार की उपमाएँ बताई गई हैं। साधारणतया धर्मोपमा, वस्तूपमा, तुल्योपमा, परस्परोपमा, विपरीतोपमा, नियमोपमा, व्यतिरेकोपमा, बहूपमा, मालोपमा, तुलनोपमा, विक्रियोपमा, अद्भुतोपमा और भ्रांतिमानुपमा दंडी की उपमा से मिलती हैं। यह नहीं कहा जा सकता कि किसने किसके आधार पर ये उपमाएँ लिखी हैं। पार्जीटर तथा पी. वी. काने के मतानुसार अग्निपुराण भरत के नाट्य शास्त्र से भी प्राचीन है। परन्तु भरत के पूर्वकालीन होने के विषय में हम अपना मत स्पष्ट कर चुके हैं। जो हो, यह तो निर्विवाद ही है कि अग्निपुराण दंडी के काव्यादर्श से पहले का है। साथ ही काव्यादर्श तथा अग्निपुराण ये दो ही ग्रंथ ऐसे हैं जिनमें उपमा के उक्त भेद पाए गए हैं।

अलंकार शेखर—केशव मिश्र के अलंकार शेखर में चौदह प्रकार की उपमाएँ लिखी गई हैं। ये अन्य आलंकारिकों से भिन्न तथा नई नहीं हैं। अप्पय दीक्षित के कुवलयानन्द में उपमा-वर्णन सामान्य ही सा है। चन्द्रालोक के उदाहरणों को अप्पय ने कुवलयानन्द में लिखा है।

ध्वन्यालोक—ध्वन्यालोक में उपमा केवल ध्वनि से युक्त मानी गई है और एक ही प्रकार की कही गई है।

वाग्भटालंकार—इसमें चार प्रकार की उपमाएँ हैं—प्रत्ययोपमा, अव्ययोपमा, तुल्यार्थोपमा और समासोपमा। इनके और भी बहुत से भेद हो सकते हैं; परन्तु ग्रन्थकार इन्हीं चार को मानता है।

साहित्यदर्पण—इस ग्रन्थ में विश्वनाथ ने पूर्णा और लुप्ता के भेदों से सत्ताईस प्रकार की उपमाएँ बताई हैं। यहाँ विश्वनाथ ने कुछ भेद के साथ मम्मट का अनुकरण किया है। यद्यपि अन्य ग्रन्थकारों की भी नकल की है, परन्तु मम्मट को अधिक।

यहाँ यह बात ध्यान देने योग्य है कि भरत, भामह, दंडी, मेधावी, भट्टी आदि प्राचीन अलंकार-शास्त्रियों ने उपमा के साधारण—अन्य अलंकारों में समाविष्ट होनेवाले—लक्षण किए हैं, परन्तु रुद्रट के काव्यालंकार संग्रह से उपमा में व्याकरण के आधार पर अवान्तर भेदों का आविष्कार हुआ। आगे चलकर विद्यानाथ, अप्पय दीक्षित, कृष्ण तंत्रपरकाल यमीन्द्र आदि अर्वाचीन आलंकारिकों ने तो उपमा का रूप ही बदल दिया है।

इन थोड़े से शब्दों में हमने उपमा का इतिहास तथा इस की महत्ता का दिग्दर्शन करा दिया है। यही नहीं, नवीन एवं प्राचीन नैयायिकों में इसी उपमावाचक, सादृश्य, साधर्म्य पर घोर मतभेद है। सारांश यह कि सभी शास्त्रों ने उपमा को किसी न किसी रूप में माना अवश्य है

(८) वेदाध्ययन की प्राचीन शैली

[लेखक—श्रीयुत पं० शिवदत्त शर्मा, अजमेर]

वेद अपौरुषेय है, वेद पापनाशक है*, वेद संसार के पुस्तकालय में सब से प्राचीन ग्रंथ है, वेद मनुष्य जाति के प्रारम्भिक इतिहास का एक मात्र साधन है, इत्यादि वेद-माहात्म्य जो वस्तुतः सत्य है, सुन सुनकर हमारे बहुत से भाई यह समझते हैं कि वेद कोई बोधगम्य ग्रंथ नहीं है। हाँ, उससे आदि काल के मनुष्यों के रहन सहन की कुछ कुछ कल्पनाएँ की जा सकती हैं। उनके ऐसे शिथिल विचारों का समर्थन इस बात से भी हो जाता है कि हमारे आज कल के संस्कृत के विद्यापीठों और राजकीय विश्वविद्यालयों के पाठ्यक्रमों के अनुसार वर्षों श्रम कर एक दो नहीं किन्तु अनेक बड़े बड़े ग्रंथों को पढ़, अनेक श्रेणियों को लाँघ, अंतिम कक्षा में आकर विद्यार्थी कहीं वेद का कुछ अंश पढ़ने के योग्य समझा जाता है। परंतु प्राचीन काल में द्विजकुमार उपनयन होते ही वेदांगों द्वारा वेदाध्ययन प्रारम्भ कर देते थे। वेदांग ६ हैं; अर्थात् शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष। (अङ्ग्यन्ते ज्ञायन्तेऽमीभिरित्यङ्गानि) वेद इनसे जाना जाता है; यही अंग का अंगत्व है। यह गणना बहुत प्राचीन है †; और इसमें जो एक के पीछे दूसरे का नाम

---

* देखो अथर्ववेद में—स्तुता मया वरदा वेदमाता प्रचोदयन्तां पावमानी द्विजानाम्। आयुः प्राणं प्रजां पशुं कीर्तिं द्रविणं ब्रह्मवर्चसम्। मह्यं दत्त्वा व्रजत ब्रह्मलोकम्।

† अथर्ववेदीय मुण्डकोपनिषद् में ये छः अङ्ग इसी क्रम से लिखे हुए हैं। राजशेखर ने अपने काव्यमीमांसा में "उपकारकत्वादलङ्कारः सप्तमवङ्गम्—इति यायावरीयः। अलङ्कार को सातवाँ अङ्ग मानने की सिफारिश की है और "द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया" मन्त्र लिखकर कहा है—"ऋते च तत्स्वरूपपरिज्ञानाद्वेदार्थानवगतिः"।

लिया गया है, यह नामकरण का क्रम महत्वपूर्ण है। इससे यह बात सिद्ध है कि सर्व प्रथम बालक को स्वर, व्यंजन, उनके स्थान, करण, प्रयत्न, स्वरूपादि बतलाए जाते थे। इस प्रकार के उपदेश का नाम "शिक्षा" है (वर्णानां स्थानकरणप्रयत्नादिभिः निष्पत्तिनिर्णयिनी शिक्षा)। जब बालक ने जान लिया कि स्वर २१ हैं, व्यंजन ४२ हैं*, अमुक अक्षर कंठ से, अमुक तालु से, अमुक मूर्द्धा से बोले जाते हैं, अमुक का ऐसा आभ्यन्तर और ऐसा बाह्य प्रयत्न है, तब उसे मन्त्रों का उच्चारण करना आ जाता था। उच्चारण के विषय में उसे बताया जाता था कि मन्त्रों को स्पष्ट, मधुर, सुस्वर, धैर्य और लय के साथ बोलना चाहिए, न कि गीतों की सी तरह, न बहुत जल्दी जल्दी, न देर करके, न दाँतों से चबा चबाकर, न सिर हिला हिलाकर, न बार बार पुस्तक में देख देखकर। पिता अथवा गुरु एक मंत्र बोलता था। तदनंतर पुत्र अथवा शिष्य भी वैसे ही बोलता था और गणित के पहाड़ों की तरह उन्हें कंठ कर लेता था। तदनन्तर उन मन्त्रों के पद-पाठ को और दो दो पद मिलाकर क्रम-पाठ को और इसी प्रकार से घन, जटादि भेदों को यादकर अपने मस्तक में मंत्रों को ग्रामोफ़ान के गीतों के समान धारण कर लेता था। पढ़ने के साथ विद्यार्थी को लिखना सिखाया जाता था और इसकी भी शैली अति

---

* इस विषय में श्रीमान् राय बहादुर पंडित गौरीशंकर जी रचित "प्राचीन लिपि माला" के पृष्ठ ४४ से ४७ तक अवलोकनीय है। अनुस्वार के आगे जब र, श, ष या ह आवे, तब वह ॅ (ग्वम्) बोला जाता है। परंतु यह यजुर्वेद ही में होता है, इसलिये वर्णों की गणना यजुर्वेदी शिक्षावाले ६४ करते हैं, अन्य ६३। अ, इ, उ, ऋ + इनके दीर्घ + इनके प्लुत लृ (जो केवल ह्रस्व ही मानी गई थी) + सन्ध्यक्षर ए, ऐ, ओ, औ + इनके प्लुत = २१ स्वर + क से म तक २५ स्पर्श वर्ण + य, र, ल, व अन्तस्थ + श, ष, स, ह ऊष्म = ३३ + अनुस्वार + विसर्ग + जिह्वामूलीय और उपध्मानीय = कुं, खुं, गुं, घुं, यम। वर्ग के पहले वर्ण का जब वर्ग के पाँचवें वर्ण से संयोग होता था, तब उस अनुनासिक वर्ण के पहले वैदिक काल में एक विलक्षण ध्वनि होती थी जिसे यम कहते थे, जैसे पद् + क = पक्नी "पक्‌क्नी" की तरह बोला जाता था।

सुगम थी। विद्यार्थी ईंटों को पीस, कपड़े से छान फलक (लकड़ी की पाटी) पर बिछा लेता था और वर्णांक (लकड़ी की कलम या बरथा) से अक्षर लिखता था। यों शिक्षा सीखते ही बालक को वेद का शुद्ध पाठ करना आ जाता था। तदनन्तर वह अपने पिता अथवा आचार्य के साथ साथ यज्ञ-क्रियाओं को देखता था। यज्ञों में मन्त्रों के प्रयोगों को बतलानेवाले ग्रन्थ "कल्प" कहलाते हैं। (नानाशाखाधीतानां मन्त्राणां विनियोजकं सूत्रं कल्पः। स च यजुर्विद्या-राजशेखरः। कल्पः परिनिष्पन्नप्रयोगरूपकस्योपदेशको ग्रंथः—वरदत्तः।) इस दूसरे अंग में पदार्पण कर विद्यार्थी गुरुजन के साहचर्य से यह जान जाता था कि यज्ञ की वेदियाँ किस किस प्रकार की बनती हैं; गार्हपत्य, आह्वनीय और दक्षिणाग्नि क्या हैं; कौन कौन से यज्ञ सम्बन्धी पात्र हैं; कौन सी सामग्रियाँ विधि-विहित हैं; पुरोडाश, सोमरस, चरु, हवि आदि कैसे बनाए जाते हैं; अग्निमंथन, अग्निचयनादि कैसे होते हैं; आहुतियाँ कैसे दी जाती हैं; सोम, अश्वमेधादि किन किन प्रकार के यज्ञ होते हैं; आदि। इन बातों को जानना मानों कल्प के एक भाग अर्थात् श्रौत सूत्र का पारायण कर जाना था। तदनन्तर विद्यार्थी को उन सामयिक नियमों अथवा धर्मों के जानने की आवश्यकता होती थी जिनको निबाहते हुए यज्ञादि कर्म किए जाते हैं। इस विषय की योग्यता संपादन करना मानों कल्प के अन्य भाग "धर्मसूत्र" का पारायण करना था। यह उपदेश तीन प्रकार का था—विधि, नियम और प्रतिषेध। उस समय यह सिखाया जाता था कि विद्यार्थी को स्वाध्यायशील, धर्मरुचि, तपस्वी, ऋजु, मृदु होना चाहिए। उसे प्रति दिन रात्रि के पश्चिम याम में उठकर "असौ अहं......भो" कहकर गुरु और वृद्ध-जनों को अभिवादन करना चाहिए; और उन्हें भी प्लुत स्वर से "आयुष्मान् भव सौम्य..." कहना चाहिए। जब वह अध्ययनार्थ अध्यापक के समीप जाय, तब उसे पहले अनुज्ञा लेनी चाहिए, जूता पहने अथवा

पाँव पसारे नहीं बैठना चाहिए, न बहुत दूर बैठना चाहिए, न बहुत निकट। जहाँ बहुत वेग से वायु चलता हो, रेत या घास उड़ती हो, पानी टपकता हो, वहाँ न पढ़े, न वृक्ष पर चढ़कर, न जल में घुसकर, न सन्ध्या के समय अथवा भोजन करके ही पढ़े। न सूर्य, चंद्र के ग्रहण के अवसर पर अथवा भूकम्प के अवसर पर, निर्घात (तूफान) उठने पर, तारा टूटने पर, ग्राम में आग लग जाने के समय किसी प्रकार की पढ़ाई पढ़े*। इसी प्रकार उसे बताया जाता था कि अमुक कर्म में प्रवृत्त हो तो पहले आचमन कर लेना चाहिए, यज्ञोपवीत को अमुक प्रकार रखना चाहिए; आचार्य, माता, पिता, पुत्र, मित्रादि से यों व्यवहार करना चाहिए, इत्यादि।

साथ ही इसके विद्यार्थी को इस बात के जानने की भी आवश्यकता होती थी कि उसका कुलाचार क्या है। पाकयज्ञ, पंच महायज्ञादि, प्रायश्चित्त, विवाहादि संस्कार कैसे होते हैं। इन बातों का ज्ञान संपादन करना मानों कल्प के शेष अंग "गृह्यसूत्र" का पारायण कर जाना था।

विद्यार्थी ने जब शिक्षा और कल्प का ज्ञान प्राप्त कर लिया, तब उसे यह जिज्ञासा होती थी कि वह भाषा का सम्यक् ज्ञान प्राप्त करे, जिससे उसे स्वतन्त्रतापूर्वक पता लगे कि इन मन्त्रों में क्या क्या आदेश और उपदेश हैं। यह जानने के लिये उसे अगला अंग "व्याकरण" पढ़ाया जाता था जिसके द्वारा संज्ञा, क्रिया, अव्यय, विभक्ति, वचन, सन्धि, समासादि जानकर वह पद-वाक्य-विवेक-सम्पन्न हो जाता था।

तदनन्तर विद्यार्थी के मन में यह जिज्ञासा उत्पन्न होती थी कि शब्दों का जो अर्थ मान रक्खा है, वह कारण विशेष से है अथवा मनगढ़न्त। इस विषय में निरस्त-सन्देह करने के लिये उसे अगला अंग

---

*—सूर्याचन्द्रमसोर्ग्रहणे भूमिचलेऽपस्वान उल्काायामग्न्युत्पाने च सर्वासां विद्यानां सार्वकालिकमाकालम्॥ आपस्तम्बीय धर्मसूत्र १,४,११,३०.

"निरुक्त" पढ़ाया जाता था। उदाहरणार्थ, सुख को "सुख" क्यों कहते हैं? यह शंका होते ही उसे बताया जाता था कि देखो (सुहितं खेभ्यः खं पुनः खनतेः) "ख" इंद्रियों का नाम है; क्योंकि कर्ण आदि के स्थान खोदे हुए से हैं। इन्द्रियों के लिये जो सुहित हो, वह सुख कहलाता है। वृक्ष को "वृक्ष" क्यों कहते हैं? (वृक्षो व्रश्चनात्) क्योंकि, वह ईंधन के लिये काटा जाता है। अच्छा उसे "उद्भिद्" क्यों कहते हैं? (भूमिं उद्भिनत्ति) क्योंकि वह भूमि को फाड़कर निकलता है। तो उसे "पादप" क्यों कहते हैं? (पादेन मूलेन पिबति सिक्तं जलं) क्योंकि वह पाँव (मूल) से पानी पीता है। अच्छा तो उसका नाम "द्रुम" क्यों रक्खा है? क्योंकि वह (द्रुः) शाखावाला होता है; इत्यादि।

इसके साथ ही कदाचित् विद्यार्थी को ऐसी भी शंकाएँ उत्पन्न होती थीं कि ये देवी देवता क्या हैं? श्री, सरस्वती, लक्ष्मी, ब्रह्मा, विष्णु, महेश, अग्नि, वायु, आदित्य, इन्द्र, चन्द्र, वरुण आदि नाम मन्त्रों में आते हैं। इनमें से कुछ तो (जैसे अग्नि, आदित्य, चंद्र) प्रत्यक्ष हैं, अन्य परोक्ष हैं। क्या ये सब के सब मूर्तिमान् प्राणी हैं? यदि नहीं, तो मंत्रों में इनके आने जाने और बुलाने का व्यवहार क्योंकर है? आचार्य बालक को यह बतला देता था कि मन्त्र तीन प्रकार के हैं—परोक्षकृत, प्रत्यक्षकृत और आध्यात्मिक; और इनमें अमुक स्थल पर इन शब्दों से अमुक अर्थ लेना चाहिए।

जब विद्यार्थी को मंत्रों का बोलना आ चुका, उनका प्रयोग भी आ चुका, शब्दार्थ भी आ चुका, शब्दों का निर्वचन भी आ चुका, तब उसका ध्यान इस ओर जाता था कि इन मंत्रों में अक्षर गिने गुथे दिखाई देते हैं। इनकी रचना का क्या क्रम है? इस विषय में उसे निरस्त-सन्देह करने के लिये अगला अंग "छन्द" पढ़ाया जाता था, जिसके द्वारा उसे गायत्री, उष्णिह्, अनुष्टुभ् बृहती,

विराज्, त्रिष्टुभ्, जगती, पंक्ति आदि छंदों के लक्षण तथा द्विपदा, त्रिपदा, चतुष्पदा, षट्पदा, ककुभ आदि भेदों का ज्ञान हो जाता था। इन पाँच अंगों का ज्ञान संपादन कर विद्यार्थी अच्छा पंडित बन जाता था। परंतु फिर भी स्वतंत्रतापूर्वक अन्यत्र कर्म करा सकने के योग्य बनने में उसे यज्ञों के समय-विभाग (Programme) जानने की आवश्यकता रह जाती थी। आजकल समय का सब से छोटा विभाग सेकंड माना जाता है; अर्थात् एक दिन के २४ घंटे × ६० मिनट × ६० सेकेंड = ८६४०० विभाग बना रखे हैं। परंतु वैदिक काल में रात दिन के ३० मुहूर्त, १ मुहूर्त के १५ क्षिप्र, १ क्षिप्र के १५ एतर्हि, १ एतर्हि के १५ इदानीं और १ इदानीं के १५ प्राण यों २४ घंटों के १५,१८,७५० विभाग किए गए थे जिसके अनुसार १ प्राण लगभग $\frac{1}{17}$ सेकंड के बराबर होता था। उसे अमावास्या, माध्यन्दिन, कृत्तिका, पुनर्वसु, फाल्गुनी, मार्गशीर्ष, रेवती, रोहिणी आदि नक्षत्रों और ऋतुओं के प्रारम्भ और समाप्त कालों को जानना अत्यावश्यक था। निम्नलिखित पंक्तियों से इस विषय का महत्व सम्यक् रूप से प्रतीत हो सकता है—

वेदाहि यज्ञार्थमभिप्रवृत्ताः कालानुपूर्व्या विहिताश्च यज्ञाः।
तस्मादिदं कालविधान शास्त्रं यो ज्योतिषं वेद स वेद यज्ञम्॥

आशय—वेदादि शास्त्र यज्ञ के लिये प्रवृत्त हुए हैं* और यज्ञ समयानुसार किए जाते हैं; अतः जो इस काल-विधान रूपी शास्त्र को जानता है, वही वेद को जानता है।

यों क्रमशः शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छंद और ज्योतिष रूपी सहज सुन्दर सोपानों पर अनायास चढ़ता हुआ विद्यार्थी निखिल

---

* इससे यह नहीं समझना चाहिए कि वेदों में यज्ञादि पूजा-पाठ के सिवा कुछ नहीं है। वेदों में कर्मकांड, ज्ञानकांड और उपासना तीनों हैं।

विद्या और विवेक के निधान महान् वेद पुरुष * के—जिसके चरण छन्द हैं, हाथ कल्प है, मुख व्याकरण है, नासिका शिक्षा है, नयन ज्योतिष हैं, कर्ण निरुक्त है—सांग दर्शन कर विद्वानों में प्रतिष्ठित होता था। यह था वेद के अध्ययन का अति प्राचीन, सरल, स्वाभाविक क्रम। मैं समझता हूँ कि मेरे लिये इस वेदाध्ययन की शैली पर अधिक टीका-टिप्पणी करना अथवा वेद-मन्त्रों के आदेशों और उपदेशों की उत्कृष्टता बताना अनावश्यक है। वैदिक काल में ऐसा नियम था† कि जिनके पिता और पितामह का उपनयन न हुआ हो (और उपनयन इसलिये होता था कि बालक वेदाध्ययन आरम्भ करे) वे ब्रह्महत्यारे, वेदघाती कहलाते थे और उन से खान-पान, पानी-रोटी बेटी का व्यवहार (बिना प्रायश्चित्त कराए) नहीं किया जाता था। इस कड़े दंड से उस समय मनुष्य अपने पुत्र को तो क्या, प्रपौत्र तक को वेद-विद्याहीन रखने से काँपता था। ब्राह्मण, क्षत्रिय और वैश्य जो द्विज कहलाते हैं, अनिवार्य रूप से वेदाध्ययन करते थे; और शूद्र भी‡ जो आर्य थे, किसी सीमा तक यज्ञों में भाग लेते थे।

कालान्तर में यह वेद-विद्या क्रमशः अन्य वर्णों से विदा हो मुख्य रूप से ब्राह्मणों में ही विराजमान रहने लगी और समयान्तर में उनमें भी सब में नहीं केवल कुछ विशेषों में। वेद और वैदिक धर्म का वैसा ही संबंध है, जैसा चाँद और चाँदनी का। जितना अधिक कलापूर्ण

---

* छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते ।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।
तस्मात्साङ्गमधीत्यैव ब्रह्मलोके महीयते ॥

† अथ यस्य पिता पितामह इत्यनुपेतौ स्यातां ते ब्रह्महसंस्तुताः ॥
तेषामभ्यागमनं भोजनं विवाहमिति च वर्जयेत् ॥
तेषामिच्छतां प्रायश्चित्तम् ॥ आपस्तम्बीय धर्मसूत्र १.१.१२-१४.

‡ देखो "महाभाष्य में शूद्र" नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ५ अंक २.

वेद-विधु उदित था, उतना ही अधिक विश्वविनोदक वैदिक धर्म* जगत् में खिलखिला रहा था। जब वेदों का अध्ययन विस्तृत रूप से जगत् में नहीं रहा, तब प्रजा केवल कर्मकांड द्वारा अपना विधि-निषेध जानती थी। आजकल तो वह केवल रवाज अर्थात् दस्तूर को धर्म समझने लगी है, न कि व्यवहार को।

पिछले समय में संस्कृत के पढ़ाने की ऐसी शैली थी कि बालक से प्रति दिन प्रातःकाल एक पाठ अष्टाध्यायी का और एक वर्ग अमरकोश का पाठ कराया करते थे, जिससे उसको कोश और व्याकरण सहज में कंठाग्र हो जाता था। तदनंतर किसी काव्य को (प्रायः रघुवंश अथवा भट्टी को) व्याकरण के नियमों को घटा घटाकर पढ़ा देते थे, जिससे यद्यपि कुछ काल बालक का नीरस बीतता था, परंतु पीछे वह संस्कृत भाषा अच्छी तरह समझने लगता था। साथ ही रामायण, और महाभारत की कथाएँ मंदिरों में हुआ करती थीं जिनके सुनने से इतिहास एवं पूर्व संस्कृति का ज्ञान सामान्य रूप से हो जाया करता था। हाँ, जहाँ स्त्रियों में भी संस्कृत भाषा का प्रचार था, वहाँ संस्कृत के पूर्ण पंडित बराबर उत्पन्न होते रहे। वस्तुतः जहाँ पुरुष विद्वान् है और पत्नी मूर्खा है, वहाँ विद्या अधूरी है। इसी प्रकार जहाँ पुरुष वीर है, परंतु पत्नी कायर है, वहाँ वीरता अधूरी है। आप पर हमारे कथन की सत्यता पूर्व इतिहास से भी प्रकट हो सकती है। देखिए, भारतवर्ष में वीरता के नाते राजस्थान का डंका बजता रहा है। यह कभी संभव नहीं था, यदि राजपूत रमणियाँ वीर न होतीं। इसी प्रकार विद्या में कश्मीर ने प्रसिद्धि प्राप्त की। कश्मीर में स्त्रियाँ संस्कृत की

---

* कौटिल्य ने लिखा है—

व्यवस्थितार्यमर्यादः कृतवर्णाश्रमस्थितिः।
त्रय्या हि रक्षितो लोकः प्रसीदति न सीदति॥

मातृभाषा के समान बोला करती थीं। विल्हण ने अपने विक्रमाङ्क चरित् में वहाँ का वर्णन इस प्रकार किया है:—

ब्रूमः सारस्वतकुलभुवः किं निधेः कौतुकानां
तस्यानेकाद्भुतगुणकथा कीर्णकर्णामृतस्य।
यत्र स्त्रीणामपि किमपरं जन्मभाषावदेव
प्रत्यावासं विलसति वचः संस्कृतं प्राकृतं च॥

(सर्ग १८,श्लोक ६)

स्त्रियों में संस्कृत का प्रचार होने के कारण ही कश्मीर सत्य शारदा क्षेत्र कहलाया और अनेक कवि-प्रवरों और पंडितराजों को उत्पन्न कर सका।

(९) मंत्र-विम्ब

[लेखक—मौलवी मुहम्मद यूसुफखाँ, अफमूँ, काशी ।]

इस अंतर्यामी अनादि जगदादि अद्वितीय परमात्मा का गुण कहाँ तक गाऊँ, जिसकी ज्योति के प्रकाश ने इस अंधकारमय जगत् में, संख्या-सूचक अक्षरों के खोए हुए अमूल्य रत्न को पाने का मार्ग दिखाकर कृतार्थ किया। मैं इस नवीन निबंध के प्रथम कांड में वर्तमान चिह्नों के साथ प्राचीन कला संख्या-सूचक शब्दों और दोनों की शाखाओं की कुछ बातों का वर्णन करूँगा।

प्रथम काण्ड

सब से पहले अक्षरों की संख्या का भेद समझा देना और उसका कोष्ठक लिख देना उचित है जिससे आगे चल कर हर बात सहज में समझ में आ जाय। संख्या-सूचक अक्षर उस अक्षर को कहते हैं जिस से गणित विद्या के अंक का बोध हो। जैसे क कहने से १ और ख कहने से २ के अंक का बोध होता है।

जैसे अक्षर स्वर और व्यंजन दो प्रकार के होते हैं, वैसे ही लिखने में भी वे दो प्रकार के हो जाते हैं—(१) अजोड़ अक्षर, (२) जोड़ अक्षर।

अजोड़ अक्षर उस अक्षर को कहते हैं, जिसमें कोई दूसरा अक्षर पूरा या उसका कोई भाग संयुक्त न हो; जैसे *राम* में दोनों अजोड़ अक्षर हैं।

जोड़ अक्षर उस अक्षर को कहते हैं, जिसमें दूसरा अक्षर पूरा या उसका कोई भाग जुड़ा हो; अर्थात् जो संयुक्त हो। जैसे, *ब्रह्म* में दोनों जोड़ या संयुक्त अक्षर हैं। इनमें मूलाक्षर ब एवं म तथा संयुक्त हुए अमूलाक्षर र और ह हैं।

इन अक्षरों को संख्या-सूचक मंत्र-बिम्बाक्षर कहने के दो कारण हैं।

प्रथम कारण यह है कि इन अक्षरों के बिंब अर्थात् कोष्ठक (नक़शा) के आदि चंद्रमा और चंद्रमा के मध्य में विशेष लाभ या प्राप्ति की चेष्टा से देवताओं का महामंत्र ॐ लिखकर अक्षर लिखना आरम्भ किया गया है, इससे मंत्र बिम्बाक्षर नाम रक्खा।

द्वितीय कारण यह है कि कविता में मेरा उपनाम "अफ़सूँ" है, जिसका अर्थ मंत्र है। इस युग में परमात्मा ने ये बिम्ब मुझी से लिखवाए; इससे भी मंत्र-बिम्बाक्षर नाम रखना उचित मालूम हुआ।

इस बिम्ब के तीन वर्ग हैं। पहले वर्ग में १६ स्वराक्षर लिखे हैं। सोलहो स्वर अक्षर समान हैं; लघु, गुरु से मतलब नहीं। जैसे क की तरह अ का १ अंक लेते हैं, वैसे ही आ, इ, ई, उ, ऊ इत्यादि का भी एक ही एक अंक लेते हैं। इसी से व्यर्थ जानकर किसी स्वर अक्षर के नीचे १ का अंक नहीं लिखा। हाँ अक्षरों के साथ नम्बर लिख दिए गए हैं, क्योंकि आगे वर्णित होनेवाली दूसरी कला में इनका कुछ काम पड़ेगा।

दूसरे वर्ग में व्यंजन अक्षर लिखे गए हैं। उन अक्षरों के नीचे उनका अंक भी लिख दिया गया है। क्ष, ज्ञ जोड़ अक्षर हैं; किन्तु इस हिसाब में अजोड़, और कई अक्षरों की तरह, दूसरे दो अक्षरों के समान माने गए हैं।

ग और ज्ञ समान हैं, ङ, ञ, ण, न समान हैं; ब, व, समान हैं; ल, ळ, समान हैं श, ष, क्ष समान हैं। समान अक्षर अपने अपने स्थान पर एक ही जगह लिख दिए गए हैं। जितने समान अक्षर अपने पूर्वाक्षर के समान हैं, उनके नीचे समान का यह चिह्न,, लिख दिया गया है।

तीसरे वर्ग में थोड़े से जोड़ अक्षर लिख दिए गए हैं। हर जोड़ अक्षर के सामने उसका मूलाक्षर भी लिख दिया है, जिसका अंक लिया जाता है। जोड़ अक्षर और उनके मूलाक्षर-केवल इसलिये लिखे गए हैं, कि विद्वान पुरुष उन्हें देखकर उसी नियम से दूसरे जोड़ अक्षरों का मूलाक्षर समझ लिया करें।

प्रथम वर्ग, स्वराक्षर

१—अ	२—आ	३—इ	४—ई
५—उ	६—ऊ	७—ऋ	८—ॠ
९—ऌ	१०—ॡ	११—ए	१२—ऐ
१३—ओ	१४—औ	१५—अं	१६—अः

द्वितीय वर्ग व्यञ्जनाक्षर

क	ख	ग	ङ	घ	ड	ञ	ण
१	२	३	,,	४	५	,,	,,
न	च	छ	ज	झ	ट	ठ	ड
,,	६	७	८	९	१०	२०	३०
ढ	त	थ	द	ध	प	फ	ब
४०	५०	६०	७०	८०	९०	१००	२००
व	भ	म	य	र	ल	ळ	श
,,	३००	४००	५००	६००	७००	,,	८००
		ष	क्ष	स	ह		
		,,	,,	९००	१०००		

फारसी नियमानुसार हिंदी में भी समानाक्षर बिम्ब में नहीं लिखे जाते। इस बिम्ब में केवल समझाने के लिये लिखे गए हैं। अब मैं पाठकों के सुभीते के लिये, जिसमें सहज से हिसाब समझ में आ

जाय, इस बिम्ब के पेटे में एक उपबिम्ब लिख देता हूँ। इस उपबिम्ब में स्वर और समानाक्षर छोड़कर २८ अक्षर लिखे हैं। जो समानाक्षर नहीं लिखे हैं, उनको इस बिम्ब में लिखे हुए समानाक्षर के समान ही जान लेना चाहिए। जो इस उपबिम्ब में लिखे हुए अक्षर का अंक होगा, वही उसके समान इस बिम्ब में न लिखे हुए अक्षर का भी अंक होगा।

उपबिम्ब

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ
१	२	३	४	५	६	७
ज	झ	ट	ठ	ड	ढ	त
८	९	१०	२०	३०	४०	५०
थ	द	ध	प	फ	ब	भ
६०	७०	८०	९०	१००	२००	३००
म	य	र	ल	श	स	ह
४००	५००	६००	७००	८००	९००	१०००

त्रितीय वर्ग, जोड़ अक्षर

श्री—श	घ्न—घ	ह्म—म	प्र—प
ङ्ग—ङ	न्त—त	त्न—न	हृ—ह
क्त—क	क्त—क	क्र—क	क्म—म
क्तु—क	घ्न—घ	घ्य—य	ख्य—य
च्छ—छ	च्छ्व—छ	ज्ज—ज	च्च—च
छ्म—म	भक्त—क्त	त्त—त	त्य—प
ट्ट—ट	ठ्ठ—ठ	ड्ड—ड	प्त—प
ट्य—य	त्व—व	स्थ—थ	थ्र—थ
द्द—द	द्ब—द	द्र—द	द्य—य
द्ध—द	द्ग—द	द्न—द	द्म—म
घ्घ—घ	ध्व—व	ध्म—म	न्न—न

न्य—य	न्प—प	त्त—त	त्न—न
प्प—प	ल्ल—ल	व्व—व	ह्व—व
स्स—स	ब्ब—ब	ज्ज—ज	भ्र—भ
भृ—भ	म्म—म	म्भ—भ	र्ग—ग
स्त—त	व्र—व	ष्ट—ट	च्छ्य—य
स्ट—स	स्न—न	स्व—व	ह्न—न
ह्ह—ह	न्ह—ह	ह्—ह	ह्व—ह
श्ल—ल	श्म—म	क्ल—ल	ज्ञ—ज
च्छ—च	ङ्क—ङ	ग्य—य	ग्ण—ण
द्द—द	स्थ—थ	स्य—य	ह्ह—ह

स्वर अक्षर १६ हैं। हर स्वर अक्षर का अंक एक ही होता है, यह तो याद ही रहेगा। इनका नम्बर जानना हो तो उँगली पर गिनकर या प्रथम बिम्ब में देखकर जान लेना भी सहज ही है। ग, ड समान; ङ, ञ, ण, न समान; य, प समान; ल, ळ, समान; श, ष, स समान हैं;

इनका भी याद रखना कुछ कठिन नहीं। शेष अक्षरों के अंक समय पर शीघ्र याद आने का सरल उपाय यह है कि व्यंजन अक्षरों की इस भाँति ६ पंक्तियाँ याद रक्खे—

१—क, ख, ग, घ, ङ—५

२—च, छ, ज, झ—४

३—ट, ठ, ड, ढ—४

४—त, थ, द, ध—४

५—प, फ, ब, भ, म—५

६—य, र, ल, व, श, स, ह—६ = २८

उपबिम्ब का भी यही रूप है। जो अक्षर इन पंक्तियों में नहीं हैं, उनको उन अक्षरों के समान समझना चाहिए जो उनके समान इन पंक्तियों में हैं। इन ६ पंक्तियों में २८ अक्षर हैं।

क का १ अंक होता है। क से आरम्भ करके हर अक्षर के साथ एक एक अंक बढ़ाता जाय; जैसे क का १; ख के २; इस प्रकार झ, तक ९ अंक समझ में आ जायँगे। गणित विद्या में इसी को एकाई कहते हैं।

ट के १० अंक हैं। ट से आगे हर अक्षर के साथ दस दस बढ़ाता जाय। जैसे ट के १०; ठ के २०; इस तरह प तक ९० अंक भी समझ में आ जायँगे। इसी को दहाई कहते हैं।

फ के १०० अंक हैं। फ से आगे हर अक्षर के साथ सौ सौ बढ़ाता जाय। जैसे फ के १००; ब के २००; इस प्रकार ह के १००० अंक हो जायँगे। यह भी शीघ्र समझ में आ जायगा ९०० तक को सैकड़ा, और हजार को हजार कहते हैं।

इन अंकों को याद रखने का एक दूसरा सहज उपाय यह है कि नीचे लिखी हुई चार चौपाइयाँ याद कर ले। भूल जाने पर भी पद्य होने के कारण जब एक चरण याद आवेगा, तो पूरी चौपाई याद आ जायगी।

क्रिया-बोधक चौपाई

सोलह अक्षर "स्वर" निश्चिन्ती । का, जैसे है एक सुगिन्ती ॥
ग, झा एक दशा हैं जैसे । ङा, ञा, णा, ना भी हैं वैसे ॥
बा, वा दोनों साथी संगी । ला, ळा, दोनों एक सुरंगी ॥
शा, षा, सा, को तुल्य बखानो । युक्ताक्षर को नाहीं मानो ॥
का से मा तक स्थल एकाई । टा से पा तक गिनो दहाई ॥
टा दस, ठा के गिनिए बीसा । या बिधि नव्वे पा जगदीसा ॥
याही आगे रीति बिचारो । फा सौ, दो सौ बा को धारो ॥
फा से सा तक शत की जानो । हा, क्ष अर्थ हजार बखानो ॥

संख्या-सूचक अक्षरों का अतिथि लिखने में अधिक काम पड़ता है। तिथि तारीख को कहते हैं; जैसे सावन सुदी एकादशी या भादों सुदी पंचमी। कवियों की परिभाषा में तारीख याने तिथि उस गद्य या पद्य को कहते हैं, जिसके शब्दों के या अक्षरों के अंक जोड़ने से किसी राजकुमार के सिंहासनासीन होने, किसी घर, या मन्दिर के निर्मित होने, किसी का व्याह होने, पुस्तक मुद्रित होने, किसी के देहान्त, या उत्पन्न होने आदि का समय अर्थात् सन्, सम्बत् हिजरी, ईस्वी इत्यादि प्रकट हो। तिथि के दो भेद हैं—१ निरान्तरिक और २ आन्तरिक। निरान्तरिक वह है जिसके गद्य या पद्य के शब्दों से बिना किसी क्रिया के सन् प्रकट हो। जैसे "उन्नीस सौ उन्नासी"। इस वाक्य के शब्दों या अक्षरों का अंकों से कोई मतलब नहीं।

आन्तरिक वह तिथि है जिसमें गद्य पद्य-वाले अक्षरों का अंक जोड़ने से सन् प्रकट हो। इसके अधिक भेद हैं, जिनमें से कुछ आगे अपने स्थान पर उदाहरण सहित लिखे जायँगे। कविवरों के सुभीते के लिये दो चार नियम यहाँ भी लिख देता हूँ।

(१) स्वर हो या व्यंजन, केवल जो मूलाक्षर लिखा हो, उसका अंक

लिया जाता है। आ एवं का का एक ही एक अंक लिया जायगा। अ वाली मात्राओं से मतलब नहीं। पिंगलकार अ की मात्रावाले अक्षर को दो अक्षर गिनते और गुरु मानते हैं।

(२) अमूल अक्षर का, अर्थात् जो किसी अक्षर में जोड़ा गया हो, उसका स्वर प्रकट होता हो या न होता हो, पूरा अक्षर जुड़ा हो, या उसका कोई भाग हो, उसका अंक न लिया जायगा। ब्रह्म में केवल ब और म का ही अंक और कथा, पक्का में एक ही थ और एक ही क का अंक लिया जायगा।

(३) अर्ध अक्षर जिस अक्षर में जुड़ा हो, उससे स्पृष्ट न भी हुआ हो तब भी उसका अंक न लिया जायगा। जैसे वैकुण्ठ में आधा ण और नमः में विसर्ग, दो विन्दु या आधा ह है। अर्थात् का हलन्त त भी आधा पढ़ा जाता है, किन्तु उसका अंक लिया जाता है।

(४) शब्द शुद्ध लिखकर गिनती पूरी की जाती है। अशुद्ध लिखकर गिनती पूरी की जायगी, त वो वह तिथि नहीं मानी जायगी। इस विद्या में लाभ प्राप्ति कोई छूट नहीं है।

(५) कोई कोई शब्द कई प्रकार से लिखा जाता है; जैसे, पूर्ण, पूरण; केश, केस; सोलह, सोरह; अंग, अङ्ग; रत्न रतन, इत्यादि। जो शब्द जिस प्रकार से लिखा जायगा, उसी प्रकार के अक्षर का अंक लिया जायगा। इस नियम से कविवरों को थोड़ा लाभ हो सकता है। जिस प्रकार के लिखने से तिथि सिद्ध होती हो, उसी प्रकार से लिखें। लघु, गुरु का हिसाब बराबर करने के समय भी इस नियम से कुछ लाभ होता है।

(६) गणित के दो भेद हैं—गणित और महागणित। गणित वह है जो गणित विद्या में प्रचलित है, जैसे एकाई, दहाई, सैकड़ा इत्यादि। गणित के नियमानुसार "यज्ञ पुरुष" के अंक का रूप देखो।

गणित अंक रूप

य, क्ष, प, र, ष,
५०० + ३ + ९० + ६०० + ८००

(७) महागणित में दहाई, सैकड़ा, हजार इत्यादि को भी एकाई मानते हैं। फारसी संग्रह, सइबाई, अध्याय भाषा भाष्य, भोअम्माय हमदानी, पृष्ठ ४ में भी इसका वर्णन है। इस गणित का विशेष कला में काम पड़ता है। महागणित के नियमानुसार "यक्ष पुरुष" के अंक का रूप देखो।

महागणित अंक-रूप

य, क्ष, प, र, ष,
५ + ३ + ९ + ६ + ८

(८) जोड़ के भी दो भेद हैं—जोड़ और महाजोड़। जोड़, गणित विद्या के साधारण जोड़ को कहते हैं। जैसे,

७ + ३ + २ = १२

(९) महाजोड़ उसे कहते हैं कि महागणित के चाहे कितने ही अंक हों, जोड़ते जोड़ते सब का एक अंक बना ले। इस प्रकार एकाई का कोई सा एक अंक बन जायगा। गणित जोड़, महागणित जोड़ और महागणित महाजोड़ का रूप देखो।

गणित जोड़-रूप

य, क्ष, प, र, ष,
५०० + ३ + ९० + ६०० + ८०० = १९९३

महागणित जोड़ रूप

य, क्ष, प, र, ष,
५ + ३ + ९ + ६ + ८ = ३१

महागणित महाजोड़-रूप

य, ह्म, प, र, प,

५ + ३ + ९ + ६ + ८ ═══ ३१ = ४

इस महागणित महाजोड़ को "वेदकला" और "अद्वैत गणित" भी कहते हैं।

शंका-समाधान

(१) इतिहास बता रहा है कि संस्कृत प्राचीन और महाविद्या है। कोई लौकिक रत्न ऐसा नहीं जो संस्कृत के कोष में न हो। जब ऐसा है तो इस गणित विद्या का, जो अरबी फारसी में बहुत दिनों से प्रचलित है, संस्कृत में होना आश्चर्य की बात नहीं।

(२) यदि यह कहा जाय कि बड़े बड़े ऐसे विद्वान पुरुष हुए हैं अब और भी हैं जिन्होंने वेद, पुराण, उपनिषद्, गीता इत्यादि के एक एक अक्षर का हजारों प्रकार से अनुवाद, भावार्थ लिख लिखकर पुस्तकों के ढेर लगा दिए। संख्या-सूचक अक्षर होते तो क्या किसी को न सुझाई देते? तो प्रकट है कि वे लोग मूल कार्य धर्म-कर्म, न्याय, अन्याय इत्यादि के फेर में पड़े रहे। उनको संख्या-सूचक अक्षरों में तिथि लिखने का कब काम पड़ा? यह कौन ऐसी बड़ी बात थी कि टटोल लगाते। उनके ध्यान न करने से यह नहीं माना जा सकता कि ये बातें संस्कृत में नहीं हैं।

(३) गीता, अध्याय ४ श्लोक १, २,३ में श्रीकृष्णचन्द्र जी अर्जुन से कहते हैं कि मैंने इस अविनाशी योग को कल्प के आदि में सूर्य से कहा था; सूर्य ने अपने पुत्र मनु से; मनु ने अपने पुत्र राजा इक्ष्वाकु से कहा; इस प्रकार होते होते राजर्षियों ने जाना। वह योग बहुत काल से इस लोक में लुप्त हो गया था। वही पुरातन योग अब मैंने तुम्हारे लिये वर्णन किया। जब योग ऐसी विद्या संसार में फैलकर लुप्त हो गई

थी, तो यह कब नहीं हो सकता कि यह विद्या भी प्रचलित होकर लुप्त हो गई हो। ताँबे के कितने प्राचीन लिखे हुए पत्र ऐसे मिले हैं कि उनके अक्षर किसी से नहीं पढ़े गए। वे अक्षर भी तो कभी प्रचलित होंगे। उन्हीं अक्षरों की तरह इन संख्या-सूचक अक्षरों को भी समझ लेना चाहिए।

(४) इस गणित विद्या में अ का १ अंक माना जाता है। विष्णु भी १ है। कोषों में अ अक्षर का अर्थ विष्णु भी लिखा है। इससे प्रकट होता है कि अ अक्षर का अंक १ है। जब प्रथम अक्षर के मूल अंक का पता मिल गया, तो जान लेना चाहिए कि आगे भी हिसाब चलता रहेगा।

(५) इस गणित के प्राचीन होने का एक यह भी अटल प्रमाण है कि संख्या-सूचक शब्दों में भी इसका कुछ अंश झलकता दिखाई देता है। निम्न लिखित संख्या-सूचक अक्षरों और संख्या-सूचक शब्दों का एक साथ प्रस्तार देखो।

संख्या-सूचक अक्षर	संख्या सूचक शब्द
क—१	कु, आत्मा—१ कोष में क अक्षर का अर्थ आत्मा है।
ख—२	पाद—२ " " ख अक्षर का अर्थ विष्णु-पाद है।
ग—३	त्रि—३ " " ग अक्षर का अर्थ गीत है। त्रि, त्रिक् का आधा भाग है। त्रिक् का अर्थ है—३ चीजें नाच, गीत, बाजा (अमरकोष)

घ—४	वाणी— कोश में	घ अक्षर का अर्थ घरघर शब्द है। शब्द = वाणी।
ण—५	बाण—५ " "	ण अक्षर का अर्थ निर्वाण है ।
च—६	द्विजकर्म—६ " "	च अक्षर का अर्थ द्विजराज है; अर्थात् चन्द्रमा। राज को कर्मबना कर अर्थ बदला गया है ।
छ—७	ताण्डव—७ " "	छ अक्षर का अर्थ नाश करनेवाला है। नाशकरनेवाला ताण्डव, अर्थात् शत्रु।
ज—८	शिवमूर्ति—८ " "	ज अक्षर का अर्थ शिव है ।
झ—९	निधि—९ " "	झ अक्षर का अर्थ स्थिति, अर्थात् मर्यादा या सम्पद् है। निधि का अर्थ भी सम्पद् है ।

(६) जैसे कोष बताते हैं कि अ का अर्थ विष्णु है और वह निस्सन्देह एक है, वैसे ही भगवान् श्रीकृष्णचन्द्र जी भी अपने प्रियंवद मुख से ज्ञान काव्य रूपी अमृत बरसाते हैं—

ओमित्येकाक्षरं ब्रह्म व्याहरन्मामनुस्मरन् ।
यः प्रयाति त्यजन्देहं स याति परमां गतिम् ॥

(गीता, ८,१३,२२२)

अर्थात् जो पुरुष ओम् ऐसे एक अक्षर रूपी ब्रह्मका उच्चारण करता और उसके अर्थ स्वरूप मुझ को चिंतन करता हुआ शरीर त्यागता है, वह परम गति को प्राप्त होता है। ओम् में मुख्य ओ है, जिसका अर्थ हैं विष्णु। ओ मात्रा सहित या अ मात्रा रहित दोनों का अर्थ विष्णु है और वह एक है। जैसे उसको अ अक्षररूपी ब्रह्म का चिंतन करने से परम गति प्राप्त होती है, वैसे इस विद्या में भी अ, को एक ही चिंतन करने से कार्य शुद्ध होता है।

महर्षीणां भृगुरहं गिरामस्म्येकमक्षरम् ।

(गीता, १०,२५,२७६)

अर्थ—मैं महर्षियों में भृगु और वचनों में अर्थात् आवाजों में एक अक्षर अर्थात् ओंकार हूँ।

अक्षराणामकारोऽस्मि । (गी० १०,३३,२८१)

अर्थ—मैं अक्षरों में अकार, अर्थात् अ अक्षर का आकार हूँ। सर्व व्यंजन अक्षर क, ख, ग इत्यादि के अन्त में अ का स्वर भी छिपा हुआ है जो उच्चारण के समय प्रकट होता है।

अहमानन्दसत्यादि लक्षणः केवलः शिवः ।
सदानन्दादि रूपं यत्तेनाहमचलोऽद्वयः ॥

(अद्वैतानुभूति)

अर्थ—मैं आनन्द, सत्य आदि लक्षणोंवाला हूँ, केवल शिव और सदा आनन्द आदि रूप हूँ और अचल अद्वय हूँ।

शिव एव सदा जीवो जीव एव सदाशिवः ।
वेत्त्यैक्यमनयोर्यस्तु आत्मज्ञो न चेतरः ॥

(")

अर्थ—जीव सदा शिव ही है और शिव सदा जीव ही है। जो इनकी एकता को जानता है, वही आत्मज्ञ है।

(७) परमात्मा, ओंकार, अ अक्षर, शिव, जीव, सब एकता अर्थात् एक हैं, यह तो ऊपर लिखे हुए श्लोकों से प्रमाणित ही हो चुका। अब वेद-कला, संख्या सूचक अक्षरों, अद्वैत गणित अर्थात् महागणित महा जोड़ द्वारा भी इसको एक देखिए।

परमात्मने

प, र, म, म, न

९+६+४+४+५=२८=१

शिव, श, व,

८+२=१

जीव, ज, व,

८+२=१

(८) प्रसिद्ध और अप्रसिद्ध २४ अवतारों को सब ने श्री विष्णु भगवान् का अवतार माना है। अब यह देखिए कि सब अवतार मिल कर उसी एक का स्वरूप हैं, या नहीं।

श्री विष्णु भगवान्

श, व, ण, म, ग, व, न,

८+ २+५+३+ ३+ २+५=२८=१

२४ अवतार श्रीमद्भागवतानुसार

१—सनकसनन्दन

स, न, क, स, न, द, न,

९+५+१+९+५+७+५=४१=५

२—वराह, व, र, ह,

२+६+१=९

३—यज्ञपुरुष, य, ज्ञ, प, र, प,
५+३+९+६+८=३१=४

४—हयग्रीव, ह, य, ग, व,
१+५+३+२=११=२

५—नरनारायण, र, न, र, य, ण,
५+६+५+६+५+५=३२=५

६—कपिलदेव, क, प, ल, द, व,
१+९+७+७+ =२६=८

७—दत्तात्रेय, द, त, त, य,
७+५+५+५=२२=४

८—ऋषभदेव, ऋ, प, भ, द, व,
१+८+३+७+२=२१=३

९—राजा पृथु र, ज, प, थ
६+८×९+३=२९=११=२

१०—मत्स्य, म, य,
४+५=९

११—कच्छप, क, छ, प,
१+७+९=१७=८

१२—धन्वन्तरी, ध, व, त, र,
८+२+५+६=२१=३

१३—मोहिनी, म, ह, न,
४+१+५=१

१४—नृसिंह, न, स, ह,
५+९+१=१५=६

१५—वामन, व, म, न,
२+४+५=११=२

१६—हंस ह, स,
१+९=१

१७—नारद, न, र, द,
१+६+७=१८=९

१८—हरी, ह, र,
१+६=७

१९—परशुराम, प, र, श, र, म,
९+६+८+६+४=३३=६

२०—रामचन्द्र, र, म, च, द,
६+४+६+७=२३=५

२१—वेद्व्यास, व, द, य, स,
२+७+५+९=२३=५

२२—श्रीकृष्ण, श, क, ण,
८ +१+५=१४=५

२३—बुद्ध, ब, द,
२+७=९

२४—कलकि, क, ल, क,
१+७+१=९

इन २४ अवतारों के जोड़ का जोड़ १२७=१

(९) सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मनि।
ईक्षते योगयुक्तात्मा सर्वत्र समदर्शनः॥

(गी० ६,२९,१७७)

अर्थात—सर्वव्यापी एक भाव से योग संयुक्त हुए आत्मा-वाला सब में सम भाव से देखनेवाला योगी संपूर्ण भूतों में बर्फ में जल के सदृश व्यापक देखता है और संपूर्ण भूतों को आत्मा में देखता

है। जैसे स्वप्न से जागा हुआ पुरुष स्वप्न के अन्तर्गत संकल्प के आधार देखता है, वैसे ही वह पुरुष संपूर्ण भूतों को अपने सर्वव्यापी चेतन आत्मा के अन्तर्गत संकल्प के आधार देखता है।

संपूर्ण आनन्दमयोहमक्रियः

(राम गीता)

अर्थ—मैं सर्वव्यापक आनन्दमय और अक्रिय हूँ।

वस्तुस्थित्यनुराघतस्त्वहमहोकश्चिरपदार्थोनच।

(प्रौढानुभूति)

अर्थ—वस्तुतः तो मैं ही मैं हूँ, अन्य कोई पदार्थ नहीं है।

आ ब्रह्मस्तम्ब पर्यन्त महमेवेतिः।

(अष्टावक्र गीता)

अर्थ—ब्रह्म से लेकर तिनके तक सब जगत मैं ही हूं।

जगत्सर्वमात्मनोऽन्यन्नविद्यते।

(आत्मबोध)

अर्थ—सब जगत आत्मा ही है, उससे भिन्न नहीं है।

इन श्लोकों से यह भाव तो सरल रीति से समझ में आ गई कि परमात्मा सर्वव्यापक है। इस वेद कला की एक क्रिया रूपी ऐनक लगा कर देखने से भी परमात्मा का १ अंक रूप सब में दिखाई देता है। फारसी में महात्मा "जामी" ने मोअम्माय जामी नामक अपनी पुस्तक में जिसका वृत्तांत अभजद, अर्थात् जुमल के हिसाब से किया है, यह वर्णन किया है।

जुमल।

संख्या-सूचक अक्षरों के गणित को अरबी, फारसी में जुमल कहते हैं। "हू" शब्द को परमात्मा, "अहद" शब्द को परमात्मा और अ, अक्षर का अंक १ कहते हैं। जुमल अर्थात् अभजद के हिसाब से हू के ११ और अहद के १२ अंक होते हैं। सब नामों में इस अंक का पता लगाने की यह रीति है कि चाहे जो नाम हो, उसके अक्षरों के अंक

महागणित नियम से जोड़ते हैं। हू के समान ११ या अहद के समान १३ अंक हो जाते हैं। जब घट-बढ़ होती है, तो एकाई के अंकवाला एक अक्षर जिसे फारसी में मलफूजी कहते हैं, उसमें मिला कर जोड़ते हैं। उससे नहीं काम चलता तो तीसरा अक्षर मिला लेते हैं। एकाई के अंकवाले किसी अक्षर के संयोग से ११ या १३ अंक निकल आते हैं। हिन्दी में इस क्रिया को अद्वैत कला कहते हैं।

अद्वैत कला

चाहे जो नाम हो, उसके अक्षरों के अंक महाजोड़ नियम से जोड़े। जोड़ में वही १ अंक का रूप दिखाई देगा जो श्रीविष्णु भगवान के नाम की जोड़ में १ अंक का रूप होता है। घटबढ़ हो तो एकाई के अंकवाला एक अक्षर मिला ले। उससे न काम चले तो दूसरा; दूसरे से न काम चले तो तीसरा अक्षर मिला ले! एकाई के अंकवाले किसी न किसी अक्षर के मिलाने से १० अंक हो जायगा। महाजोड़ में शून्य की गिनती नहीं होती; १ अंक निकल आवेगा। इस कला द्वारा निश्चय हो जाता है कि परमात्मा सत्य और सर्वव्यापक है और हर नाम उसी का नाम है। उदाहरण—

अवस्थीराम

अ, व, थ, र, म,

१+२+६+६+४=१९=१

नारायणप्रसाद

न, र, य, ण, प, स, द,

५+६+५+५+ ९+ ९+७=४६=१

हिन्दू मुसलमान

ह, द, म, स, ल, म, न

१+ ७+ ४+ ९+७+ ४+ ५= ३७=१

मुकुन्दीलाल,

म, क, द, ल, ल,

४+१+७+३+७=२६=८

इस नाम के जोड़ में २ कम हैं। ख मिला लेना चाहिए क्योंकि ख के २ अंक होते हैं। ८ और २ दस १० हो गए। शून्य की गिनती नहीं होती। वही १ अंक निकल आया जो श्री विष्णु भगवान् के नाम का अंक है। अंतिम क्रिया से १० का ही अंक प्राप्त होता है जो शून्य छोड़ कर १ माना जाता है। इस महागणित में शून्य जोड़ते भी नहीं। सज्जनों को किसी नाम का १ अंक जानने के लिये अधिक खटपट न करनी पड़े, इसलिये एकाई के अंकवाले अक्षरों का उनके अंक सहित एक कोष्ठक लिख देता हूँ। कोष्ठक २ से ९ तक ही के अक्षरों का चाहिए था; परन्तु इस कोष्ठक में १ से १० तक अंकवाले अक्षर लिखे हैं। नियमानुसार जिसके नाम का १ अंक होगा, वह तो एक माना ही जायगा। कोष्ठक में स्थान भरने के लिये १ अंकवाला अक्षर भी ९ अंकवाले अक्षर के साथ लिख दिया गया है। जिसके नाम के १० अंक होंगे, वह भी शून्य छोड़ कर १ माना ही जायगा। उसका नमूना भी कोष्ठक में है। नाम के जोड़ अंक १० से जितने कम हों, उतने अंक का अक्षर कोष्ठक में देख के मिला लें। शून्य छोड़कर वही १ अंक हाथ आवेगा। नामों के जो अंक हाथ आवेंगे, वह भी कोष्ठक में लिखे हैं। देखते ही हिसाब समझ में आ जायगा।

अद्वैत कला कोष्ठक

अक्षर नाम जोड़ लब्धि

क झ

१ + ९ = १० = १

ख ज

२ + ८ = १० = १

ग छ

३ + ७ = १० = १

घ च

४ + ६ = १० = १

ङ ङ

५ + ५ = १० = १

च घ

६ + ४ = १० = १

छ ग

७ + ३ = १० = १

ज ख

८ + २ = १० = १

झ क

९ + १ = १० = १

ट ट

१०=१० = १० = १

इस अद्वैत कला में हिंन्दी के प्राचीन मान्यवर महात्मा कविवरों ने भी कविता की है।

अद्वैत कला, दोहा छन्द।

एक समाना सकल में, सकल समाना ताहिं।
कबीर समाय बूझ में, तहाँ दूसरा नाहिं॥

(कबीर)

अद्वैत कला के नियमानुसार अब तो इस दोहे का भेद सहज ही समझ में आ जायगा। भावार्थ लिखने की आवश्यकता नहीं।

हर, हरजन, द्वै एक हैं, तोहिं ज्ञान कछु नाहिं ।
जल से उपजें तरंग जल, जल ही माँह समाहिं ॥

—तुलसी ।

तरंग-जल अर्थात् जल की लहर, जैसे मूल जल एक ही है, नाशवान् तरंगें उसी से उत्पन्न होकर उसी में समा जाती हैं, मानने योग्य नहीं, वैसे ही मूल अंक एक ही है । दहाई, सैंकड़ा, हज़ार, दस हज़ार, लाख, दस लाख इत्यादि उसी एक से उत्पन्न हुए शून्य नाम के नाशवान् रूप हैं । शून्य को त्याग दे तो हर और हरजन एक ही दिखाई देंगे। यह अद्वैत कला वास्तव में मानो योग क्रिया का उदाहरण है । जैसे गणित के हर अङ्क को त्यागकर एक को ग्रहण करने से सब कुछ एक ही दिखाई देता है, उसी प्रकार सर्व मिथ्या नाशवान् वस्तु को त्याग कर एक अविनाशी को ग्रहण करने से शिव, जीव, हर, हरजन सब एक ही दिखाई देते हैं; और योगी परम गति को प्राप्त होकर आवागमन की पीड़ा से रहित हो जाता है ।

एकै साधे सब सधे, सब साधे सब जाय ।
जो तू पकड़े मूल को, फूले फले अघाय ॥

—तुलसी ।

कदाचित् एक के साधन में घट-बढ़ हो, तो मूल को पकड़ना अर्थात् एकाई को ग्रहण करना चाहिए । एकाई के ९ रूप हैं, जिनका ऊपर वर्णन किया गया है । परम भक्त गोसाईं तुलसीदास जी ने एक दोहा दूसरे विषय में लिखा है । उसमें दो शब्दों में संख्या-सूचक अक्षरों से भी काम लिया है । उसमें पहले दोहों की तरह संख्या-सूचक अक्षर का उदाहरण भी है, और उपदेश भी अच्छा है; इससे वह दोहा भी लिख देता हूँ ।

खल, सज्जन, हित आठ नौ अंक समान विचार ।
द्विगुण, त्रिगुण, कर चतुर गुण, घटत रहत एक हार ॥

—तुलसी ।

मित्र दो प्रकार के होते हैं—खल और सज्जन। रामभक्त गोसाईंजी ने अद्वैत गणित द्वारा खल को ८ और सज्जन को ९ का अंक इसलिये बताया कि दोनों नामों के प्रथम अक्षर के माथे पर उन के अंक की दैवी छाप लगी है। चर्म दृष्टि से देखिए तो खल के पहले अक्षर ख, के २ अंक हैं। और ज्ञान दृष्टि से देखिए तो ख का स्वरूप र और व दो अक्षरों से बना है। र के ६०० और व के २०० अंक होते हैं। वेद कला द्वारा र के ६ और व के २ होते हैं। ६ और २ आठ हुए। खल के माथे पर ८ के अंक की छाप देखकर आठ का अंक बताया। सज्जन का पहला अक्षर स है। स के ९०० होते हैं, किन्तु वेद कला नियमानुसार स के ९ अंक हुए; इससे उसको ९ बताया है। काव्य का भावार्थ यह है कि सज्जन पुरुष की मित्रता नित्य वैसी की वैसी बनी रहती है, कभी उसमें हानि नहीं होती; और खल पुरुष की हानिदायक मित्रता जितनी बढ़ती जाती है, उतनी ही हानि होती जाती है। जैसे ८ को द्विगुण करो तो १६ हुए। महा जोड़ नियम से जोड़ा तो ६ और १ सात हुए, ८ त्रिगुण २४ हुए। इसे जोड़ो तो ४ और २ छः हुए। इसी प्रकार गुणा करते जाओ; हानि होती जायगी। और ९ द्विगुण १८; आठ ८ और १ नौ हुए; ९ त्रिगुण २७; इसे जोड़ो तो ७ और २ नौ हुए। इसी प्रकार चाहे जितना गुणा करो, ९ का नौ ही बना रहेगा। इस ९ अंक का थोड़ा वर्णन महाभारत, वन पर्व, अध्याय ५९ में भी है। ८ का अंक आठ गुणा होने से १ रह जाता है। एक में कुछ घट नहीं सकता। नियमानुसार गुण गणित समाप्त हो जाता है। जो गुण क्रिया आगे जारी रक्खो तो ९ होकर घटते घटते फिर १ रह जायगा। १ के बाद फिर ९ होकर घटते घटते १ रह जायगा। इसी तरह होता रहेगा। अब मैं ८ और ९ के २६ गुणा तक का प्रस्तार लिखता हूँ।

अंक ८ का २६ तक का गुण-प्रस्तार, यही जोड़ नियम।

८ × १ = ८

८ × २ = १६ = ६ + १ = ७

८ × ३ = २४ = ४ + २ = ६

८ × ४ = ३२ = २ + ३ = ५

८ × ५ = ४० = ० + ४ = ४

८ × ६ = ४८ = ८ + ४ = १२ = २ + १ = ३

८ × ७ = ५६ = ६ + ५ = ११ = १ + १ = २

८ × ८ = ६४ = ४ + ६ = १० = ० + १ = १ (मुख्यक्रिया समाप्त

८ × ९ = ७२ = २ + ७ = ९

८ × १० = ८० = ० + ८ = ८

८ × ११ = ८८ = ८ + ८ = १६ = ६ + १ = ७

८ × १२ = ९६ = ६ + ९ = १५ = ५ + १ = ६

८ × १३ = १०४ = ४ + ० + १ = ५

८ + १४ = ११२ = २ + १ + १ = ४

८ × १५ = १२० = ० + २ + १ = ३

८ × १६ = १२८ = ८ + २ + १ = ११ = १ + १ = २

८ × १७ = १३६ = ६ + ३ + १ = १० = ० + १ = १

८ × १८ = १४४ = ४ + ४ + १ = ९

८ × १९ = १५२ = २ + ५ + १ = ८

८ × २० = १६० = ० + ६ + १ = ७

८ × २१ = १६८ = ८ + ६ + १ = १५ = ५ + १ = ६

८ × २२ = १७६ = ६ + ७ + १ = १४ = ४ + १ = ५

८ × २३ = १८४ = ४ + ८ + १ = १३ = ३ + १ = ४

८ × २४ = १९२ = २ + ९ + १ = १२ = २ + १ = ३

८×२५=२००=०+०+२=२

८×२६=२०८=८+०+२=१०=०+१=१

अंक ९ का २६ तक का गुण-प्रस्तार, महा जोड़ नियम।

९×१=९

९×२=१८=८+१=९

९×३=२७=७+२=९

९×४=३६=६+३=९

९×५=४५=५+४=९

९×६=५४=४+५=९

९×७=६३=३+६=९

९×८=७२=२+७=९

९×९=८१=१+८=९

९×१०=९०=०+९=९

९×११=९९=९+९=१८=८+१=९

९×१२=१०८=८+०+१=९

९×१३=११७=७+१+१=९

९×१४=१२६=६+२+१=९

९×१५=१३५=५+३+१=९

९×१६=१४४=४+४+१=९

९×१७=१५३=३+५+१=९

९×१८=१६२=२+६+१=९

९×१९=१७१=१+७+१=९

९×२०=१८०=०+८+१=९

९×२१=१८९=९+८+१=१८=८+१=९

९×२२=१९८=८+९+१=१८=८+१=९

९×२३=२०७=७+०+२=९

९×२४=२१६=६+१+२=९

९×२५=२२५=५+२+२=९

९×२६=२३४=४+३+२=९

(असमाप्त)

८ × २५ = २०० = ० + ० + २ = २

८ × २६ = २०८ = ८ + ० + २ = १० = ० + १ = १

अंक ९ का २६ तक का गुण-प्रस्तार, महा जोड़ नियम।

९ × १ = ९

९ × २ = १८ = ८ + १ = ९

९ × ३ = २७ = ७ + २ = ९

९ × ४ = ३६ = ६ + ३ = ९

९ × ५ = ४५ = ५ + ४ = ९

९ × ६ = ५४ = ४ + ५ = ९

९ × ७ = ६३ = ३ + ६ = ९

९ × ८ = ७२ = २ + ७ = ९

९ × ९ = ८१ = १ + ८ = ९

९ × १० = ९० = ० + ९ = ९

९ × ११ = ९९ = ९ + ९ = १८ = ८ + १ = ९

९ × १२ = १०८ = ८ + ० + १ = ९

९ × १३ = ११७ = ७ + १ + १ = ९

९ × १४ = १२६ = ६ + २ + १ = ९

९ × १५ = १३५ = ५ + ३ + १ = ९

९ × १६ = १४४ = ४ + ४ + १ = ९

९ × १७ = १५३ = ३ + ५ + १ = ९

९ × १८ = १६२ = २ + ६ + १ = ९

९ × १९ = १७१ = १ + ७ + १ = ९

९ × २० = १८० = ० + ८ + १ = ९

९ × २१ = १८९ = ९ + ८ + १ = १८ = ८ + १ = ९

९ × २२ = १९८ = ८ + ९ + १ = १८ = ८ + १ = ९

९ × २३ = २०७ = ७ + ० + २ = ९

९ × २४ = २१६ = ६ + १ + २ = ९

९ × २५ = २२५ = ५ + २ + २ = ९

९ × २६ = २३४ = ४ + ३ + २ = ९

(असमाप्त)

(१०) कवि राजशेखर की जाति

[लेखक—राय बहादुर पं० गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर ।]

काव्य मीमांसा, कर्पूरमंजरी, विद्धशालभंजिका, बालरामायण, बालभारत आदि* ग्रंथों का रचयिता प्रसिद्ध संस्कृत कवि राजशेखर किस जाति या वर्ण का था, इसका ठीक ठीक निर्णय अब तक नहीं हुआ। काव्यमाला के सुप्रसिद्ध संपादक महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद जी (स्वर्गवासी) ने ईसवी सन् १८८७ की काव्यमाला में राजशेखर के कर्पूरमंजरी और बालभारत नाटकों का बड़ी योग्यता के साथ संपादन किया; और कर्पूरमंजरी की विस्तृत संस्कृत भूमिका में राजशेखर का बहुत कुछ परिचय दिया था। उन्होंने उक्त कवि की जाति का निर्णय करते हुए लिखा था—"राजशेखर ब्राह्मण था वा क्षत्रिय, यह संदिग्ध है। बालरामायण आदि में वह 'उपाध्याय', 'गुरु' आदि शब्दों से अपना परिचय देता है, जिससे उसका ब्राह्मणत्व स्पष्ट प्रतीत होता है; क्योंकि क्षत्रिय को अध्यापनादि का अधिकार नहीं है। 'राजशेखर' नाम का समास (विग्रह) 'राजाओं का शेखर (शिरोमणि)' करना भी उचित नहीं है। उचित समास तो यही है कि 'राजा अर्थात् चंद्र है शेखर जिसका'; क्योंकि कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में राजशेखर नाम का पर्याय 'रजनीवल्लभ-

---

* राजशेखर के ऊपर लिखे हुए पाँच ग्रंथ ही प्रसिद्धि में आए हैं; परंतु हेमचंद्राचार्य ने अपने काव्यानुशासन विवेक में राजशेखर के हरविलास का नाम भी दिया है (स्वनामाङ्कता यथा राजशेखरस्य हरविलासे) (पृ० ३३५)। और उसमें से दो श्लोक भी उद्धृत किए हैं। उज्ज्वलदत्त ने भी हरविलास से आधा श्लोक उद्धृत किया है (२१२८), परंतु अब तक वह ग्रंथ प्रसिद्धि में नहीं आया।

शिखंडः' मिलता है, जिसका अर्थ—'रजनीवल्लभ (चंद्र) है शिखंड जिसका' होता है। कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में राजशेखर कवींद्र की गेहिनी (स्त्री) को चाहमान कुल की मौलिमाला (सिर पर धारण करने की पुष्पमाला) कहा है। चाहमान कुल 'चौहान' नाम का प्रसिद्ध क्षत्रिय कुल है, जिसमें हमीर, पृथ्वीराज आदि राजा हुए हैं। उस कुल की कन्या इस युग में ब्राह्मण की स्त्री कैसे हो सकती है? अतएव 'राजशेखर क्षत्रिय था' ऐसा मानना भी विशेष अनुचित प्रतीत नहीं होता *"।

ई० स० १९०१ में क्रिस्टिआनिआ युनिवर्सिटि (नॉर्वे) के प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता और संस्कृत के विद्वान् स्टीनकोनो ने 'हार्वर्ड ओरिएंटल् सीरीज' नाम की ग्रंथमाला में राजशेखर की कर्पूरमंजरी का अनेक हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर एक उत्तम संस्करण प्रकाशित किया था। उसमें राजशेखर का बहुत कुछ परिचय दिया है, जहाँ उसको यायावर ब्राह्मण मानकर लिखा है—"भारत के अधिकांश ग्रंथकर्ताओं की अपेक्षा राजशेखर अपना तथा अपने कुल का विशेष परिचय देता है। बालरामायण (१. ६. १३.) और विद्धशालभंजिका (१.५.) के अनुसार वह यायावरकुल का था। हॉल (पृ० १४, टिप्पणि) यायावर शब्द का अर्थ 'यज्ञ की अग्नि का रक्षक' करता है; और नारायण दीक्षित ने विद्धशालभंजिका की टीका (१. ५.) में देवल का वचन उद्धृत कर बतलाया है कि यायावर का अर्थ 'एक प्रकार का गृहस्थ' है। "द्विविधो गृहस्थो यायावरः शालीनश्च"। गृहस्थ दो प्रकार के—यायावर और शालीन—होते हैं। परंतु संभवतः यायावर एक कुटुंब का नाम है। यायावर ब्राह्मण हैं। आप्टे (पृ. १८) ने ठीक कहा है—"राजशेखर को भी ब्राह्मण मानना चाहिए; क्योंकि उसको भवभूति का

---

* कर्पूरमंजरी की संस्कृत भूमिका, पृ० २-३।

अवतार माना है*। दूसरी बात यह भी है कि क्षत्रिय का 'उपाध्याय' या 'गुरु' होना उचित नहीं। इसके विरुद्ध राजशेखर की पत्नी अवंतीसुंदरी को कर्पूरमंजरी (१.११) में चौहान कुल की मौलिमालिका कहा है †; अतएव वह राजपूत कुल की राजकन्या थी ‡"।

ई० स० १९१६ में श्रीयुत सी० डी० दलाल एम. ए. ने 'गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज' में राजशेखर की काव्यमीमांसा का संपादन करते समय उसकी अँग्रेजी भूमिका में राजशेखर की जाति का निर्णय करने के प्रसंग में लिखा है—"हमें यह ज्ञात हुआ है कि राजशेखर यायावर कुल का था; परंतु यह निश्चित नहीं है कि वह ब्राह्मण था या क्षत्रिय। यदि राजा महेंद्रपाल का उपाध्याय होना उसके ब्राह्मण होने का समर्थन करता है, तो उसका राजशेखर नाम तथा उसकी स्त्री का चौहान वंश में उत्पन्न होना, ये उसको क्षत्रिय मानने की ओर प्रवृत्त कराते हैं +।"

उपर्युक्त तीनों ग्रंथ-संपादकों के लेखों से राजशेखर की जाति का संतोषजनक निर्णय नहीं होता।

राजशेखर अपने नाटकों में अपना विशेष परिचय देता है। विद्ध-

---

* बभूव वल्मीकभवः पुरा कवि-
स्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया
स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः॥

बालभारत, १।१२.

† चाहुआणकुलमौलिमालिआ
राजसेहरकइन्दगेहिणी।
भत्तुणो किदमवन्ति सुन्दरी
सा पउञ्जइउमेअमिच्छइ॥

कर्पूर मंजरी १।११, और मेरे राजपूताने के इतिहास का पहला खंड, पृ० १२३ टिप्पण १.

‡ डा० स्टीन कोनो संपादित कर्पूरमंजरी, पृ० १८०.

+ काव्य मीमांसा की अँग्रेजी भूमिका, पृ० १४.

शालभंजिका और बालभारत में वह अपने को यायावरीय बतलाता है;* और बालरामायण में लिखता है—"जिस यायावर कुल में अकालजलद, सुरानंद, तरल, और कविराज (या तरल कविराज) आदि विद्वान हुए, उसी कुल में यह महाभाग (राजशेखर) उत्पन्न हुआ है†"। अतएव निश्चित है कि हमारे लेख का नायक यायावर कुल में उत्पन्न हुआ था। अब यह निर्णय करने की आवश्यकता है कि यायावर कुल किस जाति या वर्ण से संबंध रखता है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि नारायण पंडित देवल का वचन उद्धृत कर यायावर नाम को गृहस्थ का सूचक बतलाता है; परंतु उससे कवि की जाति या वर्ण का निर्णय नहीं हो सकता।

आश्रमोपनिषद् में ब्रह्मचारी, गृहस्थ, वानप्रस्थ और परिव्राजक ये चार आश्रम मानकर प्रत्येक आश्रम के चार चार भेद किए हैं ‡। गृहस्थ के चार भेद—वार्ताक वृत्तिवाले, शालीन वृत्तिवाले, यायावर और

---

* सूत्रधारः—(आकर्ण्य) अये यायावरीय दौहिकिना कविराजशेखरेण विरचितायां विद्धशालभञ्जिकानाम्न्या नाटिकाया वस्तुप्रचेशो गीयते।

विद्धशालभंजिका (कलकत्ता संस्करण), पृ० ७।]

(विमृश्य च) अहो नमस्येद्वता सरस्वती यायावरस्य।

बालभारत, पृ० १.

† स मूर्तो यत्रासीद्गुणगण इवाकालजलदः
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा।
न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले॥

बालरामायण, १।१३.

‡ अथातश्चत्वार आश्रमाः षोडश भेदा भवन्ति। तत्र ब्रह्मचारिणश्चतुर्विधा भवन्ति... ।१। गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति......।२। वानप्रस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति...।३। परिव्राजका अपि चतुर्विधा भवन्ति......।४।

मायनर उपनिषद्स भाग्ये अडर पी एच० डी (Otto Schrader, Ph. D.) संपादित जिल्द प्रथम, संन्यास उपनिषद्स, ई० स० १९१२ के संस्करण (अडियार लाइब्रेरी के द्वारा प्रकाशित) में आश्रमोपनिषद्, पृ० ७७.

घोर संन्यासिक बतलाए हैं *। साथ में प्रत्येक भेद की व्याख्या भी है, जिसका आशय नीचे लिखा जाता है—

(अ) वार्ताक वृत्तिवाले वे गृहस्थ हैं जो अगर्हित कृषि, गोरक्षा और वाणिज्य करते हैं † (अर्थात् वैश्य हैं)।

(आ) शालीन वृत्तिवाले यज्ञ करते हैं, परंतु कराते नहीं; अध्ययन करते हैं, कराते नहीं ‡ (अर्थात् क्षत्रिय हैं)।

(इ) यायावर लोग यज्ञ करते और कराते हैं, अध्ययन करते और कराते हैं तथा दान देते और लेते हैं + (अर्थात् ब्राह्मण हैं)।

(ई) घोर संन्यासिक वे लोग हैं जो (अपने हाथ से) लाए हुए शुद्ध जल से कार्य करते हैं और प्रति दिन उंछ वृत्ति × से निर्वाह करते हैं ÷ (यह भी ब्राह्मणों का एक भेद होना चाहिए)।

आश्रमोपनिषद् से ऊपर उद्धृत किए हुए गृहस्थ के चार भेदों में से तीसरे भेदवालों अर्थात् यायावरों के वे ही छः कर्म बतलाए गए हैं, जो मनुस्मृति, याज्ञवल्क्य स्मृति आदि धर्मशास्त्रों में केवल ब्राह्मण

---

* गृहस्था अपि चतुर्विधा भवन्ति वार्ताकवृत्तयः शालीनवृत्तयो यायावरा घोरसंन्यासिकाश्चेति।

आश्रमोपनिषद्।

† वार्ताकवृत्तयः कृषिगोरक्षवाणिज्यमगर्हितमुपयुञ्जानाः शतसंवत्सराभिः क्रियाभिर्यजन्त आत्मानं प्रार्थयन्ते।

आश्रमोपनिषद्।

‡ शालीनवृत्तयो यजन्तो न याजयन्तोऽधीयाना नाध्यापयन्तो ददतो न प्रतिगृह्णन्तः शत० (वही)।

+ यायावरा यजन्तो याजयन्तोऽधीयाना अध्यापयन्तो ददतः प्रतिगृह्णन्तः शत० (वही)

× अन्न की फसल काट लेने के बाद खेतों में पड़ी हुई अन्न की बालियों आदि को अथवा भूमि पर बिखरे हुए अन्न के दानों को चुनकर उसी पर अपना निर्वाह करने के व्रत को उंछवृत्ति कहते हैं। महाभारत के नकुलोपाख्यान में एक उंछ वृत्तिवाले कुटुंब का अच्छा वर्णन है।

÷ घोरसंन्यासिका उद्धृतपरिपूताभिरद्भिः कार्यं कुर्वन्तः प्रतिदिवसमाहृतोञ्छवृत्तिमुपयुञ्जानाः शत०

आश्रमोपनिषद्।

के लिये ही नियत किए गए हैं *। अतएव यायावरों का ब्राह्मण होना निर्विवाद है।

श्रीमद्भागवत में ब्राह्मणों की चार वृत्तियों में से एक यायावर वृत्ति भी मानी गई है †। इससे भी आश्रमोपनिषद् के कथन की पुष्टि होती है।

अब यह जानना भी आवश्यक है कि *यायावर* उपनामवाले *ब्राह्मणों* की मूल वृत्ति या जीविका किस प्रकार की थी और वे यायावर क्यों कहलाए। या-या-वर शब्द का अर्थ 'जा जा कर याचना करना या (अन्नादि की) भिक्षा माँगना' है। प्राचीन लेखकों ने भी उक्त नाम का यही आशय माना है।

श्रीमद्भागवत की टीका में श्रीधर ने लिखा है—'यायावर शब्द प्रति दिन अन्न की याचना करने का सूचक है' ‡।

विजयध्वजतीर्थ का कथन है—'यायावर एक प्रकार का भिक्षाचरण है; अर्थात् संचय न करना और एक दिन में व्रीहि आदि जो अन्न मिले, उसको उसी दिन काम में लाना सूचित करता है +'।

वीर राघवाचार्य का मत है—'यायावर शब्द प्रवासी का सूचक

---

* अध्यापनमध्ययनं यजनं याजनं तथा।
दानं प्रतिग्रहं चैव ब्राह्मणानामकल्पयत् ॥ मनुस्मृति, १।८८.

इज्याध्ययनदानानि वैश्यस्य क्षत्रियस्य च।
प्रतिग्रहोऽधिको विप्रे याजनाध्यापने तथा ॥ याज्ञवल्क्यस्मृति, ५।११८.

† वार्ता विचित्रा शालीनयायावरशिलोञ्छनम्।
विप्रवृत्तिश्चतुर्धेयं श्रेयसी चोत्तरोत्तरा ॥ श्रीमद्भागवत, ७।११।१६।

‡ यायवरा॰। यायावरं प्रत्यहं धान्ययाच्ञा।

श्रीमद्भागवतपर श्रीधरकी टीका।

\+ यायवरं भैक्षचर्याविशेषः। "संचय एकाहिक तत्तद्दिनार्जित व्रीह्यादेस्तद्दिन एव व्ययः"......वार्ता यायावरं शेषमेकाहिकत्वमसंचय इति।

श्रीमद्भागवत की टीका में उद्धृत विजयध्वज का कथन।

है और उसके कर्म को 'यायावर्यम्' कहते हैं, जो प्रवास आदि से याचनापूर्वक संग्रह करना बतलाता है' * ।

इन कथनों का निष्कर्ष यही है कि प्रारंभ में जो ब्राह्मण फिर फिरकर भिक्षा वृत्ति मात्र से ही निर्वाह करते, एक दिन के निर्वाह जितना अन्न मिलने पर संतुष्ट रहते और संग्रह नहीं करते थे, वे यायावर कहलाते थे। पीछे से उस वृत्ति को छोड़कर अन्य वृत्ति धारण करने पर भी याज्ञिक (जानी), उपाध्याय (उवज्झाय, उझज्झा, ओझा, झा), अध्वर्यु (अध्वारु), द्विवेदी (दो वेद पढ़नेवाले, दूबे, दबे), त्रिवेदी (तिवाड़ी, तरवाड़ी), चातुर्वेदी (चौबे) आदि ब्राह्मण कुटुंबों के समान यायावर उपनाम भी ब्राह्मण कुटुंब या कुटुंबों की प्राचीन वृत्ति की स्मृति का सूचक मात्र रह गया। ब्राह्मणों की यायावर वृत्ति बहुत प्राचीन थी; क्योंकि महाभारत में जरत्कारु ऋषि को यायावरों में प्रवर (श्रेष्ठ) कहा है †।

राजशेखर का चरित्र अंकित करनेवाले उपर्युक्त विद्वानों ने राजशेखर की स्त्री अवंतीसुंदरी के चौहान वंश की होने के कारण ही उस (राजशेखर) का क्षत्रिय होना भी संभव माना है, जो ठीक नहीं है; क्योंकि उन्होंने हिंदुओं की वर्तमान वर्णाश्रम-व्यवस्था की ओर दृष्टि रखकर ऐसा अनुमान किया है; परंतु हिंदुओं की वर्तमान वर्णाश्रम-व्यवस्था बहुत प्राचीन नहीं है। वर्तमान समय में राजपूतों (क्षत्रियों) को छोड़कर अन्य तीनों वर्णों में सैकड़ों जातियाँ बन गई हैं, जिनमें परस्पर विवाह संबंध तो दूर रहा, खाने पीने में भी बहुत कुछ प्रतिबंध हो रहा है। प्राचीन काल में अतिशूद्रों को छोड़कर चारों

* यायावर्यम् । यायावरः प्रवासी । तस्य कर्म यायावर्यम् । प्रवासादिना याच्ञापूर्वकमर्जनम् ।

श्रीमद्भागवत की टीका में उद्धृत वीरराघवाचार्य का कथन (७।११।१६)।

† जरत्कारुरिति ख्यात ऊर्ध्वरेता महातपाः ।
यायावराणां प्रवरो धर्मज्ञः संशितव्रतः ॥ महाभारत १।१३।११।

वर्णों में परस्पर खान-पान में भेद न था। इतना ही नहीं, किंतु प्रत्येक वर्ण का पुरुष अपने तथा अपने से नीचे के वर्णों में विवाह कर सकता था। सवर्ण विवाह श्रेष्ठ माना जाने पर भी अन्य वर्ण में विवाह करना धर्मशास्त्र से निषिद्ध न था। मनु के समय कामवश ब्राह्मण चारों वर्णों में विवाह कर सकता था। पीछे से याज्ञवल्क्य ने द्विजों के लिये शूद्र वर्ण की कन्या के साथ विवाह करने का निषेध किया *। विक्रमी १० वीं शताब्दी तक के शिलालेखों में भी ब्राह्मणों के क्षत्रिय कन्याओं के साथ विवाह होने के उदाहरण कभी कभी मिल जाते हैं। जैसे—

(अ) वि० सं० ८८४ के मंडोर (जोधपुर राज्य में) से मिले हुए शिलालेख में, जो राजपूताना म्यूज़ियम (अजमेर) में सुरक्षित है, मंडोर के प्रतिहारों के मूल पुरुष हरिश्चंद्र के विषय में लिखा है—'उसकी दो स्त्रियों में से एक ब्राह्मण कुल की और दूसरी क्षत्रिय वर्ण की थी' †।

(आ) घटियाला (जोधपुर राज्य में) से मिले हुए वि० सं० ९१८ के प्राकृत भाषा के शिलालेख में, जो प्रतिहार राजा कक्कुक के राजत्व

---

* यदुच्यते द्विजातीनां शूद्राद्दारोपसंग्रहः।
नैतन्मम मतं यस्मात्तत्रायं जायते स्वयं ॥५६॥

याज्ञवल्क्य स्मृति, आचाराध्याय।

† विप्रः श्रीहरिचन्द्राख्यः पत्नी भद्रा च क्षत्(त्रि)या।
...। तेन श्रीहरिचन्द्रेण परिणीता द्विजात्मजा।
द्वितीया क्षत्(त्रि)या भद्रा महाकुलगुणान्विता ॥
प्रतीहारा द्विजा भूता ब्राह्मण्यां येऽभवन्सुता।
राज्ञी भद्रा च यान्सूते ते भूता मधुपायिनः ॥

राजपूताना म्यूज़ियम (अजमेर) में रक्खे हुए मूल लेख से।

काल का है, उस (कक्कुक) के पूर्व पुरुष ब्राह्मण हरिश्चन्द्र की की भद्रा (भद्रा) का क्षत्रिय वर्ण की होना लिखा है *।

(ङ) घटियाले से ही मिले हुए वि० सं० ९१८ के एक संस्कृत शिलालेख में भी वैसा ही उल्लेख है †।

ये उदाहरण उत्तरी भारत (उत्तरापथ) से संबंध रखते हैं; पर (दक्षिणापथ) के शिलालेखों में भी ऐसे उदाहरण मिल जाते हैं। प्रसिद्ध अजंटा की गुफाओं से कुछ ही मीलों के अंतर पर गुलवाड़ा गाँव के पास की बौद्ध गुफा की पिछली दीवार में एक बड़ा लेख खुदा हुआ है, जिसके नीचे का बहुत कुछ अंश नष्ट होने पर भी ऊपर का बहुत सा हिस्सा सुरक्षित है। उक्त लेख से पाया जाता है—"दक्षिण में उत्तम ब्राह्मणों का एक वंश वल्लूर नाम से प्रसिद्ध हुआ। उस वंश में भृगु, अत्रि, गर्ग और आंगिरस के समान यज्ञ'''प्रकाश उत्पन्न हुआ। उसका पुत्र देव हुआ जो कई राजाओं के राज्यों का स्वामी हुआ। उसका पुत्र सोम हुआ, जिसने कई ब्राह्मण और दो क्षत्रिय कन्याओं से विवाह किया। क्षत्रिय कन्या से उसके रवि नामक पुत्र हुआ जो सारे मलय प्रदेश का स्वामी बना। ब्राह्मण कन्याओं से जो पुत्र उत्पन्न हुए, वे वेदों में पारंगत थे। उन ब्राह्मणों का निवासस्थान अब तक वल्लूर नाम से प्रसिद्ध है। रवि का पुत्र प्रवर, उसका राम, राम का कीर्ति और उसका हस्तिभोज हुआ जो वाकाटक वंशी राजा देवसेन के समय विद्यमान था ‡।" आगे लेख अधिक बिगड़ा हुआ है जहाँ

---

* विप्पो सिरिहरिअंदो भज्जा आसित्ति खत्तिआ भद्दा।

घटियाले के शिलालेख की छाप से।

† आसीअनीहारवन्श(वंश)गुरु सद्वि(द्वि)जः श्रीहरिचन्द्रः। अनेन राज्ञी क्षत्रियभद्रायां जातः श्रीमान्सुनः श्री रज्जिलः ए'पिग्राफिया इंडिका, जि० ९, पृ० २७९।

‡ अस्ति प्रकाशो दिशि दक्षिणस्यां
वल्लूरनाम्ना द्विजसत्तमानां [।]'''[॥]

हरिवभोज के वंशजों के कुछ और नाम भी थे, जिनमें से निश्चय के साथ देवराज का नाम पढ़ा जाता है। यह शिलालेख वि० सं० की ९ वीं शताब्दी के लगभग का अनुमान किया जा सकता है।

इस प्रकार वि० सं० की ९ वीं तथा १० वीं शताब्दी के शिलालेखों से पाया जाता है कि उस समय से कुछ पूर्व तक भी ब्राह्मणों के विवाह क्षत्रिय कन्याओं के साथ होते थे और प्राचीन प्रणाली का समूल उच्छेद नहीं हुआ था। ऐसी दशा में ब्राह्मण राजशेखर का क्षत्रिय कन्या के साथ विवाह होने के कारण ही उसको क्षत्रिय अनुमान करना निर्मूल है। वास्तव में राजशेखर यायावर कुल का ब्राह्मण ही था।

भारत के प्राचीन विद्वानों तथा राजाओं का लिखित इतिहास न रहने के कारण संस्कृत के पंडितों ने कहीं कहीं नामों की समानता देखकर उनके संबंध में भ्रमपूर्ण कल्पनाएँ करके उनके इतिहास में और भी उलझन डाल दी है। ऐसा ही भ्रम राजशेखर के विषय में भी हुआ है। माधवाचार्य ने अपने शंकरविजय में लिखा है—'केरल के राजा

तस्मिन्नभूदाहमलक्षणानां
द्विजन्मनां प्राथमकल्पकानाम् [।]
भृगवत्रिगर्गादिकुला समानो
द्विजर्षभो यस्य ' ' प्रकाराः [॥]
तदात्मजो देव इवास्य देवः
कृती गृहस्थो नयवान्क्रियावान् [।]
सराजकं राष्ट्रमुपेत्य परिप-
न्थ्यर्थाः क्रियाः पार्थ इव प्रचक्रे [॥]
सोमस्ततः सोम इवापरोऽभू-
त्स ब्राह्मणः क्षत्रियवंशजासु [।]
[श्रुतिस्मृतिभ्यां] विहितार्थकारी
द्वयीषु भार्यासु मनो दधार [॥]
स क्षत्रियायां कुलहीनवत्या-
मुत्पादयामास नरेंद्रचिह्नं [।]
सुतं सुरूपं रविनामधेयं

राजशेखर ने अपने रचे हुए तीन नाटक शंकराचार्य को भेंट किए *। उक्त पुस्तक में उन नाटकों का नामोल्लेख नहीं है। ई० सन् की १६ वीं शताब्दी के लेखक सदाशिव ब्रह्मेंद्र ने कामकोटि पीठ (कुंभकोणम् मठ) के शंकराचार्यों के वृत्तांत की पुस्तक 'जगद्गुरुरत्नमालास्तव' में केरल के उक्त राजा के विषय में लिखा है—'एक सट्टक और तीन नाटकों के रचयिता अंधे यायावर राजशेखर का अंधत्व धृतिगंगाधर † ने अपनी मंत्र शक्ति से मिटा दिया ‡ । फिर उन्हीं (सदाशिव) के गुरु-भाई आत्मबोधेंद्र सरस्वती ने उक्त पुस्तक की टीका में केरल के उक्त राजा को कर्पूरमंजरी सट्टक और बालरामायण, प्रचंडपांडव (बालभारत)- और विद्धशालभंजिका इन तीन नाटकों का कर्ता मानकर + केरल के

कुन्तविपर्त्यं मलये समग्रे [।।]
दिशासु चान्यासु सुतानुदारान्
स [सोम ?] वेदेषु समासकामान् [।]
वत्सूरनाम्ना दिशि दक्षिणस्या-
मद्यापि येषाम्वसतिर्द्विजानां [॥]
रवेः सुतोऽभूत्प्रवराभिधान-
श्री[रा]मनामाथ बभूव तस्मात् [।]
सदाहवजः कीर्त्तिरभूत्सकीर्त्ति-
र्बभूव तस्मादथ हस्तिभोज. [।।]
वाकाटके राजति देवसेने
गु[णैधिकोशो] भुवि हस्तिभोज॰ [।।]

डॉ० जेम्स बर्जेस और पंडित भगवानलाल इन्द्रजी संपादित इन्स्क्रिप्शन्स फ्रॉम दी केव टेम्पल्स ऑफ वेस्टर्न इंडिया, पृ० ८८—८६.

* ट्रावनकोर आर्कियालॉजिकल् सीरीज, जि० २, पृ० ६—१०.

† अभिनवशंकर धृति गंगाधर को उक्त मठ का तीसरा शंकराचार्य बतलाता है। वही, पृ० १०.

‡ कृतसट्टकत्रिनाट्यबन्धमन्धयायावरराजशेखरान्धम् ।

कृतवन्तमनन्तमन्त्रशक्ति धृतिगङ्गाधरमाश्रयेऽर्थसूक्तिम् ॥

जगद्गुरुरत्नमालास्तव (वही, पृ० १०) ।

+ कृतेति कृतं सट्टकं कर्पूरमञ्जरीनामरूपकं येन कृतसट्टकः त्रिनाट्यबन्धे बालरामा-

राजा राजशेखर तथा हमारे इस लेख के नायक कवि राजशेखर को एक मान लिया, जो भ्रम ही है। वास्तव में ये दोनों भिन्न व्यक्ति थे।

जैसे आजकल के अनेक बंगाली लेखकों में यह धुन समाई हुई है कि प्राचीन काल के प्रसिद्ध प्रसिद्ध विद्वानों को जैसे बने वैसे बंगालनिवासी सिद्ध करना और महाकवि कालिदास को भी वे अपनी हठधर्मी से बंगाली बताने लग गए हैं, ऐसी ही हठधर्मी त्रावणकोर राज्य के पुरातत्त्व विभाग के अध्यक्ष श्रीयुत् टी० ए० गोपीनाथराव (स्वर्गवासी) ने कवि राजशेखर को केरल का राजा बतलाने में की है, और वह भी बहुत ही भद्दी तरह से। उनका कथन कवि राजशेखर की जाति से संबंध रखता है जिससे उसका संक्षिप्त परिचय नीचे दिया जाता है।

त्रावनकोर राज्य के पुरातत्त्व विभाग के पंडित वी० श्रीनिवास शास्त्री (स्मृतिविशारद) को चंगनाशेरि के निकट के तलमन् इल्लं गाँव से एक ताम्रपात्र वहाँ के राजा राजशेखर का मिला, जिसमें उक्त राजा के नाम के साथ 'श्रीराज,' 'राजाधिराज,' 'परमेश्वर' और 'भट्टारक' बिरुद हैं। उसका संपादन करते समय श्रीयुक्त गोपीनाथ राव ने लिखा— "उक्त ताम्रपत्र का मिलना केरल के तथा संस्कृत साहित्य के इतिहास के लिये बहुत बड़े महत्त्व का विषय है" *। यह ताम्रपत्र उक्त राजा के १२ वें राज्यवर्ष का है। उसमें कोई संवत् नहीं दिया, परंतु उसकी लिपि के आधार पर उन्होंने उसका समय ईसवी सन् ७५० और ८५० के बीच का स्थिर कर लिखा है—'इस राजा को तथा संस्कृत के प्रसिद्ध कवि राजशेखर को एक ही व्यक्ति मानने के प्रश्न का—जैसा कि संस्कृत के विद्वानों का मानना है—हम विचार किए बिना नहीं रह

यथमचण्डपाण्डवविद्मानभञ्जिकाव्यकृतकृतयविरचनेन यो मतः नियमस्तेन सहितासिनात्म-बन्धनतः स च यः यायावरराजशेखरः तदाख्यः कविरत्रयान्यमपाटवमद्योरागन्तुकत्वा-दिति ज्ञेयम् (वही, पृ० १०)।

* वही, पृ० ६ ।

सकते * '। फिर राजशेखर के ग्रंथों में मिलनेवाली उसके संबंध की कुछ बातें अशुद्धता के साथ उद्धृत कर उनपर अपनी ओर से टीका टिप्पणी की है। उनमें से जिन जिन बातों का संबंध हमारे इस लेख से है, उनको उक्त विद्वान की टीका के साथ नीचे उद्धृत कर साथ ही उनके कथन की जाँच की जाती है।

(१—२) वह (राजशेखर) निर्भय (निर्भयनरेंद्र) उपनाम-वाले महेंद्रपाल का गुरु था। उसको 'गुरु' 'उपाध्याय' आदि कहा है; और ये (गुरु आदि) विरद बहुधा ब्राह्मणों के होते हैं, जिससे उसका ब्राह्मण होना माना जाता है; परंतु उसको चाहमान कुल का भी कहा है, अतएव उसको क्षत्रिय ही मानना चाहिए †।

इस पर टीका टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है—"चाहमान नाम चेरमान के लिये अवश्य भ्रम से लिखा गया होगा। द्रविड़ के प्राचीन और मुख्य राजवंश चेरमान का पिछले समय में विस्मरण हो गया और अधिक नवीन एवं समुन्नत राजपूतों के चौहान वंश का नाम प्रसिद्धि में रह गया, जिससे उक्त भ्रम का होना अनुमान किया जाता है। उस (राजशेखर) को गुरु, उपाध्याय और यायावर कहा है; परंतु ये कथन उसको क्षत्रिय तथा केरल का राजा मानने में बाधक नहीं हैं; क्योंकि बहुत प्राचीन काल से ही केरल के राजा ब्राह्मणों का सा जीवन व्यतीत करते, शास्त्रों का अध्ययन करते, जो शिष्य उनके पास अध्ययन करने को आते उनको वे शास्त्र पढ़ाते और नियत (वृद्ध) अवस्था में अपने पुत्रादि को राज्य सौंपकर वानप्रस्थ या यायावर हो जाया करते थे ‡"।

गोपीनाथ राव का यह सारा कथन बहुधा कल्पित है और राज-शेखर के ग्रंथों का अध्ययन सावधानी से न करने का ही फल है;

* वही, पृ० ९।
† वही, पृ० १०।
‡ वही, पृ० १०—११।

क्योंकि राजशेखर ने तो अपनी स्त्री अवंतीसुंदरी को चौहान वंश की बतलाया है; अपने को सर्वत्र यायावर या यायावर कुल का कहा है; कहीं भी चौहान नहीं कहा। जब कि राजशेखर चौहान वंश का नहीं था, तो फिर चौहान नाम का भ्रम से चेरमान के स्थान में लिखा जाना * और उसको केरल के चेरमान राजवंश का मानना कैसे युक्तियुक्त कहा जा सकता है!

(३) राजशेखर महोदय को अपनी राजधानी बतलाता और कन्याकुब्ज (? कान्यकुब्ज) और गाधिपुर नामों का उल्लेख करता है, जो महोदय के पर्याय हैं †।

इस पर टिप्पणी करते हुए उन्होंने लिखा है—"राजशेखर की राजधानी महोदय के लिये हमें उसके राज्य को टटोलने को अन्यत्र (अर्थात्) उत्तरी भारत में जाने की आवश्यकता नहीं है। महोदय तिरुवंजैक्कळम् अर्थात् कोडुंगोल्लर (वर्तमान क्रांगनौर) का प्राचीन नाम है, जैसा कि मध्ययुगीन तामिळ साहित्य और बहुत से शिलालेखादि में मिलता है। राजशेखर कन्याकुब्ज और गाधिपुर को उत्तरी भारत के महोदय नगर के पर्याय बतलाता है जो ठीक है; क्योंकि जो स्थान उत्तर (उत्तरी भारत) के महोदय नगर से अधिक महत्त्व के हैं ‡, उनमें अपने नायक राम का दक्षिण की यात्रा को जाते हुए पहुँचना स्वाभाविक है +"।

---

* प्रसिद्ध पुरातत्ववेत्ता स्टीन कॉनो ने तेरह हस्तलिखित प्रतियों के आधार पर कर्पूरमंजरी का संस्करण प्रकाशित किया, जिसमें तीन हस्तलिखित प्रतियाँ तमोर से प्राप्त की गई थीं। परंतु उनमें से एक में भी 'चाहुआण' (चौहान) के स्थान पर चेरमान पाठ नहीं था। यह गोपीनाथराव की हठधर्मी ही है।

† ट्रावनकोर आर्कियालॉजिकल सीरीज, जि०२, पृ० १०।

‡ राजशेखर के कन्याकुब्ज (? कान्यकुब्ज) और गाधिपुर दोनों महोदय (कन्नौज) के ही पर्य्याय हैं, न कि महोदय से भिन्न तथा अधिक महत्त्व के नगर थे, जैसा कि गोपीनाथराव ने माना है।

+ ट्रावनकोर आर्कियालॉजिकल सीरीज, जि० २, पृ० ११।

उक्त महाशय का यह कथन तो बिलकुल ही निर्मूल है और कवि राजशेखर को केरल का राजा राजशेखर ठहराने की हठधर्मी से ही लिखा गया है, जिसमें इतिहास का गला घोटने में भी कुछ कमी नहीं की गई। कवि राजशेखर अपने ग्रंथों में कहीं भी अपने को महोदय (कन्नौज) का राजा नहीं कहता और न महोदय को अपनी राजधानी बतलाता है। वह तो अपने तई महोदय (कन्नौज) के राजा महेंद्रपाल का, जिसका उपनाम निर्भयनरेंद्र था, गुरु या उपाध्याय कहता है *। महेंद्रपाल कन्नौज के रघुवंशी प्रतिहार (पड़िहार) सम्राट् भोजदेव (आदिवराह) का पुत्र था †। महेंद्रपाल के पीछे कन्नौज के राज-सिंहासन पर उसका पुत्र महीपाल (क्षितिपाल) बैठा ‡, जिसके समय में भी कवि राजशेखर महोदय में रहा था; और उसके रचे हुए बालभारत नाटक का अभिनय महीपाल के दरबार में हुआ था। इतना ही नहीं, किंतु वह उक्त नाटक में महीपाल को रघुवंशी, आर्यावर्त का महाराजाधिराज तथा मुरल के राजा का सिर नीचा करानेवाला, मेकल के राजा के लिये दुःखज्वर, युद्ध में कलिंग के राजा को रोकनेवाला, केरल के राजा के आनंद का नाश करनेवाला, कुलूतवालों को जीतनेवाला, कुंतलवालों के लिये कुठार रूप और हठात् रमठ के राजा की राजलक्ष्मी

---

* पारिपार्श्विकः । अथ ईं । सट्टअं णच्चिदव्वं

स्थापकः । को उण तस्स कई ।

पारिपार्श्विकः ।

ता व कहिज्जउ एसो को भणइ रअणिवल्लहसिहण्डो ।

रहुउलचूडामणिणो महिन्दपालस्स को अ गुरू ॥५॥

स्थापकः । (विहस्य) अद पच्छोच्चर्इ तु एदं (प्रकाशम्) राअसेहरो ।...

बालकई कइराओ णिब्भअराअस्स तह उवज्झाओ ... सो अस्स कई सिरिराअसेहरो...।...

कर्पूरमंजरी, प्रस्तावना

† मेरे राजपूताने के इतिहास का पहला खंड, पृ० १६४–६५.

‡ वही, पृ० १६६.

था हुई। महाराष्ट्र के राष्ट्रकूट (राठौड़) वंशी राजा कृष्णराज (प्रथम) का विरुद अकालवर्ष मिल जाने से अकालजलद को तो महाराष्ट्र का राठौड़ राजा अकालवर्ष (कृष्णराज) और सुरानंद को चेदि देश का कलचुरि (हैहय) वंशी रणविग्रह (शंकरगण) अनुमान कर अपने चित्त को शांत करना पड़ा। परंतु उनका यह कथन भी सर्वथा कल्पित एवं अरण्यरुदन के समान है; क्योंकि राजशेखर ने बालरामायण में अपने कुल का परिचय देते हुए अकालजलद, सुरानंद, तरल और कविराज को अपना पूर्व पुरुष बतलाया है * और उनको कवि तथा यायावर कहा है, न कि कहीं का राजा। अकालजलद को महाराष्ट्र चूड़ामणि कहा है जिसका अर्थ महाराष्ट्र देश का राजा नहीं, किंतु वहाँ के विद्वानों या कवियों का शिरोमणि है। इससे यह भी अनुमान हो सकता है कि शायद वह महाराष्ट्र का निवासी हो। जल्हण पंडित ने अपनी सूक्तिमुक्तावलि में अकालजलद के संबंध का एक श्लोक राजशेखर का कहकर उद्धृत किया है, जिसका आशय यह है—"कवि-चकोर अकालजलद की वचन-चन्द्रिका का नित्य पान करते हैं, तो भी उसमें न्यूनता नहीं आती †"। यह तो उसकी उत्तम कविता की प्रशंसा ही है। वह उत्तम कवि था न कि राठौड़ राजा।

अकालजलद और अकालवर्ष नामों में कुछ सादृश्य तो अवश्य है, परंतु सुरानंद और रणविग्रह नामों में सादृश्य का सर्वथा अभाव होने पर भी गोपीनाथ राव ने सुरानंद को चेदि का कलचुरिवंशी राजा रणविग्रह कैसे ठहरा लिया, यह बतलाना भी आवश्यक है। जल्हण पंडित ने सूक्तिमुक्तावलि में सुरानंद की प्रशंसा में राजशेखर का एक

---

* देखो ऊपर १९४ टिप्पणी †।

† अकालजलदेन्दोः सा हृद्या वचनचन्द्रिका।
नित्यं कविचकोरैर्या पीयते न च हीयते॥
सूक्तिमुक्तावलि।

श्लोक उद्धृत किया है, जिसका अभिप्राय यह है—"नदियों में नर्मदा, राजाओं में रणविग्रह और कवियों में सुरानंद ये तीनों चेदि मंडल (देश) के भूषण हैं" ॐ। उक्त श्लोक से ही सुरानंद का चेदि देश से संबंध पाया जाता है; परंतु उसमें तो उस (सुरानंद) को उत्तम कवि एवं वहाँ के राजा रणविग्रह से भिन्न पुरुष कहा है। परंतु गोपीनाथ राव ने रणविग्रह और सुरानंद के नाम पास पास आए हुए देखकर सुरानंद को चेदी का राजा रणविग्रह मान लिया; क्योंकि उनको तो सुरानंद को भी कहीं न कहीं का राजा ठहराना ही था। खेद की बात तो यह है कि इस प्रकार व्यर्थ ही बहुत कुछ हाथ पैर मारने पर भी वे तरल और कविराज को कहीं के राजा न बना सके और इसी से उनके नामों का उन्होंने उल्लेख तक न किया।

गोपीनाथ राव का कवि राजशेखर की जाति के संबंध का ऊपर लिखा हुआ सारा कथन प्रमाणशून्य, निस्सार और दुराग्रहपूर्ण होने से किसी प्रकार आदरणीय नहीं है; क्योंकि न तो कवि राजशेखर चाहमान (चौहान) वंश का था, न चाहमान पाठ चेरमान के स्थान में भ्रम से लिखा जाना मानने के लिये कोई कारण है, न राजशेखर महोदय या केरल का राजा था, न उसने महोदय नाम का प्रयोग केरल के क्रॉगनोर नगर के लिये किया है, न उसका प्रपितामह राठौड़ वंश का राजा अकालवर्ष था और न सुरानंद, चेदि का कलचुरिवंशी राजा रणविग्रह था। कवि राजशेखर कहीं का राजा नहीं, किंतु महोदय (कन्नौज) के प्रतिहार सम्राट् महेंद्रपाल का गुरु (उपाध्याय) और यायावर कुल का ब्राह्मण ही था।

ॐ नदीनां मेकलसुता नृपाणां रणविग्रहः।
कवीनां च सुरानन्दश्चेदिमण्डलमण्डनम् ॥

सूक्तिमुक्तावलि।

को छीननेवाला बतलाता है * । वास्तव में महीपाल आर्यावर्त का महाराजाधिराज और प्रबल राजा था, जिसके अधीन राजपूताना, गुजरात, काठियावाड़, मध्यभारत एवं सतलज से लेकर बिहार तक का प्रदेश था। यदि गोपीनाथराव के कथनानुसार कवि राजशेखर केरल का राजा था, तो यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि कन्नौज के राजा महेंद्रपाल और महीपाल के यहाँ क्या वह नौकरी करने गया था? यदि राजशेखर केरल का राजा होता, तो कन्नौज के राजा महीपाल को वह "केरल के राजा के आनंद का नाश करनेवाला कहे" यह कैसे संभव हो सकता है। वास्तव में हमारे कवि राजशेखर का उक्त नाम के केरल के राजा से कुछ भी संबंध न था।

गोपीनाथ राव ने कन्नौज के राजा महेंद्रपाल का, जिसका राजशेखर गुरु या उपाध्याय था, कुछ भी परिचय नहीं दिया। ऐसे ही उस (महेंद्रपाल) के पुत्र महिपाल के विषय में भी मौन धारण किया; जिसका कारण यही है कि यदि वे इन दोनों राजाओं को महोदय के राजा या आर्यावर्त के महाराजाधिराज कह देते, जैसा कि कवि राजशेखर ने अपने नाटकों में लिखा है, तो फिर राजशेखर को महोदय का राजा कहने की कोई गुंजाइश हो उनके लियेन रहती।

इसी तरह उक्त महाशय का महोदय को कन्नौज न मानकर केरल का क्रॉगनोर नगर मानना भी किसी प्रकार ठीक नहीं हो सकता; क्योंकि

* कथमेते महोदयमहानगरलीलावतंसा विद्वांसः सामाजिकाः। तदेवं विज्ञापयामि। (कर्णाकर्णिकया)⋯⋯

नमितमुरलमौलिः पाकलो मेकलानां
रणकलितकलिङ्गः केलितट् केरलेन्दोः।
अजनि जितकुलूतः कुन्तलानां कुठारो
हठहृतरमठश्रीः श्रीमहीपालदेवः ॥७॥

तेन च रघुवंशमुक्तामणिना आर्यावर्तमहाराजाधिराजेन श्रीनिर्भयनरेन्द्रनन्दनेनाधिकृताः सभासदः⋯⋯⋯

बालभारत की प्रस्तावना।

राजशेखर बालरामायण में उक्त नगर का गंगा के तट पर होना बतलाता है, इतना ही नहीं किन्तु सीता को महोदय नगर बतलाने के प्रसंग में उसी नगर को गाधिपुर और कान्यकुब्ज भी कहा है और कान्यकुब्ज के साथ फिर गंगा नदी का उल्लेख किया है *। यदि गोपीनाथ राव राजशेखर के नाटकों को ठीक ठीक पढ़ते, तो उनको अपना दुराग्रह स्वयं प्रतीत हो जाता।

(४) राजशेखर अपने प्रपितामह अकालजलद को महाराष्ट्र-चूड़ामणि और अपने एक पूर्वपुरुष सुरानंद को चेदिमंडल का बतलाता है †।

इस पर अधिक विवेचन करते हुए उन्होंने लिखा है—"भिन्न वंशों के इन दो राजाओं को राजशेखर ने अपना पूर्वज बतलाया है, जो असंगत प्रतीत होता है; और इसका समाधान तभी हो सकता है जब कि हम उनको उसके ननिहाल पक्ष के पूर्वपुरुष मानें ‡।" राजशेखर को तो उन्होंने केरल का राजा मान ही लिया था; इसलिये उसके पूर्वपुरुषों को भी राजा बतलाने की उनको आवश्यकता हुई। परंतु केरल के राजाओं में अकालजलद, सुरानंद आदि के नाम न मिलने से राजशेखर के बतलाए हुए उसके पूर्वपुरुषों के नामों को असंगत कहना पड़ा और उनको भी कहीं न कहीं के राजा बतलाने की आवश्यक-

---

* इदं पुनस्तोऽपि मन्दाकिनीपरिक्षिप्तं महोदयं नाम नगरं दृश्यते।

राघव सुधासवसुधामहित द्विषदुभि-
र्नो गाहितं भवति गाधिपुरं पुरस्तात्।
वैदेहि देहि शफरीमदृशं दृशं त-
दस्मिन्पतम्बिनि नितम्बवदम्बुसिन्धौ॥

इदं द्वयं सर्वमहापवित्रं परस्परालंकरणैकहेतुः।
पुरं च हे जानकि कान्यकुब्जं सरिच्च गौरीपतिमौलिमाला॥

बालरामायण, १०।८८-८६।

† ट्रावनकोर आर्कियालॉजिकल् सीरीज, जि० २, पृ० ११.

‡ वही, ० ११.

(११) प्रतिमा परिचय

[लेखक—पं० शिवदत्तशर्मा, अजमेर।]

[पत्रिका भाग ५, अंक ४, पृष्ठ ४९१ के आगे]

(२) दिक्पाल और ब्रह्मा की प्रतिमाएँ

दिक्पालों की मूर्त्तियाँ—

विश्व की आठों दिशाएँ आठ दिक्पालों से संरक्षित हैं, ऐसी प्रसिद्धि है। पूर्व का इंद्र, आग्नेय का अग्नि, दक्षिण का यम, नैर्ऋत्य का निर्ऋति, पश्चिम का वरुण, वायव्य का वायु, उत्तर का कुबेर और ईशान का ईशान दिक्पाल माना जाता है। इन दिक्पालों की प्रतिमाएँ देव-मंदिरों में बनाई जाती हैं; अतः इस प्रसंग में इनकी प्रतिमाओं का भी संक्षिप्त वर्णन लिखते हैं। ये मूर्त्तियाँ कहीं तो मुख्य मंदिर के सामनेवाले मंडप की छत के नीचे आठों कोनों में और कहीं मंदिर के बाहरी पृष्ठ भागों में बनाई जाती हैं। कीर्ति-स्तंभों के बाहरी पृष्ठों में भी ये मूर्त्तियाँ देखने में आती हैं।

यों तो ये दिक्पालों के आठों नाम वैदिक साहित्य में सुप्रसिद्ध हैं और इनका वर्णन ब्रह्मा, विष्णु, महेश की त्रिमूर्त्ति से कहीं विस्तृत और प्राचीन मिलता है, परंतु इनमें भी इंद्र अधिक प्रशंसित हैं। इंद्र के पैंतीस नाम अमरकोश में गिनाए हैं—मरुत्वान् (देवताओं का पालन करनेवाला), मघवान् (बड़ी समृद्धिवाला), बिडौजा (जिसका तेज फैला हुआ हो), पाकशासन (पाक नामक दैत्य पर हुक्म चलानेवाला), वृद्धश्रवा (जिसका यश बूढ़ों में हो), शुनासीर (वायु और सूर्य वाला), पुरुहूत (यज्ञ में अधिक आह्वान किया जानेवाला), पुरंदर (शत्रु के नगर को नष्ट करनेवाला), जिष्णु (जीतनेवाला), लेखर्षभ (देवताओं में श्रेष्ठ), शक्र (दैत्यों

का नाश करने में समर्थ), शतमन्यु (जिसके सैकड़ों यज्ञ हों; अथवा शते दैत्येषु मन्युः क्रोधो यस्य—दैत्यों पर क्रोध करनेवाला), दिवस्पति (स्वर्ग का स्वामी), सुत्रामा या सूत्रामा(भली भाँति बचानेवाला),गोत्रभित् (पर्वतों को फाड़नेवाला), वज्री (वज्रवाला), वासव (वसु अर्थात् धनवाला), वृत्रहा (वृत्रासुर को मारनेवाला), वृषा (वृष्टि करनेवाला), वास्तोष्पति (भूमि का पति), सुरपति (देवताओं का स्वामी), बलाराति (बल नामी दैत्य का शत्रु), शचीपति (शची = इंद्राणी का पति), जंभभेदी (जंभ नामक दैत्य को फाड़नेवाला); हरिहय (जिसका घोड़ा हरे रङ्ग का हो), स्वराट् (आप ही आप प्रकाशित), नमुचिसूदन (नमुचि दैत्य का नाश करनेवाला); संक्रंदन (दैत्यों को अच्छी तरह रुलानेवाला), दुश्च्यवन (जो मुश्किल से गिरे; अथवा जिस पर च्यवन मुनि क्रुद्ध हों), तुराषाट् (वेगवालों को दबानेवाला), मेघवाहन (बादल पर सवारी करनेवाला), आखंडल (पर्वतों को फाड़नेवाला), सहस्राक्ष (हजार नेत्रवाला), ऋभुक्ष (देवता जिसके आश्रय में बसते हों) और इंद्र ।

यद्यपि इंद्र के संबंध की अनेक कथाएँ, जिनका संकेत ऊपर लिखे हुए नामों में मिलता है, आजकल प्रचलित नहीं हैं, पर फिर भी इंद्र कोई स्मृति-लुप्त देवता नहीं है । हम अब भी इन्द्र-सभाएँ आँखों से देखते हैं, इंद्र-जाल से चकित होते हैं, इन्द्र-धनुष को आँखें फाड़कर देखते, दिखाते और प्रमुदित होते हैं, कवीन्द्र, करींद्र, धर्मेंद्रादि प्रयोगों में इंद्र का गौरव अद्यावधि सुप्रतिष्ठित पाते हैं और इन्द्र का शब्द सुनकर पुलकित होते हैं ।

एक इंद्र ही ऐसा देवता है, जिसने सौ यज्ञ किए हैं । यदि अन्य किसी ने वैसा करने की चेष्टा की, तो इंद्र ने तत्काल उसके काम में बाधा डालने का प्रयत्न किया । इंद्र ने अनेक युद्ध किए और असुरों को पराजित किया, ऐसा माना जाता है ।

इंद्र की स्त्री का नाम पुलोमजा (पौलोमी) शची, उसकी नगरी का नाम अमरावती, घोड़े का नाम उच्चैःश्रवा, हाथी का नाम ऐरावत, सूत (सारथी) का नामा मातलि, बगीचे का नाम नंदन वन, निवास स्थान एवं ध्वजा का नाम वैजयंत और पुत्र का नाम जयंत है। अर्जुन को भी इंद्र का पुत्र कहा गया है।

वैदिक साहित्य में "इंद्र" शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। उसका अर्थ देवताओं का स्वामी, परमेश्वर, बारह सूर्य्यों में से एक, ज्येष्ठा नक्षत्र, आत्मा इत्यादि है। इंद्र १४ की संख्या का सूचक भी है।

इंद्र के संबंध की अनेक कथाएँ वैदिक साहित्य के सूक्ष्म रूपकों का परिवर्धित स्वरूप हैं। उदाहरण के लिये देखिए, पुराणों की एक सुप्रसिद्ध कथा है कि एक बार इन्द्र ने गौतम की स्त्री अहल्या के साथ जार-कर्म किया। यह देखकर ऋषि ने इंद्र को शाप दिया कि तू सहस्र भगवाला हो जा; और अहल्या से कहा-तू पाषाण रूप हो जा। जब ये गिड़गिड़ाए, तब गौतम ने इन्द्र के सहस्र भग के स्थान में सहस्र नेत्र कर दिए; और अहल्या से कह दिया कि जब विष्णु भगवान राम के रूप में अवतार लेकर तेरे पाषाणमय शरीर को अपने चरण से स्पर्श करेंगे, तब तेरा यह शाप मिट जायगा। इस कथा की मूल उत्पत्ति शतपथ ब्राह्मण (कांड ३, प्र० ३, अ० ३। ब्रा० १। कं० १८) में मिलती है। निरुक्त से सहायता लेकर विद्वानों ने इस रूपकालंकार को विशद करते हुए बतलाया है कि इन्द्र से सूर्य्य, अहल्या से रात्रि और गौतम से चंद्रमा का तात्पर्य है। रात्रि और चंद्रमा का पति-पत्नी संबंध है। इस रात्रि का जार सूर्य्य है। रात्रि सूर्य्य रूपी जार को देख चंद्र रूपी पति को छोड़कर जार में संश्लिष्ट हो जाती है। भग किरण का नाम है; और सूर्य्य की सहस्रों किरणें ही उसके सहस्र नेत्र हैं।

कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र के मंत्राधिकार प्रकरण में इंद्र के

सहस्र नेत्रों के विषय में जो एक चमत्कृत बात लिखी है, वह सुनिए। प्रश्न यह है कि मंत्रि-परिषद् कितने पुरुषों की हो। उन्होंने बतलाया है कि मानव तो १२ अमात्यों की, बार्हस्पत्य १६ की और औशनस २० की मंत्रि-परिषद् मानते हैं। परंतु संख्या का कोई नियम नहीं है। उसका निर्णय राज्य की आवश्यकता को देखकर करना चाहिए; क्योंकि (इन्द्रस्य हि मंत्रिपरिषदृषीणां सहस्रम्। तच्चक्षुः। तस्मादिमं द्व्यक्षं सहस्राक्षमाहुः) इन्द्र की मंत्रि-परिषद् सहस्र ऋषियों की है, वे ही उसके नेत्र हैं। इसी लिये वह दो आँखोंवाला होते हुए भी हजार आँखोंवाला कहलाता है।

अंशुमद्भेदागम में इंद्र की प्रतिमा का निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

> श्यामवर्णं द्विहस्तं च रक्तांबरधरं शुभम्।
> किरीटमकुटोपेतं सर्वाभरणभूषितम्॥
> शक्तिर्दक्षिणहस्ते तु वामहस्तेऽङ्कुशं धृतम्।
> विशालोदरग्रीवं च वामे शचीसमन्वितम्॥
> द्विनेत्रं सौम्यवदनं सिंहासनोपरि स्थितम्।
> आसीनं वा प्रकर्तव्यं गजारूढमथापि वा॥

इन्द्र की प्रतिमा का रंग श्याम होना चाहिए। उसके दो ही हाथ बनाने चाहिएँ, दक्षिण हाथ में शक्ति और वाम में अंकुश दिखाना चाहिए। उसको रक्त वस्त्र पहनाने चाहिएँ और किरीट, मुकुट तथा सर्व आभरणों से समलंकृत करना चाहिए। इन्द्र की गरदन मोटी और उदर विशाल दिखाना चाहिए। उसके दो नेत्र हों और वदन (मुख) अति सुंदर होना चाहिए। इन्द्र को सिंहासन पर खड़ा हुआ, बैठा हुआ अथवा ऐरावत हाथी पर आरूढ़ दिखाना चाहिए। इन्द्र के बाईं और इन्द्राणी पधरानी चाहिए, जिसका स्वरूप इस प्रकार है—

इंद्राणी वामतस्तस्य लिखेदुत्पलधारिणीम्।
दिव्यशृंगारसंयुक्तामिंद्रवक्त्रावलोकिनीम्॥
चित्रचामरधारिण्यौ स्त्रियौ पार्श्व प्रकल्पयेत्।
सिंहासनस्थमथवा लिखेद् गंधर्व संयुतम्॥

इन्द्राणी की प्रतिमा दिव्य शृंगार से युक्त अपने पति के मुख की ओर देखती हुई, हाथ में उत्पल धारण किए हुए बनानी चाहिए। इन्द्र और इन्द्राणी के दोनों ओर नाना रंग के चामर धारण किए हुए दो गंधर्व स्त्रियाँ भी बनानी चाहिएँ।

विष्णु-धर्मोत्तर में इन्द्र और इंद्राणी का स्वरूप निम्नलिखित श्लोकों में वर्णित है—

चतुर्दन्ते गजे सक्तः श्वेतः कार्यस्सुरेश्वरः।
वामोत्संगगता कार्या तस्य भार्या शची नृप॥
नीलवस्त्रा सुवर्णाभा सर्वाभरणवांरतभा।
तिर्यग्ललाटवस्तताक्ष्यः (स्थाद्तः ?) कर्तव्यश्च विभूषितः॥
शक्रश्चतुर्भुजः कार्यो द्विभुजा च तथा शची।
पद्मांकुशौ च कर्तव्यौ वामदक्षिणहस्तयोः॥
वामं शचीपृष्ठगतं द्वितीयं वज्रसंयुतम्।
वामे शच्याः करे कार्या रम्या संतानमंजरी॥
दक्षिणं पृष्ठविन्यस्तं देवराजस्य कारयेत्।

इंद्र का वर्ण श्वेत होना चाहिए और उसे चार दाँतवाले हाथी पर विराजमान दिखाना चाहिए। उसके बाईं ओर सुवर्ण के सदृश प्रभावाली नील वस्त्रधारिणी, सर्व आभरणों से समलंकृत दो भुजा-वाली उसकी स्त्री "शची" बनानी चाहिए। इंद्र के चार भुजाएँ होती हैं। पहला बायाँ हाथ पद्म धारण किए हुए, दूसरा इंद्राणी के पीछे लगा हुआ और शेष दो दाहिने हाथ अंकुश और वज्र धारण किए हुए दिखाने चाहिएँ। इंद्राणी का भी दाहिना हाथ इंद्र को पीछे से

आलिंगन करता हुआ और बायाँ हाथ सन्तानमंजरी धारण किए हुए बनाना चाहिए।

इंद्राणी को स्वतंत्र देवी मानकर जो प्रतिमा बनाई जाती है, उसका वर्णन हम देवियों की प्रतिमा का परिचय कराते हुए कर आए हैं; वहाँ देख लेना चाहिए।

अग्नि

दूसरा दिक्पाल अग्नि है। यद्यपि अग्नि के भी अनेक नाम मिलते हैं, परंतु वे इन्द्र के नामों के समान विविध आख्यानों से परिपूर्ण नहीं हैं। अग्नि देवताओं का दूत है और वह उन्हें यज्ञ द्वारा भेंट किए हुए पदार्थ पहुँचाता है। इस लोक में वह साधारण आग के रूप में, अंतरिक्ष में विद्युत् के रूप में और द्युलोक में सूर्य के रूप में विराजमान रहता है। उसके सात जिह्वाएँ * हैं और उसकी स्त्री का नाम "स्वाहा" है।

अग्नि की प्रतिमा का विविध ग्रंथों में विविध प्रकार का वर्णन मिलता है। सुप्रभेदागम में अग्नि को रक्त वर्ण और चार भुजाओं-वाला बतलाया है। उसका ऊपर का एक बायाँ हाथ वरद या अभय अवस्था में और दूसरा बाँया और दाहिना हाथ क्रमशः शक्ति और स्रुक धारण किए हुए बनाना चाहिए। अग्नि का मुख तो एक ही बनाना चाहिए; परंतु नेत्र तीन और जटाएँ लाल तथा खड़ी हुई प्रदर्शित करनी चाहिएँ। अग्नि को अजारूढ़ और रक्त-लोचन बनाने का भी विधान है।

अन्यत्र अग्नि का स्वरूप इस प्रकार बताया है—

वह्नेस्स्वरूपं वक्ष्यामि शुद्धकांचनसुप्रभम्।
अर्धचंद्रासनगतं रक्तवस्त्रविराजितम्॥

---

* सप्तार्चिः "काली कराली मनोजवा सुलोहिता सुधूम्रवर्णा स्फुलिंगिनी विश्वरुचाख्याः सप्त वह्नेर्जिह्वा" वस्तुतः ये यज्ञों की अग्नियों की अवस्थाओं के नाम हैं।

लोहितं वा प्रकुर्वीत बालार्कसमतेजसम् ।
युक्तं यज्ञोपवीतेन लम्बकूर्चेन शोभितम् ॥
मेषपृष्ठस्थितं देवं भुजद्वयसमन्वितम् ।
दक्षिणे चाक्षसूत्रं स्यात् करे वामे कमण्डलुः ॥
स्वाहादेवी कृता पार्श्वे कुंकुमेन विलेपिता ।
अरुणैरम्बरैर्भव्या लेख्या मालविभूषिता ॥
कुंडस्थो वा प्रकर्तव्यो हव्यवाहो विचक्षणैः ।
ज्वालाभिस्सप्तशीर्षेण शोभमानो महाद्युतिः ॥

आशय—अग्नि का स्वरूप शुद्ध सुवर्ण के सदृश अथवा उदय होते हुए सूर्य के रक्त वर्ण के सदृश होना चाहिए। उसके वस्त्र भी रक्त होने चाहिएँ और मुख पर लंबी दाढ़ी और शरीर पर यज्ञोपवीत दिखाना चाहिए। उसे मेष पर सवार, दक्षिण हस्त में अक्षमाला और वाम हस्त में कमंडलु धारण किए हुए, कुंकुम लगा हुआ सुंदर रक्त वस्त्र पहने हुए, बगल में स्वाहादेवी से युक्त, अर्धचन्द्रासन पर विराजमान प्रदर्शित करना चाहिए। अग्नि को कुंड में स्थित सात ज्वालाओं से युक्त दिखाने का भी विधान है।

इनके अतिरिक्त विष्णुधर्मोत्तर में कुछ और हेर फेर के साथ अग्नि की प्रतिमा का इस प्रकार वर्णन मिलता है—

रक्तं जटाधरं वह्निं कारयेद्धूम्रवाससम् ।
ज्वालामालाकुलं सौम्यं त्रिनेत्रं श्मश्रुधारिणम् ॥
चतुर्बाहुं चतुर्दंष्ट्रं देवेशं वायुसारथिम् ।
चतुर्भिश्च शुकैर्युक्ते धूमचिह्नरथे स्थितम् ।
वामोत्सङ्गगता स्वाहा शक्रस्येव शची भवेत् ।
रत्नपात्रकरा देवी वह्नेर्दक्षिणहस्तयोः ॥
ज्वालात्रिशूले कर्तव्ये त्वक्षमाल्यं च वामके ।

अग्नि रक्त वर्ण, जटा धारण किए हुए, धूम्र वस्त्रवाला, ज्वाला-रूपी

मालाओं से परिवेष्टित, सौम्य स्वरूप, तीन नेत्र और दाढ़ीवाला बनाना चाहिए। उसके चार दाँत और चार भुजाएँ होनी चाहिएँ। उसका सारथी वायु है और उसके रथ पर, जो चार शुकों से खींचा जाता है, धूएँ का चिह्न होता है। उसकी स्त्री स्वाहा एक वस्त्रधारिणी तथा हाथ में रत्नपात्र लिए हुए प्रदर्शित करनी चाहिए। अग्नि के दक्षिण हस्तों में ज्वाला और त्रिशूल और वाम हस्त में अक्षमाला धारण किए हुए तथा दूसरा वाम हस्त स्वाहा को आलिङ्गन करता हुआ बनाना चाहिए।

पूर्वकारणागम में अग्नि को अर्द्धचंद्रासन पर विराजमान, ब्रह्मा के समान पिङ्गल वर्ण तथा पिङ्गल नेत्रवाला, स्वर्ण के सदृश जटा-वाला, तरुण आदित्य के समान सुशोभित, दक्षिण और वाम हस्त में अक्षमाला और शक्ति धारण किए हुए वर्णन किया है।

यम

ऋग्वेद में यम-यमी सूक्त सुप्रसिद्ध है, जिसमें कथोपकथन शैली से भाई बहिन का विवाह होना अनुचित बतलाया गया है। लौकिक संस्कृत में यम के १४ नाम दिए हैं, यथा—यम, धर्मराज, पितृपति, समवर्ती, परेतराट्, कृतांत, यमुनाभ्राता, शमन, यमराट्, काल, दंडधर, श्राद्धदेव, वैवस्वत् और अंतक। ये विवस्वत् और त्वष्ट्री की कन्या शरण्यू के पुत्र गिने जाते हैं और इनकी एक यमज बहिन यमी थी। यमुना भी इनकी बहिन गिनी जाती है। इनके पास दो ऐसे कुत्ते, जिनके चार चार आँखें हों, रहते हैं।

विष्णु-धर्मोत्तर में यम का निम्नलिखित वर्णन है—

सजलाम्बुदसच्छायस्तप्तचामीकराम्बरः।
महिषस्थश्च कर्तव्यस्सर्वाभरणवान् यमः॥
नीलोत्पलाभां धूमोर्णां वामोत्सङ्गे च कारयेत्।
धूमोर्णा द्विभुजा कार्या यमः कार्यश्चतुर्भुजः॥

दण्डखड्गावुभौ कार्यौ यमदक्षिणहस्तयोः ।
ज्वालात्रिशूलकर्तव्या त्वक्षमाला च वामके ॥
दण्डोपरि मुखं कार्यं ज्वालामालाविभूषणम् ।
धूमोर्णा दक्षिणे हस्तो यमपृष्ठगतो भवेत् ॥
वामे तस्याः करे कार्यं मातुलिङ्गं सुदर्शनम् ।
पार्श्वे तु दक्षिणे तस्य चित्रगुप्तं तु कारयेत् ॥
आपीच्यवेषं स्वाकारं द्विभुजं सौम्यदर्शनम् ।
दक्षिणे लेखनी तस्य वामे पत्रं तु कारयेत् ॥
वामे पाशधरः कार्यः कालो विकटदर्शनः ।

यम का वर्ण जलवाले मेघ के सदृश काला होना चाहिए। उसके वस्त्र तपे हुए सुवर्ण के सदृश पीले हों और सब आभरणों से समलंकृत कर उसे भैंसे पर आरूढ़ प्रदर्शित करना चाहिए। उसकी गोद में बाईं ओर नीलोत्पल के समान प्रभावाली उसकी स्त्री धूमोर्णा दिखानी चाहिए, जिसके बाएँ हाथ में बिजौरा हो और दायाँ हाथ यम को आलिङ्गन करता हुआ हो। यम के चार भुजाएँ होती हैं जिनमें दोनों दक्षिण हस्तों में दंड और खड्ग तथा बाएँ हाथों में क्रमशः ज्वलन्त त्रिशूल और अक्षमाला होती है। यम के दक्षिण पार्श्व में आपीच्य (पश्चिमी) वेषधारी, द्विभुज, सौम्यदर्शन, दाएँ हाथ में लेखनी और बाएँ हाथ में पत्र धारण किए हुए "चित्रगुप्त" बनाना चाहिए। यम की बाईं ओर पाश धारण किए हुए भयानक आकृतिवाला "काल" दिखाना चाहिए।

अन्यत्र यम को अग्नि के सदृश नेत्रवाला दंड, पाश, खड्ग और खेटक-धारण किए हुए, बड़े भैंसे पर सवार अथवा सिंहासनासीन, मृत्यु, चित्रगुप्त, करालकिंकर, सुर, असुर, धर्मात्मा और पापियों से घिरा हुआ भी वर्णन किया है।

निर्ऋृति

इस दिक्पाल का नाम आजकल लुप्त सा हो गया है। अंशुमद्भेदागम से इसकी प्रतिमा का निम्नलिखित वर्णन उपलब्ध होता है—

निर्ऋृतिर्नीलवर्णश्चतुर्द्विभुजश्च महातनुः ।
खड्गं दक्षिणहस्तेन वामहस्तेन खेटकम् ॥
पीतवस्त्रधरं रौद्रं करालास्यं च दंष्ट्रिणम् ।
सर्वाभरणसंयुक्तं नानापुष्पैरलङ्कृतम् ॥
दुकूलवसनास्सर्वाः पीनोरुजघनस्तनाः ।
मध्यक्षामातिसौम्याश्च किञ्चित्प्रहसिताननाः ॥
नानागन्धानुलिप्ताङ्गा भद्रपीठोपरिस्थिताः ।
समभङ्गसमायुक्तास्सप्तसङ्ख्याप्सरास्मृताः ॥
अप्सरैश्च समायुक्तो निर्ऋृतिश्च विशेषतः ।

आशय—निर्ऋृति नील वर्ण का, दो भुजाओंवाला और महाकाय होना चाहिए। उसके वस्त्र पीत हों और उसके दाएँ हाथ में खड्ग और बाएँ हाथ में खेटक होना चाहिए। उसका मुख विकराल और बड़ी बड़ी डाढ़ें दिखानी चाहिएँ। उसको सब आभरणों से युक्त तथा नाना पुष्पों से समलंकृत दिखाना चाहिए।

निर्ऋृति के समीप सात अप्सराएँ होनी चाहिएँ, जो रेशमी वस्त्र पहने हुए, मोटी छाती, जाँघ और स्तनवाली, मध्य भाग में दुबली, अति सौम्य, कुछ कुछ मुस्कराती हुई, नाना गन्धों से लिप्त हुए अंगोंवाली भद्रासन पर विराजमान समभंग शैली में हों।

विष्णु-धर्मोत्तर में इस दिक्पाल की चार स्त्रियाँ गिनाई गई हैं—देवी, कृष्णाङ्गी, कृष्णवदना और कृष्णपाशा। इसकी सवारी में गधे का निर्देश किया गया है। सुप्रभेदागम में इसे सिंहारूढ़ और एक अन्य ग्रन्थ में नर-यान समारूढ़ भी कहा है।

वरुण

वरुण को प्रचेता (अच्छे दिलवाला), यादसांपति (जल के जीवों का मालिक), अप्पति (जल का मालिक) और पाशी (फन्देवाला) कहते हैं । इन्द्र और अग्नि के समान वरुण का भी वैदिक साहित्य में अनन्त बार उल्लेख आया है। इसकी प्रतिमा का विधान अंशुमद्भेदागम के अनुसार निम्नलिखित है—

> वरुणश्शुक्लवर्णस्तु द्विभुजः पाशहस्तकः ।
> सर्वाभरणसंयुक्तः करण्डमकुटान्वितः ।।
> पीतवस्त्रधरश्शान्तो महाबलसमन्वितः ।
> यज्ञसूत्रसमायुक्तो मकरस्थानकासनः ।।

वरुण का वर्ण शुक्ल होता है । उसका एक हाथ वरद अवस्था में और दूसरा पाश लिए हुए दिखाना चाहिए । उसे सब आभरणों से युक्त, करंड मुकुट धारण किए हुए, यज्ञोपवीत तथा पीत वस्त्र पहने, शान्त तथा महाबलशाली, मकरासन पर विराजमान प्रदर्शित करना चाहिए ।

विष्णु-धर्मोत्तर में इस दिक्पाल की प्रतिमा का वर्णन अधिक विस्तार से मिलता है । यथा—

> सप्तहंसे रथे कार्यो वरुणो यादसां पतिः ।
> स्निग्धवैदूर्यसंकाशः श्वेताम्बरधरस्तथा ।।
> किंचित्प्रलम्बजठरो मुक्ताहारविभूषितः ।
> सर्वाभरणवान् राजन् ! महादेवश्चतुर्भुजः ।।
> वामभागगतं केतुं मकरं तस्य कारयेत् ।
> छत्रं तु सुसितं मूर्ध्नि भार्या सर्वाङ्गसुन्दरी ।।
> वामोत्सङ्गगता कार्या मध्ये तु द्विभुजा नृप ।
> उत्पलं कारयेद्वामे दक्षिणं देवपृष्ठगम् ।।

पद्मपाशौ करे कार्य्यौ देवदक्षिणहस्तयोः ।
शङ्खं च रत्नपात्रं च वामयोस्तस्य कारयेत् ॥
भागे तु दक्षिणे गङ्गा मकरस्था सचामरा ।
देवी पद्मकरा कार्या चन्द्रगौरी वरानना ॥
वामे तु यमुना कार्या कूर्मसंस्था सचामरा ।
नीलोत्पल करा सौम्या नीलनीरजसन्निभा ॥

सात हंसों से खींचे जानेवाले रथ में वरुण को पधराना चाहिए। उसका वर्ण स्निग्ध वैदूर्य के समान, वस्त्र श्वेत और पेट कुछ लम्बा लटकता हुआ सा होता है। उसको सब आभरणों से और विशेष रूप से मोतियों के कण्ठे से विभूषित करना चाहिए। उसके बाएँ भाग में मकर के चिह्न की पताका और सिर पर श्वेत छत्र पधराना चाहिए। उसकी गोदी में बाईं ओर उसकी सर्वाङ्गसुन्दरी भार्या होनी चाहिए, जिसका बायाँ हाथ नीलोत्पल लिए हुए और दक्षिण हाथ पति का आलिंगन करता हुआ हो। वरुण के दक्षिण हाथों में क्रमशः पद्म और पाश, और वाम में शङ्ख और रत्न पात्र होने चाहिएँ। वरुण के दक्षिण भाग में मकर पर खड़ी हुई, चँवर और पद्म धारण किए हुए, चन्द्र के समान गौर वर्णवाली गङ्गा* और वाम भाग में कूर्म पर खड़ी हुई, चँवर और नीलोत्पल धारण किए हुए, सौम्य नीलोत्पल के समान वर्णवाली यमुना होनी चाहिए।

वरुण समुद्र का स्वामी माना गया है; अतः उसकी प्रतिमा में पद्म, शङ्ख और रत्न, पताका में मकर, और समीप में गंगा-यमुना का उपस्थित रहना इत्यादि प्रतिमानिर्माता की कल्पना का उत्कृष्टता भली भाँति प्रकट करता है।

---

* गंगा की प्रतिमा स्वतंत्र स्वरूप में मकर पर सवार, दाक्षिण हस्तों में शस्त्र और गदा तथा एक वाम में चक्र और दूसरे वाम में कमल लिए हुए होती है।

वायु

वरुण के समान वायु की प्रतिमा में वायु की प्रवणता प्रदर्शित करने का सम्यक् रूप से उद्योग ऐसा किया गया है—

द्विभुजस्तु महावीर्य्यस्ताम्राक्षो धूम्रसन्निभः ।
ध्वजं वै दक्षिणे हस्ते वामहस्ते तु दण्डधृक् ॥
कुञ्चितभ्रूयुतो वायुः श्वेताम्बर विभूषितः ।
नानाभरणसंयुक्तः केशाढ्यः (केशैस्तु) सुविकीर्णकः ॥
सिंहासनोपरिष्टात्तु शीघ्रयात्रोत्सुकः स्थितः ।

आशय—वायु को महावीर्य्यवाला, ताँबे के से लाल नेत्रवाला तथा टेढ़ी भौंहोंवाला बनाना चाहिए। उसके शरीर का रङ्ग धूएँ के समान काला हो। उसके दो भुजाएँ होती हैं, जिनमें दक्षिण में ध्वजा और वाम में दंड होना चाहिए। उसके वस्त्र श्वेत और शरीर पर नाना आभरण होते हैं; परंतु केश घने और बिखरे हुए होते हैं। उसको सिंहासन पर विराजमान करना चाहिए और आकृति ऐसी बनानी चाहिए कि मानों वह शीघ्र चलने को तैयार है।

विष्णुधर्मोत्तर में इसका वर्ण आकाश के समान और वैसे ही वस्त्र तथा चक्र और ध्वजा धारण किए हुए बतलाया है। पूर्व-कारणागम में वायु को मृगारूढ़, वरदहस्त, ध्वजा, पताका और कमण्डलु धारण किए हुए बताया है।

वायु का मुख खुला हुआ होना चाहिए और उसके वाम भाग में उसकी परम सुन्दरी भार्या होनी चाहिए।

कुबेर

कुबेर की उत्पत्ति की कथा रामायण के उत्तर कांड और वराह पुराण में लिखी हुई है। बौद्धों के साहित्य में भी इस देवता का वर्णन

मिलता है। यह यक्षेश्वर और धन का स्वामी माना गया है। अंशुमद्भेदागम में इसकी प्रतिमा का वर्णन इस प्रकार किया है—

धनदस्सर्वयक्षेशस्सर्वाभरणभूषितः।
तप्तकाञ्चनसङ्काशो हस्तद्वयसमन्वितः॥
वरदाभयहस्तश्च गदां वै वामहस्तके।
करण्डमकुटोपेतस्सितवासोत्तरीयकः॥
दक्षभागे शङ्खनिधिर्वामे पद्मनिधिस्तथा।
धनदस्य तु वामे तु देवीं कुर्यात्सलक्षणाम्॥
पद्मपीठोपरिष्टात्तु द्विनेत्रो मेषवाहनः।
रक्ताम्बरधरस्सौम्य-शङ्खपद्मनिधियुतः॥
शङ्खपद्मनिधी द्वौ च भूताकारौ महाबलौ।
आसीनौ पद्मपीठे तु पद्महस्तौ द्विजोत्तम॥
करण्डमकुटोपेतौ सितवासोत्तरीयकौ।

कुबेर की प्रतिमा सब आभरणों से समलंकृत बनानी चाहिए। उसका वर्ण तपे हुए सुवर्ण के सदृश होता है। उसके दो हाथ बनाने चाहिएँ, एक वरदमुद्रा और दूसरा अभय मुद्रा धारण किए हुए; अथवा वाम हस्त में गदा दिखानी चाहिए। उसके सिर पर करण्ड मुकुट और शरीर पर श्वेत वस्त्र होने चाहिए। उसके दक्षिण भाग में शङ्खनिधि और बाएँ भाग में पद्मनिधि होनी चाहिए। उसके वाम भाग में सुन्दर लक्षणोंवाली देवी बनानी चाहिए। उसके दो नेत्र होते हैं; वह पद्म पीठ पर विराजमान रहता है और उसका वाहन मेष है। उपर्युक्त शङ्खनिधि और पद्मनिधि भूतों के आकार के समान महाबलशाली, पद्मपीठ पर विराजमान, हाथों में कमल लिए हुए, रक्त वस्त्र पहने, और सिर पर करण्ड मुकुट धारण किए हुए होनी चाहिए।

सुप्रभेदागम में धनद को श्याम रूप, भयावह आकृतिवाला, रक्ताक्ष और रक्त हस्त बतलाया है। अन्यत्र इसका रथ मनुष्यों से

खींच जानेवाला और इसका महोदर महाबाहु तथा इसके आठ निधियों से युक्त गुह्यकों से घिरे रहने का भी वर्णन मिलता है।

विष्णुधर्मोत्तर के अनुसार इसके दाढ़ी-मूछ तथा वामोत्सङ्ग में वृद्धि देवी होनी चाहिए। इस ग्रन्थ के अनुसार इसका वाम नेत्र पिंगल वर्ण का, इसके दो बड़ी दाढ़ें और शरीर पर कवच होना चाहिए। इसके चार भुजाएँ हों; दो गदा और शक्ति धारण किए, एक विभवा का और दूसरी वृद्धिदेवी का अलिंगन करती हुई हो। इन देवियों के एक एक हाथ में रत्नपात्र और दूसरा कुवेर को अलिंगन करता हुआ दिखाना चाहिए।

रूपमण्डन के अनुसार कुवेर की सवारी हाथी हो और उसके चार हाथों में गदा, निधि (थैली), बीजपूर और कमंडलु होना चाहिए।

ईशान

सात दिक्पालों की प्रतिमाओं का वर्णन हो चुका। अब आठवाँ और अंतिम दिक्पाल ईशान है, जिसकी प्रतिमा के वर्णन से यह प्रतीत होगा कि "ईशान" शिव ही का वर्णन मात्र है।

> ईशानं संप्रवक्ष्यामि शारदेन्दुसमप्रभम्।
> शुभ्रं वृषभमारूढं बालेन्दुकृतशेखरम्॥
> जटामण्डलभूषाढ्यं लोचनत्रयभूषितम्।
> त्रिशूलपाणिं वरदं व्याघ्रचर्माम्बरावृतम्॥
> मणिकुण्डलभूषाढ्यं नागयज्ञोपवीतिनम्।
> लिखेदेवंविधं देवं चित्रकं चित्रकोविदः॥

ईशान शरद् ऋतु के चंद्रमा के समान प्रभावाला, श्वेत, मनोहर, बैल पर सवार, सिर पर नवीन चन्द्र को धारण किए हुए, जटा, मुकुट, कुंडलादि आभरणों से युक्त, तीन नेत्रोंवाला, सर्प का यज्ञोपवीत पहने,

व्याघ्र-चर्मधारी, एक हाथ में त्रिशूल और दूसरा हाथ वरद अवस्था में रखे हुए होना चाहिए।

ईशान के एक हाथ में शूल, दूसरे में कपाल तथा पद्मासनस्थ होने का भी वर्णन मिलता है। यदि ईशान की प्रतिमा चतुर्भुज हो, तो दो हाथ वरद और अभय अवस्था में और दो वीणा बजाते हुए प्रदर्शित किए जाते हैं।

ब्रह्मा की प्रतिमा

ब्रह्माजी महाराज देवताओं में बड़े बूढ़े गिने जाते हैं। तेतीस कोटि देवताओं में जो मुख्य तीन देवता हैं, उनमें इनका नामोच्चारण विष्णु और महेश के पहले आजतक बराबर लिया जाता है। परंतु फिर भी लोगों में ऐसा अपवाद फैल गया है कि, कलियुग में ब्रह्माजी की पूजा ही नहीं होती और इनका केवल एक ही मंदिर तीर्थराज पुष्कर में है, जहाँ ये बड़ी कठिनाई से अपनी पूजा प्रचलित कराने में सफल-प्रयत्न हुए थे। वस्तुतः इस अपवाद में विशेष सत्यांश नहीं है; क्योंकि विष्णु अथवा शिव के हर मंदिर (जहाँ मुख्य प्रतिमा विराजती है) की उत्तरी दीवार के निकेतन में ब्रह्मा की मूर्ति अवश्य बनाई जानी चाहिए और प्रतिदिन उसकी यथाविधि पूजा होनी चाहिए, ऐसा नियम है। आधुनिक शिव और विष्णु के मंदिरों में भी ब्रह्माजी की प्रतिमा का होना साधारण बात है। प्राचीन शिव और विष्णु की मूर्तियों में ऊपर के एक कोने पर ब्रह्मा की मूर्ति खुदी हुई होती है। कभी कभी एक ही बड़े शिलापट्ट पर तीनों देवताओं की मूर्तियाँ पास पास बनी मिलती हैं, जो इस बात का प्रमाण हैं कि आदि में ब्रह्मा, विष्णु, महेश एक ही जगद्रचयिता के स्वरूपत्रय गिने जाते थे; इतर भेद कुछ भी नहीं गिना जाता था। इसी प्रकार उपर्युक्त मंदिर के अतिरिक्त राजपूताने आदि में ब्रह्माजी के अन्य कई मंदिर हैं और वहाँ पूजा भी होती है।

हाँ, उनकी संख्या अन्य देवताओं के मन्दिरों से अवश्य अति न्यून है। परंतु इसका कारण ब्रह्मा की पूजा का निषेध नहीं है; क्योंकि यदि कलियुग में उनकी पूजा का निषेध होता, तो प्रतिमा-विधायक ग्रन्थों में, जो बहुत प्राचीन नहीं हैं,—उदाहरणार्थ "रूपमंडन" जो उदयपुर के महाराणा कुंभा के समय में बना था—ब्रह्मा तथा उनके द्वारपाल और परिवार देवताओं को प्रतिमा बनाने की विधि का वर्णन नहीं होना चाहिए था। "कलियुग में ब्रह्माजी की पूजा नहीं होती" इसका इतना ही तात्पर्य है कि जैसे विष्णु और शिव के संप्रदाय रूप में अनुयायी वर्त्तमान काल में विद्यमान हैं, वैसे ब्रह्माजी के नहीं हैं।

अमरकोश में ब्रह्माजी के निम्नलिखित बीस नाम गिनाए हैं—ब्रह्मा, आत्मभू, सुरज्येष्ठ, परमेष्ठी, पितामह, हिरण्यगर्भ, लोकेश, स्वयंभू, चतुरानन, धाता, अब्जयोनि, द्रुहिण, विरिंचि, कमलासन, स्रष्टा, प्रजापति, वेधा, विधाता, विश्वसृट् और विधि।

उक्त ग्रंथ की एक प्रति में निम्नलिखित श्लोक अधिक मिलता है:—

नाभिजन्मांडजः पूर्वो निधनः कमलोद्भवः।
सदानंदो रजोमूर्तिः सत्यको हंसवाहनः॥

ब्रह्माजी के विषय में अनेक पौराणिक गाथाएँ हैं। यथा, वे स्वर्ण के अंडे से उत्पन्न हुए और इसलिये "हिरण्यगर्भ" कहलाए। वे विष्णु के नाभिकमल से उत्पन्न हुए; अत्रि और अनुसूया द्वारा दत्तात्रेय के स्वरूप में उत्पन्न हुए; उन्होंने मत्स्यावतार धारण किया; वराह का स्वरूप धारण कर समुद्र में डूबती पृथ्वी को ऊपर उठाया। उनकी विष्णु से अनबन भी हो गई और शिवजी के ज्योतिर्लिङ्गवाली समस्या में उन्हें लज्जित होना पड़ा। शिव के त्रिपुरासुर युद्ध में वे "सूत" बने और उनके विवाह-महोत्सव में पुरोहित पदवी पर सुशोभित हुए, इत्यादि इत्यादि। इनमें से अनेक कथाएँ वैदिक साहित्य में वर्णन किए

हुए सृष्टि, उत्पत्ति-विषय, वायु, आकाशादि वर्णनों के परिवर्त्तित तथा परिवर्धित स्वरूप हैं और इनका परस्पर संबंध जानने पर बहुत सी ऐसी बातें, जो पहले पहल सृष्टि क्रम के विरुद्ध, बीभत्स और असंभव प्रतीत होती हैं, ठीक समझ में आने लगती हैं। हमारा प्रस्तुत विषय देव प्रतिमाओं का परिचय कराना है; अतः इन कथाओं की समस्याओं में पड़ना हमारे लिए अप्रासंगिक है। यदि हो सका, तो देव-प्रतिमाओं का परिचय कराकर फिर इनके संबंध में यथाशक्ति विवेचन करने की चेष्टा करेंगे।

ब्रह्माजी के आदि में पाँच मुख थे; परंतु ऐसी कथा है कि शिवजी ने उनका एक मुख काट डाला। अब शेष चार मुख चारों दिशाओं के अभिमुख दिखाए जाते हैं। रूपमंडन में लिखा है—

> ऋग्वेदादि प्रभेदेन कृतादियुगभेदतः।
> विप्रादिवर्णभेदेन चतुर्वक्त्रं चतुर्भुजम्॥

ब्रह्माजी के चारों मुख वास्तव में चारों वेदों, चारों युगों और चारों वर्णों के संकेत स्वरूप हैं।

अंशुमद्भदागम में ब्रह्मा का निम्नलिखित वर्णन मिलता है—

> चतुर्भुजश्चतुर्वक्त्रो हरिताल सम प्रभः।
> जटामुकुटसंयुक्तः पिङ्गाक्षस्सर्व भूषणः॥
> कृष्णाजिनोत्तरीयश्च यज्ञसूत्रसमन्वितः।
> शुक्लवस्त्रधरश्शान्तः कटिसूत्र समन्वितः॥
> शुक्लमाल्यानुलेपश्च कर्णकुण्डलमण्डितः।
> दक्षिणे चाक्षमाला च कूर्च्चं चैवतुधारयेत्॥
> कमण्डलुकुशां वामे दक्षिणे स्रुक्स्रुवौ तथा।
> आज्यस्थाली कुशांश्चैव वामहस्ते तु धारयेत्॥
> अभयवरदोपेतौ पूर्वहस्तौ द्विजोत्तम।
> आसने तूभयाङ्घ्रिश्च शाययेत्तु ततः परम्॥

मेढ्रमूलोपरिष्टात्तु वामहस्तोर्ध्वंवकूर्चकम् ।
सव्यहस्तं च तस्योर्ध्वे तदन्यास्यं च कारयेत् ॥
दक्षिणे चाक्षमालां च वामहस्ते कमण्डलुम् ।
सरस्वती दक्षभागे सावित्री वामभागके ॥
आसीनो वा स्थितो वापि पद्मपीठोपरिस्थितः ।

(एकोन-पञ्चाशा पटले)

ब्रह्माजी की प्रतिमा चार भुजाओं और चार मुखवाली बनानी चाहिए। उनका रंग हड़ताल के समान प्रभावाला अर्थात् सुन्दर पीला, और नेत्र लाल और पीले मिले हुए से (नारङ्गी के सदृश) होने चाहिएँ। सिर पर जटा* मुकुट, शरीर पर सब आभरण और यज्ञोपवीत होना चाहिए। ब्रह्माजी को शुक्ल वस्त्र पहनाने चाहिएँ। नीचे एक कटि-सूत्र और ऊपर उपवीत शैली में मृग-चर्म धारण कराना चाहिए। उनके श्वेत चंदन का लेप करना चाहिए और कानों में (सोने के या माणिक्य के) कुंडल पहनाने चाहिएँ। हाथों का स्वरूप निम्न प्रकार से है—

(१) दक्षिण हाथों में क्रमशः अक्षमाला और कूर्च (कुश) और वाम में कुश और कमण्डलु; अथवा

(२) दक्षिण हाथों में क्रमशः स्रुक और स्रुव तथा वाम में आज्य-स्थाली (घृतपात्र) और कुश; अथवा

(३) सामने के दोनों हाथ क्रमशः अभय और वरद अवस्था में, शेष अक्षमाला और कमण्डलु धारण किए हुए; अथवा

(४) सामने के दक्षिण हाथ की हथेली वाम हाथ की हथेली पर रखी हुई और दोनों हाथ आलगती लगे हुए (जैन मूर्तियों

* सुप्रभेदागम में ब्रह्माजी की जटा का रंग लाल बतलाया है।

के समान) पाँवों पर धरे हुए और शेष दोनों हाथ अक्षमाला और कमण्डलु धारण किए हुए; * अथवा

(५) सामने का दक्षिण हाथ वरद अवस्था में, पिछला स्रुव धारण किए हुए, और सामने का बायाँ हाथ कमण्डलु और पिछला स्रुक् धारण किए हुए; अथवा

(६) सामने का दक्षिण हाथ अक्षमाला, पिछला स्रुक और सामने का बायाँ हाथ कमण्डलु और पिछला पुस्तक धारण किए हुए।

ब्रह्माजी के दक्षिण भाग में सरस्वती और वाम भाग में सावित्री होनी चाहिए। ब्रह्माजी की प्रतिमा बैठी हुई, खड़ी हुई अथवा पद्मपीठ पर विराजमान बनाई जाती है। शिल्परत्न में ब्रह्मा की मूर्त्ति हंसारूढ़ और लम्बी लम्बी कुशाओं के आसन पर विराजमान (लम्बकूर्चोपरिस्थितम्) बनाने का भी वर्णन मिलता है। यदि ब्रह्माजी की प्रतिमा बैठी हुई बनावें, तो उसे योगासन में, और यदि खड़ी हुई बनावें, तो उसे पद्म पीठ पर विराजमान बनाना चाहिए।

विष्णु पुराण के अनुसार ब्रह्माजी का वर्णन यों है—

ब्रह्माणं कारयेद्विद्वान् देवं सौम्यं चतुर्मुखम्।
बद्धपद्मासनं तुष्टं तथा कृष्णाजिनाम्बरम्॥
जटाधरं चतुर्बाहुं सप्तहंसरथस्थितम्।
वामे न्यस्तेतर करं तस्यैकं दोर्युगं भवेत॥
एकस्मिन् दक्षिणे पाणावक्षमाला तथा शुभा।
कमण्डलुं द्वितीये च सर्वाभरणधारिणम्॥
सर्वलक्षणयुक्तस्य शान्तिरूपस्य पार्थिव।
पद्मपत्रदलाभाभं ध्यानसंमीलितेक्षणम्॥
अर्चायां कारयेद्देवं चित्रे वा वास्तुकर्मणि।

---

* यह वर्णन विष्णु पुराण के अनुसार है। श्लोक आगे मिलेंगे।

इन श्लोकों में वेही बातें कही हैं, जो हम पहले बता चुके हैं। विशेष यह है कि इस पुराण के अनुसार ब्रह्माजी की प्रतिमा शान्त, ध्यानावस्थित, संमीलित नेत्रोंवाली तथा सात हंसों से खींचे जानेवाले रथ में विराजमान बनानी चाहिए।

शिल्परत्न के अनुसार ब्रह्माजी की प्रतिमा के सामने चार वेद*,

---

* वेदों की प्रतिमाओं की भी कल्पना की गई है। उनका वर्णन इस प्रकार है—

ऋग्वेद की मूर्ति—

ऋग्वेदः श्वेतवर्णः स्याद्द्विभुजो रासभाननः।
अक्षमालांबुपात्रं च पीनः स्वाध्यायनाह्रतः (?)॥

आशय—ऋग्वेद की मूर्ति श्वेतवर्णवाली, द्विभुज, गधे के मुखवाली, अक्षमाला और जलपात्र धारण किए हुए होनी चाहिए।

यजुर्वेद की मूर्ति—

अजास्यः पीतवर्णः स्यात् यजुर्वेदोऽक्ष सूत्रधृक्।
वामे कुलिश पाणिस्तु भूतिदो मंगलप्रदः॥

आशय—यजुर्वेद की मूर्ति बकरे के मुखवाली, पीतवर्ण, अक्षसूत्र धारण किए हुए, बाएँ हाथ में कुलिश (वज्र) और दक्षिण हस्त वरद अवस्था में होना चाहिए।

यजुर्वेद की शिक्षा की मूर्ति की भी कल्पना की गई है, जो इस प्रकार है—

शिक्षा शुभ्राभयकरा ज्ञानमुद्रान्विता शुभा।
अक्षसूत्रा सकुंडीका द्विभुजा दंड पंकजा॥

आशय—शिक्षा की प्रतिमा सौम्य आकृति की, दक्षिण हस्त में कमल और बाएँ में दंड धारण किए हुए होनी चाहिए। उसके शरीर पर अक्षमाला और पास में जलपात्र होना चाहिए।

सामवेद की मूर्ति—

नीलोत्पलदलश्यामः सामवेदो हयाननः।
अक्षमालान्वितो दक्ष (?) वामे कंबुधरः स्मृतः॥

आशय—सामवेद की मूर्ति नील कमल के पत्ते के सदृश श्याम वर्ण की, अश्व के मुखवाली, दाहिने हाथ में अक्षमाला और बाएँ हाथ में शंख धारण किए हुए होनी चाहिए।

पाईं ओर सावित्री, दाहिनी ओर सरस्वती, सामने आज्यस्थाली (घृतपात्र) और चारों ओर अनेक ऋषि (बिभ्राणं चतुरो वेदान् पुरश्चास्य विन्यसेत्। वामे पार्श्वे तु सावित्रीं दक्षिणे तु सरस्वतीम्। आज्यस्थालीं पुरोभागे महर्षींश्च समन्ततः।) बनाने चाहिएँ।

सरस्वती की प्रतिमा का वर्णन हम अपने प्रथम लेख में, जो नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ५ संख्या ४ में छपा है, कर चुके हैं। रूपमण्डन में सावित्री का वर्णन इस प्रकार मिलता है—

अक्षसूत्रं पुस्तकं च धत्ते पद्मं कमण्डलुम्।
चतुर्वक्त्रा तु सावित्री श्रोत्रियाणां गृहे हिता ॥

सावित्री के चार मुख और चार भुजाएँ होनी चाहिएँ। उसके एक हाथ में अक्षमाला, दूसरे में पुस्तक, तीसरे में कमल और चौथे में कमण्डलु होना चाहिए। यह देवी श्रोत्रियों (वेदपाठी ब्राह्मणों) को हितकारी है।

ब्रह्माजी के मन्दिर के ऋषियों तथा परिवार-देवताओं का वर्णन इस प्रकार है—

जटिलाः श्मश्रुलाः शान्ता आसीना ध्यानतत्पराः।
कमण्डल्वक्षसूत्राभ्यां संयुक्ता ऋषयस्स्मृताः ॥
आग्नेय्यां तु गणेशस्स्यान्मातृस्थानं च दक्षिणे।
नैर्ऋत्ये तु सहस्राक्षं वारुण्यां जलशायिनम् ॥

अथर्वण वेद की मूर्ति—

अथर्वणाभिधो वेदो धवलो मर्कटानन।
अक्षसूत्रं च खट्वांगं बिभ्राणो विजयप्रियेः॥

आशय—अथर्वण वेद की मूर्ति श्वेत वर्ण की, बंदर के मुखवाली, अक्षसूत्र और खट्वांग धारण किए हुए बनाना चाहिए।

उदयपुर के राजमहल की तीसरी मंजिल में परम विद्यानुरागी स्वर्गीय महाराणा सज्जनसिंहजी का स्थापित किया हुआ वाणी विलास नामक बृहत् पुस्तकालय है। उसके भवन के ताकों में चारों वेदों की मूर्तियाँ बनी हुई हैं।

वायव्यां पार्वती रुद्रौ ग्रहांश्चैवोत्तरे न्यसेत्।
ऐशान्यां कमलादेवी प्राच्यां तु धरणीधरम् ॥

ऋषि जटा और दाढ़ीवाले, शान्त, ध्यान में तत्पर बैठे हुए बनाने चाहिएँ। ये अक्षमाला पहने हुए हों और उनके समीप ही कमण्डलु रखा हुआ होना चाहिए। आग्नेय (पूर्व और दक्षिण के मध्य की दिशा) में गणेश, दक्षिण में मातृका, नैर्ऋत्य में इन्द्र, पश्चिम में जलशायी, वायव्य कोण में पार्वती और रुद्र, उत्तर में नव ग्रह, ईशान में लक्ष्मी और पूर्व में शेष की प्रतिमाएँ बनानी चाहिएँ ।

जो मंदिर ब्रह्माजी का ही होता है, उसमें ब्रह्माजी के "विश्वकर्मा" स्वरूप की प्रतिमा होती है ।

विश्वकर्मा चतुर्बाहुरक्षमालां च पुस्तकम् ।
कंबां कमण्डलुं धत्ते त्रिनेत्रो हंसवाहनः ॥

रूपमंडन ग्रन्थ के अनुसार विश्वकर्मा चार भुजाओंवाला, अक्षमाला पहने हुए, पुस्तक, कंबा (गज) और कमंडलु धारण किए हुए, त्रिनेत्र और हंसारूढ़ होना चाहिए ।

अब हम ब्रह्माजी के प्रतिहारों (द्वारपालों) का वर्णन करते हैं—

ब्रह्मणोऽष्टौ प्रतीहारान् कथयिष्याम्यनुक्रमात् ।
पुरुषाकारगम्भीराः सकूर्चा मकुटोज्वलाः ॥

पद्मं स्रुक् पुस्तकं दण्डं सत्यो वामेऽथ दक्षिणे ।
सव्यापसव्ये करके शेयं प्रागवरसधर्मकः ॥

अक्षं पद्मागमौ दण्डं करैर्धत्ते प्रियोद्भवः ।
दण्डागमस्रुवफलैर्यज्ञः स्याद्यायुधैः शुभैः ॥

अक्षस्रुग्गदाखेटं दण्डैर्विजयनामकः ।
अधोहस्तापसव्येन खेटकं यज्ञभद्रकः ॥

अक्षः पाशाङ्कुशौ दण्डो भवे स्यात्सार्वकामिकः ।
दण्डांकुशपाशपद्मैर्विभवस्सर्वशान्तिदः ॥

इति ब्रह्मप्रतीहाराः (रूप मण्डने)

ब्रह्माजी के आठ प्रतीहार होते हैं। उनकी आकृति पुरुष जैसी गम्भीर बनानी चाहिए और दाढ़ी भी दिखानी चाहिए। उनके सिर पर उज्ज्वल मुकुट रखना चाहिए। उनके चार हाथ होते हैं, जिनमें निम्न लिखित वस्तुएँ रहनी चाहिएँ।

संख्या	नाम	दाहिने हाथों में वस्तुएँ		बाएँ हाथों में वस्तुएँ	
१	सत्य	पद्म	स्रक्	पुस्तक	दंड
२	सधर्म	पुस्तक	दंड	पद्म	स्रुक्
३	प्रियो भव	अक्षमाला	पद्म	आगम अर्थात् वेद	दंड
४	यज्ञ	दंड	आगम	स्रुक	फलक (ढाल)
५	विजय	अक्षमाला	गदा	खेटक (ढाल)	दंड
६	यज्ञभद्र	,,	,,	+	,,
७	सार्वकामिक	,,	पाश	अंकुश	,,
८	विभव	दंड	अंकुश	पाश	पद्म

समालोचना

भूगोल—सचित्र मासिक पत्रिका, सम्पादक मेरठ निवासी पंडित रामनारायण मिश्र बी० ए; मेरठ से प्रकाशित; वार्षिक मूल्य ३)

एक वर्ष से ऊपर हो गया, जब से यह पत्रिका निकल रही है। इसका विषय इसके नाम ही से प्रकट है। भौगोलिक विषयों पर इसमें लेख रहते हैं। इस विषय की ओर हिन्दी के विद्वानों का ध्यान बहुत कम है; इसलिये ऐसी पत्रिका का आदर होना चाहिए। इसमें कभी कभी संसार के प्रसिद्ध देशों की यात्रा का विवरण ऐसे लोगों की लेखनी से लिखा हुआ छपा करता है, जो स्वयं उन स्थानों में हो आए हैं। इस प्रकार के लेख सर्व साधारण के लिये भी बड़े रोचक होते हैं।

इस वर्ष की गरमी में इस पत्र के यात्रा विभाग द्वारा बरमा, स्याम, मलय द्वीप आदि देशों में थोड़े व्यय से पर्यटन करने का प्रबन्ध किया गया था। इस पर्यटन का विवरण क्रमशः प्रकाशित होना आरम्भ हो गया है। यह कार्य अत्यन्त प्रशंसनीय है। यदि थोड़े से अध्यापक और बड़ी अवस्था के विद्यार्थी अपनी छुट्टियों में भारतवर्ष के भिन्न भिन्न प्रान्तों में और समीपवर्ती टापुओं में भ्रमण करेंगे, तो उनके ज्ञान का क्षितिज विस्तृत हो जायगा और उनमें साहस और सीहष्णुता की वृद्धि होगी।

यह पत्रिका प्रत्येक स्कूल के वाचनालय में आनी चाहिए और अन्य विद्यारसिकों को भी, जिनका स्कूलों से सम्बन्ध नहीं है, इसे मँगाना चाहिए।

रामनारायण मिश्र।
(बी० ए०)

भारत का इतिहास—लेखक राय साहब पं० रघुवरप्रसाद द्विवेदी, बी० ए०, साहित्य-रत्न, प्रिन्सिपल हितकारिणी सभा हाई स्कूल, जबलपुर; प्रकाशक मिश्रबन्धु कार्यालय जबलपुर; मूल्य ३)

इस ग्रंथ में ११७ अध्याय और ६८५ पृष्ठ हैं। द्विवेदीजी ने अपने ४० वर्ष के ऐतिहासिक अनुभव के पश्चात्, जो कि उन्हें अँग्रेजी स्कूल की उच्च श्रेणियों को पढ़ाने में उपलब्ध हुआ है, यह ग्रन्थ लिखा है। आपने प्राक्कथन में कहा है—"मैं दल विशेष से सम्बन्ध नहीं रखता; इसलिए इतिहास का आश्रय ले मैंने किसी विशेष मत का समर्थन नहीं किया है।" इस निष्पक्ष गुण को आप ने बहुत कुछ निबाहने का प्रयत्न किया है। आपने इस ग्रन्थ के लिखने में अँग्रेजी के प्रसिद्ध भारतीय इतिहासकारों का अनुसरण किया है। तिस पर भी इसमें मौलिकता का यथोचित भाव हाथ से नहीं जाने दिया है। ग्रन्थ के प्रारंभिक अंश में पाषाण युग, ताम्र युग लोहयुग, आर्य्य, मंगोलों इत्यादि के आगमन का विवेचन भले प्रकार कर दिया गया है। जगह जगह प्राचीन हिन्दू भारतीय सामाजिक स्थिति, साहित्यिक चर्चा, वेषभूषा, रहन सहन का दिग्दर्शन भी सुचारु रूपेण करा दिया है। अध्याय २१ "बौद्ध काल का सिंहावलोकन" बौद्धकालीन समाज, साहित्य, कला-कौशल, सभ्यतादि के इतिहास पर पूरा प्रकाश डालता है। अन्य इतिहास-लेखकों के स्कूल-पाठ्य ग्रन्थों में यह बात नहीं पाई जाती। बौद्ध काल, राजपूत काल आदि का सिंहावलोकन एक पृथक् अध्याय में कराया गया है। किसी किसी राजवंश के विवरण के अन्त में उसका काल-निरूपण भी दे दिया गया है, जिससे बालकों को सन संवत् इत्यादि समझने में सुगमता होती है। यत्र तत्र नक्शों द्वारा भी समझाने का प्रयत्न किया गया है; पर नक्शों की संख्या बहुत ही कम है। पुस्तक भर में कुल सात ही नक्शे हैं।

अवधविहारी सिंह शर्मा।

आजाद कथा या संक्षिप्त हिन्दी फिसाना आजाद—पहला भाग; रूपांतरकार श्रीयुक्त प्रेमचंद्रजी; प्रकाशक, गंगा-पुस्तक माला कार्य्यालय, लखनऊ; पृष्ठ संख्या ५५०; मूल्य २॥)

भारतीय भाषाओं की आधुनिक कथा-कहानियों और उपन्यासों आदि में उर्दू के सुप्रसिद्ध लेखक श्रीयुक्त पं० रतननाथजी सरशार कृत फिसाना आजाद का स्थान बहुत ऊँचा है। फिसाना आजाद को न तो हम ठीक ठीक अर्थ में उपन्यास ही कह सकते हैं और न कहानी ही; हाँ, वह दोनों के मध्य की चीज अवश्य हो सकती है। इसका ढंग उर्दू की पुरानी कहानियों की अपेक्षा बहुत ही परिष्कृत है; तो भी इसे हम उपन्यासों की कोटि में इसलिये नहीं रख सकते कि इसकी कथा-वस्तु बहुत ही शिथिल है। यह पुस्तक सन् १८८० के लगभग, अर्थात् ऐसे समय में लिखी गई थी, जब कि उर्दू साहित्य में प्रायः किस्से कहानियों की ही भरमार थी; और आधुनिक ढंग के उपन्यासों से लोग बहुत ही कम परिचित थे। परन्तु पं० रतननाथजी बहुत ही उच्च कोटि के लेखक थे, और उनकी भाषा बहुत ही परिमार्जित, चलती हुई और दिल में चुभनेवाली होती थी। साथ ही उनका प्रकृति-निरीक्षण और चित्र-चित्रण भी बहुत ठिकाने का हुआ करता था; इसी लिये वे छोटे बड़े अनेक उपन्यासों तथा कहानियों आदि के सिवा प्रायः ४००० पृष्ठों का फिसाना आजाद लिखने में भी बहुत अच्छी सफलता प्राप्त कर सके थे। आधुनिक भारतीय भाषाओं के आरंभिक उपन्यास-लेखकों में "सरशार" महाशय का भी एक विशिष्ट और उच्च स्थान है।

इस फिसाना आजाद का संक्षिप्त रूपांतर श्रीयुक्त प्रेमचंद्रजी ने किया है, जो हिंदी में उपन्यास और विशेषतः आख्यायिकाएँ लिखने में अच्छी प्रसिद्धि प्राप्त कर चुके हैं। सरशार की चलती हुई उर्दू भाषा हिन्दी में प्रेमचंद्रजी की कलम में से होकर निकली है, यह उपयुक्त ही हुआ है। अब यह पुस्तक पढ़कर हिंदी पढ़े लिखे लोग भी सरशार की

कृति का आनन्द ले सकेंगे और आज से साठ सत्तर वर्ष पहले के लखनऊ का—नवाबी शासन के अवशिष्ट और बिगड़े हुए लखनऊ का—जीता जागता चित्र अपनी आँखों देख सकेंगे। इसमें लखनऊ के रईसों का भोलापन (आप चाहें तो उसे बेवकूफी भी कह सकते हैं), उनके नौकरों, चाकरों और मुसाहबों आदि की ठकुरसुहाती बातें, अक्खड़ों, गुंडों और शोहदों के रंग ढंग और अफीमचियों की गप्पें खूब भरी हुई हैं। बेगमों, लौंडियों और भठियारियों आदि की बोलचाल का भी इसमें पूरा पूरा आनन्द आता है। एक तो पुस्तक यों ही रोचक है, दूसरे उसमें परिहास की मात्रा भी बहुत अधिक है। प्रेमचन्द जी ने मूल पुस्तक की अच्छी अच्छी और चुनी हुई बातें लेकर हिन्दी पाठकों के सामने उपस्थित की हैं, जिसके कारण वे हिन्दी संसार के धन्यवाद के पात्र हैं।

परन्तु हमें बहुत ही दुःख के साथ लिखना पड़ता है कि अब की साधारण भूलों के अतिरिक्त पुस्तक में कुछ ऐसी भूलें भी रह गई हैं, जिनके, हमें अपने आदरणीय मित्र की कलम से, निकलने की कभी आशा नहीं थी। जैसे,—दो जगह "कौड़े करना" को "कूड़े करना" लिखा गया है। "कौड़े करना" एक मुहावरा है, जो कौड़ा (कड़ुआ) शब्द से निकला है और जिसका अर्थ होता है—इच्छा न होने पर भी विवश होकर (धन) व्यय करना। और यह पश्चिम में आम तौर पर बोला जाता है। इसके विपरीत "कूद मग्ज़"को "कोद मग्ज़" लिखा गया है। "गोरी चिट्टी" की जगह "गोरी चट्टी" और "शमला" को "शिमला" आदि प्रयोग भी खटकते हैं। इस प्रकार की भूलें उर्दू लिपि की विलक्षणता और मुहावरों की पर्याप्त जानकारी न होने के कारण हुई हैं। "रस्म" शब्द कहीं पुलिंग है तो कहीं स्त्रीलिंग। उर्दूवाले भले ही "माला" को पुल्लिंग लिखा करें, पर हिन्दी में उसे स्त्रीलिंग ही रखना चाहिए। एक जगह "राजा की बाजार" पढ़कर बहुत हँसी आई।

विहार ऐसे प्रयोगों के लिये क्षम्य हो सकता है; पर लखनऊ, और राजा की बाजार! बोलचाल ही तो है।

जो हो, पुस्तक बहुत मजेदार और मनोरंजक है; और ऐसी अच्छी पुस्तक हिंदी में रूपांतरित करने के लिये हम श्रीयुक्त प्रेमचन्दजी का हृदय से अभिनन्दन करते हैं। रामचंद्र वर्मा।

भारत में रेल-पथ—लेखक श्रीयुक्त रामनिवास पोद्दार; प्रकाशक पं० बाबूराम शर्म्मा, आदर्श प्रेस, आगरा; पृष्ठ संख्या ४२४; मूल्य २॥)

श्रीपोद्दारजी ने रेल के अधिकारी वर्ग की जनता के सुभीते के प्रति उदासीनता और रेल कर्मचारियों के अत्याचारों से दुःखित होकर यह पुस्तक लिखी है। आपने इस पुस्तक को सत्रह प्रकरणों में विभक्त किया है; परंतु कहीं कहीं विभाग ठीक नहीं हुए हैं। इसमें रेल संबंधी आवश्यक बातों का पूर्ण रीति से वर्णन किया गया है। रेल के आविष्कृत होने के समय से आज तक की उन्नति का उल्लेख अच्छा है। रेल से होनेवाली हानियों और लाभ भी भली भाँति दिखाने का प्रयत्न किया गया है। तीसरे दर्जे के यात्रियों के कष्टों का वर्णन मार्मिक रीति से हुआ है और उसमें सुधार होने के भी उपाय बतलाए गए हैं। उच्च पद पर भारतीयों का अभाव दिखलाकर देश के हित तथा आर्थिक दृष्टि से उनकी अच्छी 'वकालत' की गई है। किस प्रकार विदेशी अपनी पूँजी भारत में लगाकर उससे लाभ उठाते हैं और भारतीय अपने धन को अनुचित रीति पर व्यय करके राष्ट्रीय आय की हानि कर रहे हैं, रेल में होनेवाला अपव्यय कैसे कम किया जा सकता है तथा रेलों के लिये विदेशी माल ही क्यों खरीदा जाता है, इत्यादि आवश्यक बातों की व्याख्या बहुत ही उत्तम रीति से की गई है। भारतीय और विदेशी रेलों पर तुलनात्मक विचार बड़ी योग्यता से हुआ है। लेखक ने व्यापार, देश की उपज और दुर्भिक्ष आदि पर रेल के प्रभाव का सुंदर चित्र

कौंचा है। अंत में रेल से होनेवाले दुष्परिणामों का कारण और शिक्षा तथा देशी भाषा के प्रचार से उनकी मात्रा में कमी होना दिखलाया गया है।

प्रूफ-संशोधकों की असावधानी से पुस्तक में बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। कहीं कहीं ऐसे अँग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जिनके लिये भाषा में न तो कोई शब्द ही दिया गया है और न उन्हें कहीं समझाने का ही प्रयास किया गया है। केवल हिंदी जाननेवालों को इससे कुछ स्थानों पर कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा की भारतीय रेल संबंधी पुस्तकों तथा लेखों से पूर्ण लाभ उठाने की चेष्टा की गई है, जिससे कहीं आवश्यकता से अधिक विस्तार और कहीं भावों की बहुलता देख पड़ती है। दुःख है कि शैली की अप्रशस्तता और भाषा के शैथिल्य से पुस्तक नहीं बच सकी। परंतु पोद्दारजी का प्रथम प्रयास होने और ग्रंथ की उपयोगिता तथा उपादेयता का विचार करने पर इसकी त्रुटियाँ विशेष ध्यान देने योग्य नहीं हैं और यह पुस्तक संग्रह करने के योग्य है।

पोद्दारजी ने इस पुस्तक के द्वारा हिंदी के अर्थशास्त्र संबंधी साहित्य के एक अभाव की पूर्ति करने का सफल प्रयत्न किया है। अतएव हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं और उनकी पुस्तक का स्वागत करते हैं।

अयोध्यानाथ शर्मा
(एम० ए०)

(१२) महाकवि भूषण

[लेखक—पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित, काशी ।]

इधर कुछ काल से भूषण के संबंध में बहुत कुछ वादविवाद चल रहा है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका, माधुरी, समालोचक आदि पत्रों में इस विषय पर कई लेख निकल चुके हैं। समालोचक के प्रथम अंक के भूषण-मतिराम शीर्षक लेख का उत्तर नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ६, अंक १ द्वारा दिया जा चुका है। इधर समालोचक के दूसरे और तीसरे अंकों में बहुत कुछ बातें कही गई हैं। तीसरे अंक में समालोचक के सम्पादक महोदय ने खोज संबंधी नए विचार रखने की अपेक्षा तीव्र भाषा में व्यंग्यपूर्ण विचार रखने की ही विशेष कृपा की है। पहले तो हमें सम्पादक महोदय की इस शैली पर आश्चर्य हुआ; परंतु उसी अंक के पढ़ने से वह भ्रम दूर हो गया। आपने "कालरिज-कृत बायोग्रैफिया लिटरेरिया" के आधार पर अशिष्टालोचना के संबंध में जो वाक्य लिखे हैं, वे ये हैं—"यदि समालोच्य पुस्तक में ऐसी सामग्री मौजूद है जिसके आधार पर उक्त पुस्तक का समालोचक ग्रन्थकर्ता पर आक्षेप कर सकता है और उसे व्यंग्य-बाणों का लक्ष्य बना सकता है, तो उसे ऐसा करने का अधिकार है।" इसी पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर सम्पादक महोदय ने ऐसी भाषा का प्रयोग करना उचित समझा है। मैं सम्पादक महोदय को ऐसा करने से रोकना नहीं चाहता; परन्तु मेरे विचार से जिसका पक्ष निर्बल होता है, वही ऐसा करके अपनी विजय-वैजयन्ती फहराना चाहता है। ऐसी दशा में सत्यान्वेषण की भावना न्यून पड़ जाती है और विपक्षी दल को येन केन प्रकारेण धर पटकने ही की इच्छा विदित होने लगती है। समालोचक-सम्पादक की ऐसी ही धारणा जान पड़ती है। केवल इसी लेख से नहीं, और भी कुछ

कीया है। अंत में रेल से होनेवाले दुष्परिणामों का कारण और शिक्षा तथा देशी भाषा के प्रचार से उनकी मात्रा में कमी होना दिखलाया गया है।

प्रूफ-संशोधकों की असावधानी से पुस्तक में बहुत सी अशुद्धियाँ रह गई हैं। कहीं कहीं ऐसे अँग्रेजी शब्दों का भी प्रयोग हुआ है, जिनके लिये भाषा में न तो कोई शब्द ही दिया गया है और न उन्हें कहीं समझाने का ही प्रयास किया गया है। केवल हिंदी जाननेवालों को इससे कुछ स्थानों पर कठिनाई का सामना करना पड़ेगा। अंग्रेजी भाषा की भारतीय रेल संबंधी पुस्तकों तथा लेखों से पूर्ण लाभ उठाने की चेष्टा की गई है, जिससे कहीं आवश्यकता से अधिक विस्तार और कहीं भावों की बहुलता देख पड़ती है। दुःख है कि शैली की अप्रशस्तता और भाषा के शैथिल्य से पुस्तक नहीं बच सकी। परंतु पोद्दारजी का प्रथम प्रयास होने और ग्रंथ की उपयोगिता तथा उपादेयता का विचार करने पर इसकी त्रुटियाँ विशेष ध्यान देने योग्य नहीं हैं और यह पुस्तक संग्रह करने के योग्य है।

पोद्दारजी ने इस पुस्तक के द्वारा हिंदी के अर्थशास्त्र संबंधी साहित्य के एक अभाव की पूर्ति करने का सफल प्रयत्न किया है। अतएव हम उनको हार्दिक धन्यवाद देते हैं और उनकी पुस्तक का स्वागत करते हैं।

अयोध्यानाथ शर्मा
(एम० ए०)

(१३) महाकवि भूषण

[लेखक—पंडित भागीरथप्रसाद दीक्षित, काशी।]

इधर कुछ काल से भूषण के संबंध में बहुत कुछ वादविवाद चल रहा है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका, माधुरी, समालोचक आदि पत्रों में इस विषय पर कई लेख निकल चुके हैं। समालोचक के प्रथम अंक के भूषण-मतिराम शीर्षक लेख का उत्तर नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ६, अंक १ द्वारा दिया जा चुका है। इधर समालोचक के दूसरे और तीसरे अंकों में बहुत कुछ बातें कही गई हैं। तीसरे अंक में समालोचक के सम्पादक महोदय ने खोज संबंधी नए विचार रखने की अपेक्षा तीव्र भाषा में व्यंग्यपूर्ण विचार रखने की ही विशेष कृपा की है। पहले तो हमें सम्पादक महोदय की इस शैली पर आश्चर्य हुआ; परंतु उसी अंक के पढ़ने से वह भ्रम दूर हो गया। आपने "काल-रिज-कृत बायोग्रैफिया लिटरेरिया" के आधार पर अशिष्टालोचना के संबंध में जो वाक्य लिखे हैं, वे ये हैं—"यदि समालोच्य पुस्तक में ऐसी सामग्री मौजूद है जिसके आधार पर उक्त पुस्तक का समालोचक ग्रन्थकर्ता पर आक्षेप कर सकता है और उसे व्यंग्य-वाणों का लक्ष्य बना सकता है, तो उसे ऐसा करने का अधिकार है।" इसी पाश्चात्य प्रणाली के आधार पर सम्पादक महोदय ने ऐसी भाषा का प्रयोग करना उचित समझा है। मैं सम्पादक महोदय को ऐसा करने से रोकना नहीं चाहता; परन्तु मेरे विचार से जिसका पक्ष निर्बल होता है, वही ऐसा करके अपनी विजय-वैजन्ती फहराना चाहता है। ऐसी दशा में सत्यान्वेषण की भावना न्यून पड़ जाती है और विपक्षी दल को येन केन प्रकारेण धर पटकने की इच्छा विदित होने लगती है। समालोचक-सम्पादक की ऐसी ही धारणा जान पड़ती है। केवल इसी लेख से नहीं, और भी कुछ

प्रमाण हैं जिनसे उक्त बात का समर्थन होता है। पाठकगण आगे चल-कर देखेंगे कि मेरे कथन में कहाँ तक सचाई है और सम्पादक महोदय कहाँ तक उत्तर देने में समर्थ हुए हैं।

समालोचक भाग १, अंक ३ के पृष्ठ २२७ में कुछ कवियों का परिचय दिया गया है। जिस नवीन कृत सुधासर के आधार पर याज्ञिक महोदयों ने कई नामवाले कवियों अथवा एक नामवाले भिन्न भिन्न कवियों का वर्णन किया है, उसी में चिन्तामणि नाम के दो कवियों का उल्लेख है—एक तो प्रसिद्ध चिंतामणि थे और दूसरे प्राचीन। इस लेख में चिंतामणि का उल्लेख नहीं किया गया है। ज्ञात नहीं यह भूल सम्पादक द्वारा हुई या लेखक से। मैंने स्वयं वही ग्रन्थ याज्ञिक जी के पास देखा था और उसमें से उक्त बात नोट कर ली थी। चिंतामणि कवि का भूषणवाले लेख से सम्बंध है, अतः इस अवस्था में यह धारणा होना स्वाभाविक है कि विरोधी पक्ष सत्यान्वेषण की अपेक्षा मूल लेखक को हरा देने में ही अधिक प्रयत्नशील है। विरोधी पक्ष में याज्ञिक वर्ग और समालोचक सम्पादक में दो सज्जन ही प्रधान लेखक हैं। अपनी कुछ ऐसी बातों को, जिन्हें वे अब भूल समझते हैं, सम्पादकजी ने मेरे सिर मढ़ने का प्रयत्न किया है। जैसे समालोचक भाग १, अंक १, पृष्ठ ५८ में वे स्वयं लिखते हैं—"चूँकि १८ वीं सदी ईसवी के नियत वर्ष नहीं दिये हैं, इसलिये उसका समय १७५० ईसवी के लगभग मान लेते हैं"। इससे रुद्रशाह का संवत् १७१५ में वर्तमान होना निकलता है। इसी बात को लेकर आप समालोचक भाग १, अंक २, पृष्ठ १३५ में लिखते हैं—"पर व्याख्यानदाता महोदय ने हमारी समय निकालने की प्रणाली को नापसंद किया है और हमको सलाह दी है कि हम प्रति पीढ़ी को २१ वर्ष की मान लें, और इस प्रकार से उनकी इच्छा का अनुगमन करते हुए रुद्रशाह के राजत्वकाल का प्रारम्भ संवत् १७५० के लगभग स्वीकार कर लें"। मैंने नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ६, अंक १, पृष्ठ १०९ में आपकी जो अशुद्धि-

याँ दिखलाई थीं, उनका खंडन न करके अब आपने दूसरी प्रणाली ग्रहण की है। इस प्रणाली में तो आपने प्रथम प्रणाली को भी मात कर दिया है। यह ध्यान रखना चाहिए कि गणित में दो और दो मिलकर सदैव चार ही होते हैं, कभी ३ या ५ नहीं हो सकते। आप कोई प्रणाली लीजिए, गणित सदैव अपने स्थान पर स्थिर रहता है। समालोचक भाग १, अंक २, पृष्ठ १३४–५ पर आपने रंजीतदेव और सरनामसिंह के समय का अंतर ५५४ वर्ष और ४१ पीढ़ी माना है, जिसका औसत १३¹ वर्ष प्रति पीढ़ी आता है। पर इस औसत से आपके अनुकूल संवत् नहीं मिलता था, अतः आपने इस औसत को १७ वर्ष मान लिया है। यथार्थ में औसत वही लेना चाहिए जो गणित से निकले। परन्तु सम्पादकजी ने मान लिया है, तो आइए, उसकी भी पड़ताल कर डालें। आपने रीवाँ गजेटियर के आधार पर सरनामसिंह का समय संवत् १८६७ विक्रमीय माना है और उससे २० पीढ़ी पूर्व रुद्रशाहि के होने से, जैसा कि आप मानते हैं [१८६७–(२० × १७ =)३४० =] १५२७ संवत् वि० में उनका होना पाया जाता है। पर सम्पादक जी अपने गणित में यह समय संवत् १६७० वि० लेते हैं। इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि विरोधी पक्ष के लेखक महोदय ने गणित करने में कितनी टक्करें खाई हैं। जब आपने देखा कि गणित आपका साथ नहीं देता, तब आप कहने लगे कि यह रुद्रशाहि भूषण के आश्रयदाता नहीं थे, जैसा कि आप स्वभावतः कह दिया करते हैं। इस लेख में भी आपको ऐसे कई उदाहरण यथास्थान मिल जायँगे। सम्पादक जी समालोचक भाग १, अंक ३, पृष्ठ १७१ में इसे सड़ा ऊँट बतलाते हैं और इसे बहुत नीचे गाड़ने की अनुमति देते हैं, जिससे "विशुद्ध ऐतिहासिक वायुमंडल दूषित न हो"। आइए पाठकगण, इस सड़े ऊँट की डाक्टरी परीक्षा कर डालें। सम्पादकजी ने एक राजपूत के कथन के आधार से यह सिद्ध करने का प्रयत्न किया है कि बघेले और चँदेले सोलंकियों की शाखा हैं; उनमें विवाह

संबंध नहीं हो सकता; क्योंकि वे एक वंश के हैं। यह कथन युक्ति-युक्त नहीं। राजपूतों में आपके कथन के विरुद्ध बहुत से उदाहरण पाए जाते हैं। हाड़ा, भदौरिया, गुजरू, बछगोती, काढ़रिया ये सब चौहानों की ही शाखा हैं; पर इन सब में विवाह संबंध होते हैं। इसी प्रकार रैकवार, गोहलौत, सेंगर, पलिवार, सिकरवार और गैकवार परिहारों की शाखा हैं। इनमें भी आपस में विवाह संबंध होते हैं। सेंगर और जिनवार एक ही पूर्वज शालिवाहन के वंशज हैं। फिर भी इनमें विवाह संबंध होता है; अतः सम्पादकजी का कथन भ्रममूलक है। मैंने उन राजपूत सज्जन को भी कई उदाहरण बतला दिए थे; पर उनका वे कुछ भी समाधान न कर सके और निरुत्तर हो गए। सम्पादक जी ने हेमवती नाम की क्षत्रिया कन्या से चन्द्र देवता के संयोग द्वारा चंदेल वंश की उत्पत्ति बतलाई है। इसमें हम इतना और जोड़ देते हैं कि वह गहोरा प्रांत की निवासिनी थी, जहाँ सोलंकी राजपूतों का उत्तरी निवासस्थान था। यह गहोरा प्रांत बाँदा जिले में है और वे लोग चित्रकूट-पति कहे जाते हैं। वे लोग सातवीं शताब्दी से ही वहाँ आकर बस गए थे। क्या यह संभव नहीं है कि हेमवती उन्हीं सोलंकियों की कन्या हो और अविवाहिता दशा में पुत्रोत्पन्न होने से ही उसकी संतान भिन्न गोत्री कहलाई हो? चन्द्र शब्द कलंक का भी द्योतक होता है। राजपूतों में और भी कुछ ऐसे उदाहरण मिलते हैं जिनमें गोत्र परिवर्तित हो गए हैं। अतः सम्पादक महोदय की चंदेल और बघेल संबंधी व्याख्या कुछ विशेष महत्व नहीं रखती। यहाँ पर यह भी समझ लेना चाहिए कि भूषण राजा रुद्र-शाहि के आश्रित थे और उनसे उनको बहुत सम्मान प्राप्त हुआ था। ऐसी दशा में भूषण ने चंदेलों को असली सोलंकियों से मिलाने का प्रयत्न किया हो, तो क्या यह संभव नहीं? आधा अंश तो सोलंकियों का ही था। संभव है, दूसरा आधा भाग भी सोलंकियों में से हो। चंदेलों की उत्पत्ति भी बारहवीं शताब्दी के अंत में हुई थी। घटेश्वर से प्राप्त परमर्दिदेव के

मंत्री सलक्षण के शिलालेख से यह स्पष्ट विदित होता है। उसमें लिखा है कि चन्द्र का पुत्र चन्द्रात्रेय, उसका पुत्र मदन वर्मन, उसका यशोवर्मन, उसका पुत्र परमार्दिदेव (परमाल) था। इनमें से पहली पीढ़ी कल्पित है। अतः निश्चित है कि तेरहवीं शताब्दी के प्रारम्भ में मदन वर्मन ने अज्ञात कुल में उत्पन्न होकर अपनी भुजाओं के बल से उसी प्रांत में अपना राज्य स्थापित कर लिया था, जहाँ कि वह उत्पन्न हुआ था। उसने चेदि को अपनी राजधानी बनाया। यह लेख * सं० १२५२ में खुदाया गया था। सम्पादक जी ने एक आक्षेप यह भी किया है कि रुद्रशाहि के पिता का नाम रीवाँ गजेटियर में हरिहर शाह दिया है; और भूषण ने हृदयशाह (हृदयराम) माना है। अतः ये रुद्रशाहि भिन्न हैं। जीतनसिंह कृत रीवाँ राज्यदर्पण के पृष्ठ ३३४ में लिखा है—"रंजीतदेव की बीसवीं पीढ़ी में हरिहरशाह नामक अंगोरी का राजा हुआ और रुद्रशाह नाम का उसका छोटा भाई था, जिसको हिस्से में विजौरा इलाका मिला था। उसने अपनी राजधानी गढ़वा ग्राम में स्थापित की थी और उसके दो उत्तराधिकारी भी वहीं रहे। अठारहवीं शताब्दी में राजा मयूरशाह ने, जो परिमाल से २४ वीं पीढ़ी में हुआ था, गढ़वा परित्याग कर अपनी राजधानी सोन और गोपद नदियों के संगम पर "वर्दी" नामक ग्राम में बनवाई।"

इस लेख से गजेटियर की बात का खंडन हो जाता है। हरिहरशाह रुद्रशाहि के पिता नहीं, भाई थे और रंजीतदेव से २१ वीं पीढ़ी में नहीं, बीसवीं पीढ़ी में थे। इस पर विरोधी पक्ष ने हरिहरशाह को लेकर जो झगड़ा खड़ा किया है, वह दूर हो जाता है। वर्दी राज्य से राजाओं की सूची आने पर यह भ्रम और भी दूर हो जायगा। इन प्रमाणों से भली भाँति विदित होता है कि रुद्रशाहि को भूषण का आश्रयदाता

---

* देखो एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ २०७.

मानना युक्तिसगत है। संभव है कि कोई अन्य रुद्रशाहि भूषण के आश्रय-दाता हों; इसका मुझे हठ नहीं। परन्तु इसके लिये विरोधी पक्ष के लेखक को अन्य रुद्रशाहि का उल्लेख करना चाहिए; केवल निषेधात्मक आशा से कार्य नहीं चल सकता।

अब उक्त प्रमाणों से पाठकों को विदित हो गया होगा कि रुद्रशाहि को भूषण का आश्रयदाता मानना सड़ा ऊँट नहीं, बल्कि तेज दौड़ने-वाला बीकानेरी डाक है, जिससे ऐतिहासिक वायु दूषित तो क्या होगी, अपितु सुगंधि फैलने की ही संभावना है। वायु दूषित तो वहाँ होती है, जहाँ सुनी सुनाई अपूर्ण और मिथ्या बातों के आधार पर सिद्धांत बनाए जाते हैं।

खोज से एक और रुद्रराम का पता लगा है, जो सोलंकी जाति के हृदयराम का पुत्र और गहोरा प्रांत का अधिपति था। ये लोग चित्रकूटपति कहे जाते थे। यह रुद्रराम अवधूतसिंह का सम-कालीन था।

रीवाँ राज्यदर्पण के पृष्ठ ४६८ में पवैय्यों की सूची नं ४ में लिखा है—

"नं० ४ परगना गहोरा (बाँदा) के अधिकारी सुरकी राजा हृदय-राम माम संख्या १०४३३ बीस लाख का इलाका जो अब अँगरेजी राज्य में शामिल हो गया है"। उन्हीं हृदयराम का पुत्र रुद्रराम था। रीवाँ राज्य के राजकवियों द्वारा ज्ञात हुआ है कि गहोरा (बाँदा) का अधि-पति हृदयराम का पुत्र रुद्रराम भी राजा अवधूतसिंह का समकालीन था। पंडित अम्बिकाप्रसाद जी भट्ट (राजकवि राज्य रीवाँ) के हम अत्यन्त कृतज्ञ हैं कि उन्होंने राज्य से ज्ञात कर उक्त बात सूचित करने की कृपा की।

इस प्रमाण से भली भाँति विदित होता है कि भूषण इन्हीं हृदय-राम के पुत्र रुद्रराम के आश्रित थे। हमें हर्ष है कि अंत में हम अपने प्रयत्न मे सफल हुए। भूषण के समय-निर्धारण में रुद्रराम के ज्ञात हुए बिना समय-निर्धारण का कार्य निर्विघ्न समाप्त नहीं हो सकता था।

इस पर यह ध्यान आया कि सुरकी को सुलंकी मानने में भी विरोधी पक्ष अवश्य आनाकानी करेगा। अतः भट्ट जी से ज्ञात करने पर उन्होंने बतलाया कि ये सोलंकी ही हैं।

गुजरात में अधिक निवास रहने के कारण ये अपने को सुरकी कहते थे। रीवाँ राज्य के ये करीबी भाई बंधु माने जाते हैं। शंभु कवि ने भी सोलंकी के स्थान में सुरकी शब्द का प्रयोग किया है। यथा—

चौ०-कनउज व्यास कीन्ह जब यज्ञा। प्रकटे चारि नृपति अति अज्ञा॥
चारि भुजा चौहान पँवारा। सुरकी बीर बली परिहारा॥
(वैसवंशावली)

रीवाँ राज्यदर्पण के पृष्ठ ३९ में अग्निवंशी क्षत्रियों के चार वंशों में चौहान, पँवार, परिहार और सोलंकी हैं; अतः निश्चित है कि सुरकी सोलंकी ही हैं।

अब इस संबंध में मेरे विचार से कोई विशेष कथन की आवश्यकता नहीं। यह निश्चित हो गया कि रुद्रराम सोलंकी, जो अवधूतसिंह रीवाँ नरेश के समकालीन थे, भूषण कवि के आश्रयदाता थे।

भगवंतराय खीची

आगे, चलकर सम्पादकजी ने भगवंतराय खीचीके संबंध में विस्तार से वर्णन किया है। समालोचक के दूसरे और तीसरे अंक में आपने कई नई बातें भी इस संबंध में उपस्थित की हैं। कुछ बातें दूसरे अंक की भी स्वयं ही काटकर आपने नवीन प्रबल आधारों के साथ प्रस्तुत करने का कष्ट उठाया है। आइए, इन प्रबल युक्तियों पर विचार करके देखें कि सम्पादक महोदय कहाँ तक सफलप्रयत्न हुए हैं। आपके शब्द समालोचक भाग १, अंक ३, पृष्ठ १७१–२ में ये हैं–"पहला छंद एक संदिग्ध कागज के टुकड़े पर मिला था; पर दूसरा असनी के महापात्र लालजी कवि के कंठस्थ छन्दों में से ढूँढ़ निकाला था"। समालोचक की दूसरी

संख्या में हमने इस दूसरे छंद की अप्रामाणिकता पर भी विचार किया था; और इसको भूषण कृत मानने से साफ इंकार कर दिया था। हर्ष की बात है कि हमारा अनुमान सच निकला। अब इस बात के पुष्ट प्रमाण मिल गए हैं कि यह दूसरा छंद भूषण या भूधर का नहीं सारंग कवि का बनाया हुआ है। ये सारंग भगवंतराय खीची के आश्रित कवि थे। उक्त छंद की रचना भगवंतराय के लिये नहीं उनके भतीजे भवानीसिंह जी के लिये हुई थी। असोथर के लोग भवानीसिंह जी का स्मरण आज भी आदर के साथ करते हैं। विरोधी पक्ष के लेखक का कहना है कि महापात्रजी को उक्त छंद ४० वर्ष से भूषण कृत ही याद है। याद होगा; पर और लोगों को इससे भी अधिक वर्षों से यह छंद सारंग कृत ही याद है। पटने के श्रद्धेय बाबू गंगाशरणसिंहजी ने सब से पहले हमें इस छंद के सारंग कृत होने की सूचना दी थी। उनको यह छंद सारंग नाम से संयुक्त रूप अग्नि नामक कवि के पुस्तकालय में लिखा हुआ मिला था। इसके अतिरिक्त उन्होंने इसे संवत् १९४८ में प्रकाशित होनेवाली हरिश्चन्द्र कला के पृष्ठ ११२ में भी देखा था। बाबू साहब की इस सूचना के लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। उक्त सूचना से लाभान्वित होकर हमने भी इस संबंध में खोज प्रारंभ की; पर हमें अधिक भटकना नहीं पड़ा। आज से ४० वर्ष पूर्व जिस शिवसिंह सरोज की रचना हुई थी, उसके पृष्ठ ४६१ में सारंग कवि के लिये लिखा है—"ये कवि राजा भवानीसिंह खीची के भगवन्तराय जू के भतीजे के पास असोथर में रहा करते थे।"

पृष्ठ ३२७–८ में विवादास्पद छंद भी दिया है, जो हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं।

कबित्त

"तंगन समेत कारि विहित मतंगन सो रूधिर सों रंग रण मंडल में भरिगो। सारँग सुकवि भनै भूपति भवानीसिंह पारथ समान महा-

भारत सों कृरिगो। मारे देखि मुगुल तुरावखान ताही समै काहू अस न जानी काहू नट सों उचरिगो। बाजीगर कैसी दगाबाजी करि हाथी हाथा हाथी ते सहादत उतरिगो ॥"

"आशा है कि पाठकों को अब विश्वास हो गया होगा कि यह छंद वास्तव में सारंग का ही है, भूषण का नहीं।"

विरोधी पक्ष की ओर से जो छंद प्रकाशित हो रहा है, उसमें और इसमें पाठ का कुछ भेद है; पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों छंद एक ही हैं। जिन दो छंदों के बल पर भूषण जी भगवंतराय खीची के आश्रित बतलाये जाते थे, उनमें से एक भूधर का और दूसरा सारंग का है। संभव है कि भविष्य में अन्य किसी महाशय के कण्ठस्थ संग्रह से अथवा किसी पुस्तकालय से प्राप्त किसी कागज के टुकड़े पर भगवंत राय की प्रशंसा में 'भूषण' का और भी कोई छंद निकल आवे। पर इस समय तो वैताल पीपल की उसी डाल पर टँगा है, जिस पर पहले था।"

इसमें कोई सदेह नहीं कि संपादक जी ने कई स्थानों से पुष्ट प्रमाण ढूँढ़ निकाले हैं। ऐसे बड़े बड़े विद्वानों और लेखकों की बातों को खंडित करना साधारण कार्य नहीं है। इसे धृष्टता भी कहा जा सकता है, परन्तु मैं ऐतिहासिक सत्य को छिपाना भी पाप समझता हूँ। मैं पूर्व के लेखों में प्रकट कर चुका हूँ कि भूषण के संबंध में बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ बहुत काल से फैलती रही हैं, इसी से उन के छंद दूसरे के नाम पर रख दिए गए हैं। कहीं कहीं छंद की घटनाएँ भी परिवर्तित कर दी गई हैं। जो कुछ शेष रह गई हैं, वे भी परिवर्तित की जा रही हैं। इस संबंध में श्रीयुत यदुनाथ सरकार अपने शिवाजी नामक ग्रंथ की भूमिका, पृष्ठ ७, में लिखते हैं—

"But so many false legends about Shivaji are current in our country and the Shivaji myth is deve-

संख्या में हमने इस दूसरे छंद की अप्रामाणिकता पर भी विचार किया था; और इसको भूषण कृत मानने से साफ इंकार कर दिया था। हर्ष की बात है कि हमारा अनुमान सच निकला। अब इस बात के पुष्ट प्रमाण मिल गए हैं कि वह दूसरा छंद भूषण या भूधर का नहीं सारंग कवि का बनाया हुआ है। ये सारंग भगवंतराय खीची के आश्रित कवि थे। उक्त छंद की रचना भगवंतराय के लिये नहीं उनके भतीजे भवानीसिंह जी के लिये हुई थी। असोथर के लोग भवानीसिंह जी का स्मरण आज भी आदर के साथ करते हैं। विरोधी पक्ष के लेखक का कहना है कि महापात्रजी को उक्त छंद ४० वर्ष से भूषण कृत ही याद है। याद होगा; पर और लोगों को इससे भी अधिक वर्षों से यह छंद सारंग कृत ही याद है। पटने के श्रद्धेय बाबू गंगाशरणसिंहजी ने सब से पहले हमें इस छंद के सारंग कृत होने की सूचना दी थी। उनको यह छंद सारंग नाम से संयुक्त रूप अलि नामक कवि के पुस्तकालय में लिखा हुआ मिला था। इसके अतिरिक्त उन्होंने इसे संवत् १९४८ में प्रकाशित होनेवाली हरिश्चन्द्र कला के पृष्ठ ११२ में भी देखा था। बाबू साहब की इस सूचना के लिये हम उनके कृतज्ञ हैं। उक्त सूचना से लाभान्वित होकर हमने भी इस संबंध में खोज प्रारंभ की; पर हमें अधिक भटकना नहीं पड़ा। आज से ४० वर्ष पूर्व जिस शिवसिंह सरोज की रचना हुई थी, उसके पृष्ठ ४६१ में सारंग कवि के लिये लिखा है—"ये कवि राजा भवानीसिंह खीची के भगवन्तराय जू के भतीजे के पास असोथर में रहा करते थे।"

पृष्ठ ३२७–८ में विवादास्पद छंद भी दिया है, जो हम यहाँ पर उद्धृत करते हैं।

कवित्त

"तंगन समेत कारि विहित मतंगन सो रुधिर सों रंग रण मंडल में भरिगो। सारँग सुकवि भनै भूपति भवानीसिंह पारथ समान महा-

भारत सों करिगो। मारे देखि मुगुल तुराबखान ताही समै काहू अस न जानी काहू नट सों उचरिगो। बाजीगर कैसी दगाबाजी करि हाथी हाथा हाथी ते सहादत उतरिगो॥"

"आशा है कि पाठकों को अब विश्वास हो गया होगा कि यह छंद वास्तव में सारंग का ही है, भूषण का नहीं।"

विरोधी पक्ष की ओर से जो छंद प्रकाशित हो रहा है, उसमें और इसमें पाठ का कुछ भेद है; पर इसमें कोई सन्देह नहीं कि दोनों छंद एक ही हैं। जिन दो छंदों के बल पर भूषण जी भगवंतराय खीची के आश्रित बतलाये जाते थे, उनमें से एक भूधर का और दूसरा सारंग का है। संभव है कि भविष्य में अन्य किसी महाशय के कण्ठस्थ संग्रह से अथवा किसी पुस्तकालय से प्राप्त किसी कागज के टुकड़े पर भगवंत राय की प्रशंसा में 'भूषण' का और भी कोई छंद निकल आवे। पर इस समय तो वैताल पीपल की उसी डाल पर टँगा है, जिस पर पहले था।"

इसमें कोई संदेह नहीं कि संपादक जी ने कई स्थानों से पुष्ट प्रमाण ढूँढ़ निकाले हैं। ऐसे बड़े बड़े विद्वानों और लेखकों की बातों को खंडित करना साधारण कार्य नहीं है। इसे धृष्टता भी कहा जा सकता है, परन्तु मैं ऐतिहासिक सत्य को छिपाना भी पाप समझता हूँ। मैं पूर्व के लेखों में प्रगट कर चुका हूँ कि भूषण के संबंध में बहुत सी भ्रान्त धारणाएँ बहुत काल से फैलती रही हैं, इसीसे उन के छंद दूसरे के नाम पर रख दिए गए हैं। कहीं कहीं छंद की घटनाएँ भी परिवर्तित कर दी गई हैं। जो कुछ शेष रह गई हैं, वे भी परिवर्तित की जा रही हैं। इस संबंध में श्रीयुत यदुनाथ सरकार अपने शिवाजी नामक ग्रंथ की भूमिका, पृष्ठ ७ में लिखते हैं—

"But so many false legends about Shivaji are current in our country and the Shivaji myth is deve-

-loping so fast (attended at times with the fabrication of documents) that I have considered it necessary in the interests of historical truth to give every fact however small."

इसी प्रकार पृष्ठ २२ में 'Baseless legends' का उल्लेख किया है। भूषण के संबंध में भी नितांत यही बात थी। शिवसिंह जी सेंगर ने सरोज की भूमिका पृष्ठ १ में भले प्रकार भूषण के संबंध का इसी भाँति उल्लेख किया है। अतः इनका ऐतिहासिक अन्वेषण करना और मिश्रित दूध-पानी में से दूध का निकालना कष्टसाध्य अवश्य है। परन्तु ऐतिहासिक शोध से इसका निराकरण किया जा सकता है।

आइए, सम्पादक जी के इन पुष्ट प्रमाणों की भी पड़ताल कर डालें। संभव है, ये सुदृढ़ किले मनगढ़ंत बालू की भीति की भाँति साधारण से ऐतिहासिक धक्के द्वारा ही भूतलशायी हो जायँ।

पहले छंद

उठि गयो आलम सों रुजुक सिपाहिन को ....।

अरण्य टूट्यो कुल खंभ हिन्दुआने को ॥[1]

के संबंध में आप लिखते हैं कि यह छंद एक संदिग्ध कागज के टुकड़े पर मिला था; और किसी लेखक ने लिपि दोष के कारण भूधर को भूषण पढ़ लिया होगा (इस गणना में मेरी भी गिनती हो जाती है)। तीसरे भाषा भी भूधर से मिलती है, भूषण से नहीं मिलती।

वह टुकड़ा सम्पादक जी ने सैकड़ों मील दूर से बैठे रहने पर भी बिना देखे या सुने जान लिया कि वह संदिग्ध था। मैंने स्वयं पढ़ा; पर उसमें मुझे किंचित् मात्र भी संदेह नहीं हुआ। यही नहीं, मैंने भिनगा नरेश के छोटे भ्राता (मुन्ना साहब) को ले जाकर दिया; और महाराज

---

१ माधुरी, वर्ष ३, खंड १, संख्या ६, पृष्ठ ११०.

कुमार ने उन्हें पढ़कर सुनाया। उन्हें भी कोई भ्रांति नहीं हुई। परन्तु ज्ञात नहीं, आपको इतनी दूर से संदिग्धता की गंध कैसे आई। संवत् और लेखक का नाम न होना ही संदिग्धता मिटाने का पर्याप्त कारण नहीं है। मैंने पचासों प्राचीन पुस्तकें देखी और पढ़ी हैं, जिनमें लेखक का नाम तथा संवत् दोनों प्रस्तुत होने पर भी पढ़ने में पूर्ण संदेह उत्पन्न हो जाता है। ज्ञात नहीं, आपने इस प्रकार की भ्रान्त कल्पना किस आधार पर की।

पेलियोग्राफी से पढ़ने के कारण का खंडन तो समालोचक के तीसरे अंक में आपने स्वयं कर दिया। अब मैं

शुंडन समेत काटि विहद मतंगन को ....।
हाथी हाथा हाथी ले सहादत उतरिगो ॥

वाले भूषण के छंद को लेता हूँ। आपने इसे पेलियोग्राफी के आधार पर भूधर का माना था; और उदाहरण में एक छंद देकर यह भी कहा था कि इन दोनों छंदों की भाषा भी एक सी ही है; अतः ये छंद भूधर के ही हैं, भूषण के कदापि नहीं। फिर तीसरे अंक में आपने अन्य प्रमाणों से यह माना है कि यही छंद भूधर का नहीं, सारंग का है। अब उसी पेलियोग्राफी के आधार पर मानना पड़ा कि भ, प, न का क्रमशः स, र, ग हो गया; और ऊ की मात्रा का स्थान आ ने ले लिया। अनुस्वार तो व्याज ही में बढ़ गया होगा। यह पेलियोग्राफी विज्ञान तो शायद श्रीयुत पंडित गौरीशंकर हीराचन्द जी ओझा को भी विदित न होगा। और भाषा की तुलना तो न मालूम कहाँ चली गई। पहले तो भूषण के छंद की भाषा भूधर के तुल्य बन गई। अब सारंग ने उसे हथिया लिया है। इस संबंध में एक प्रबल प्रमाण और भी दिया गया। है वह यह कि नरहरि महापात्र के एक छद्मवेषी वंशज अज्ञातनामा भाट ने जो निरक्षर भी था, सम्पादक जी से कहा था कि यह छंद भूधर का ही है, भूषण का नहीं।

आप से ज्ञात करने पर विदित हुआ था कि वह भाट पढ़ा लिखा नहीं था। आप को उसका नाम भी ज्ञात नहीं है। स्थान रायबरेली के ज़िले में एक ग्राम बतलाता था। पंडित श्रीलाल जी महापात्र ने, जो उनके यथार्थ वंशज हैं, कहा था कि *बैंती, रीवाँ और असनी* को छोड़कर अन्यत्र महापात्र भाट नहीं हैं। बहुत से भाट महापात्र बनकर माँगने को घूमते फिरते हैं। नरहरि का मुख्य स्थान असनी ही था। अब आप समझ गए होंगे कि भिनगा नरेश के प्राचीन पुस्तकालय से प्राप्त और नरहरि के वंशज विद्वान् राजकवि लाल जी के कथन और उनके यहाँ से प्राप्त प्रतिलिपि का मूल्य अधिक है या सम्पादकजी को मिले हुए अज्ञात-नामा छद्मवेषी अशिक्षित भाट का मौखिक कथन ठीक है। इस पर मैं कोई विशेष टिप्पणी नहीं देना चाहता।

आप ने एक और भी बड़ी विलक्षण बात कही है। मैंने दूसरा छंद पंडित श्रीलाल जी महापात्र के संग्रह से लिखा था; और वह उन्हें याद भी था। सम्पादक जी ने समालोचक में लिखा है कि मैंने उन से कहा था—"हस्तलिखित प्रति से यह छंद नहीं लिया था; महापात्र जी को मौखिक याद था"। मैंने लखनऊवाले व्याख्यान में हस्तलिखित प्रति से लेने, और मौखिक याद होने दोनों का उल्लेख किया था। साथ में अपने व्याख्यान की हस्त-लिखित प्रति भी आप को दे दी थी, जिसमें स्पष्टतया इस बात का उल्लेख किया था। फिर भी ज्ञात नहीं, आप ने यह बात कैसे लिख दी। कोई चाहे तो उस प्रति को उनके पास देख सकता है। जहाँ तक मुझे स्मरण है, मैंने कभी ऐसी बात नहीं कही; बल्कि हस्त-लिखित प्रति का ही वर्णन किया था। हाँ, आपके प्रश्न करने पर यह अवश्य कहा था कि वह प्रति अति प्राचीन नहीं प्रतीत होती थी। रहा बनाकर किंवदन्ती का कथन करना; सो वह अपने संबंध में ही हो सकता है। जो निरपेक्ष है, वह ऐसा क्यों करेगा? यहाँ तो हस्तलिखित प्रति का आधार भी है;

अतः यह कथन निरर्थक ही है। संभव है, इसी लिये आप ने लिखित प्रमाण को केवल कथित कहने की कृपा की हो।

अब आइए, भूषण के सम्बन्ध की आप की नई खोज की भी पड़ताल कर डालें।

मैंने भूषण कृत जो छंद राजा भगवतराय खीचो के लिये नागरी-प्रचारिणी पत्रिका भाग ६, अंक १, पृष्ठ ११६ मे दिया है, उसे पहले भूधर कृत और अब सारंग कृत तथा भवानीसिंह खीची के लिये रचा बतलाते हैं। आप ने इस छंद पर बहुत जोर दिया है तथा सारंग कवि को भवानी-सिंह का आश्रित माना है। चूँकि यह छंद ऐतिहासिक है, अतः इसकी सचाई की बहुत कुछ पड़ताल की जा सकती है। छंद में प्रसंगवश दो यवन व्यक्तियों का नाम भी आया है। एक तो तुराब खाँ का मारा जाना और दूसरा उसी युद्ध में सहादतखाँ का हाथी से उतरकर भाग जाना लिखा है।

नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ५, अंक १ में एक लेख भगवतराय रासा पर निकला है। इसे सदानंद कवि ने, जो भगवंतराय खीची का दरबारी कवि था, लिखा था। उसका निर्वाण काल खीची की मृत्यु के कुछ ही दिन पीछे का है। उसके प्रारम्भिक वर्णन में लेखक ने कई मुसलमानी तारीखों का भी उल्लेख किया है, जिनके आधार पर रासे की घटनाओं से तुलना करते हुए उसे सत्य सिद्ध किया है। मुसलमानो ने भी इस युद्ध का विस्तारपूर्वक वर्णन किया है।

पत्रिका के पृष्ठ १११ में लेखक ने लिखा है—

"जब मोहम्मद शाह बादशाह ने अवध के नवाब बुर्हानुल्मुक (सहादतखाँ) को इस परगने का अधिकार दे दिया, तब वह ससैन्य शान्ति स्थापन के लिये आया। भगवंतसिंह यह समाचार सुनकर, तीन सहस्र सवारों के साथ गाजीपूर (फतहपूर) के दुर्ग से निकलकर नवाब की सेना के सामने जा डटे। नवाब के परगने से कुछ क्षति

उठाकर यह उसका रुख बचाते हुए अबू तुराबखाँ के अधीनस्थ हरावल पर जा टूटे। उस अफसर को मार काटकर तथा हरावल को छिन्न भिन्न करके भगवतसिंह नवाब की शरीर-रक्षक सेना पर जा पड़े।

पृष्ठ ११४ के फुट नोट में लिखा है—'सआदतखाँ अवध के प्रथम नवाब बुर्हानुलमुल्क सआदतखाँ का नाम इस रासे में सहादति खान (सादति खाँ आदि) किया गया है"। यह तो हुआ मुसलमानी तवारीख का ऐतिहासिक वर्णन। अब रासे में भी देखिए, सदानंद कवि क्या लिखते हैं।

भगवत राय रासा

दोहा—साह मोहम्मद छत्रपति, दान कृपान जहान।
सूवा कीन्हों अवध को विदित सहादति खान ॥ ४ ॥

उसी पत्रिका के पृष्ठ १२४ में लिखा है—

चलि फौज सादति खान की गढ़ छोड़ि कै गरबी भगे।
भजि जात दिग्गज डोल परवत सार सों अहि यों जगे ॥
तव जाय कै तहहीं जुरै जहँ खेत वैरिन को रुचै।
उतते चल्यौ भगवत जू रन आजु तौ हम सों सचै ॥ ६२ ॥

पृष्ठ १२७ में से एक और छंद लीजिए—

सर्व कल्याण दंडक

चमकै छटा सी ज्यों घटा सो दल फारि देत केतिन कटा कै भर जुत्थन सुभाइकै। भूप भगवत की कृपान यों करति खेतु खडै खल सीस भुज समर चुनाइ कै। ज्योति सी जगा है अनुराग सों रँगी है बज्र चाल सों पगी है गति अद्भुत पाइ कै। आरन की छाँडते निचारि सब मानी मूढ मोगल सँघारव तुराबखान खाइकै ॥ ८० ॥

इन छंदों से भी उक्त बातों का समर्थन होता है कि तुराब खाँ को,

जिसे मुसलमानी इतिहासों में अबू तुराब खाँ कहा है, भगवंतसिह खीची ने मार डाला था और सहादति खाँ पर धावा बोल दिया था।

सहादत खाँ-अवध का नवाब था, और वह सैन्य लेकर भगवंतसिंह खीची पर चढ़ आया था; क्योंकि खीची ने कोड़ा जहानाबाद के मुसलमान शासक को मारकर अपना राज्य स्थापित कर लिया था।

भगवंतसिंह खीची ने ४८ युद्धों में विजय प्राप्त की थी। वह बहुत शूरवीर और कवियों का आश्रयदाता था। सम्मान और आदर में भगवंतसिंह खीची के सामने भवानीसिंह की कोई गणना नहीं की जा सकती।

परन्तु आप तुराबखाँ और सहादतिखाँ के साथवाले युद्ध को भवानीसिह के साथ सबद्ध करते हैं; परन्तु भवानीसिंह का इससे कोई संबंध नहीं।

इतिहास, काव्य, रासे और किवदंती सब भगवंतसिंह के पक्ष में हैं। यदि किसी ने भूषण के एक छन्द को तोड़ मरोड़कर भूधर या सारंग का बनाना चाहा हो, तो क्या वह अपने प्रयत्न में सफल हो सकता है ? कदापि नहीं। अब सम्पादक जी के आधारभूत बाबू गंगाशरण-सिंह, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की हरिश्चन्द्र कला और शिवसिंहसेंगर के कथन की तुलना मुसलमानी इतिहास और भगवंतराय रासा से कीजिए और देखिए कि किनका कथन सत्य हो सकता है। उक्त तीनों कथन बिना जाँच पड़ताल के संग्रह मात्र हैं, जो वर्तमान कवियों के आधार पर लिखे गए हैं। अत. यही अनुमान होता है कि कुछ स्वार्थी कवियों ने ही यह उलट फेर कर लिया है; और भूषण के स्थान पर भूधर या सारंग तथा भगवतसिंह खीची के स्थान में भवानीसिंह खीची कर दिया गया है। परन्तु भूषण कृत कविताओं की विशेषता ही यह है कि यदि उन्हें कोई अपनाना चाहे या दूसरे नाम पर रखना चाहे, तो वह कृत्रिमता एक न एक दिन अवश्य भंडा फोड़ कर देगी। आप ने इस घटना और आविष्कार पर इतना तक कह दिया है—"बैताल पीपल की उसी

डाल पर टँगा है, जिस पर पहले था।" परन्तु विक्रम ने जिस प्रकार वैताल की शठता को छिन्न भिन्न कर दिया था; उसी प्रकार हमें तो सारंग और भवानीसिंह संबंधी बनावटी किंवदन्तियों का उन्मूलन होता स्पष्ट दृष्टिगोचर हो रहा है। क्या आप का वैताल अब भी वहीं है, जहाँ पहले था?

शिवराज भूषण

समालोचक सम्पादक का प्रश्न है कि क्या प्राचीन कवियों ने अपने ग्रन्थों में जो सन् संवत्वाले पद्य दिए हैं, उनमें सब में महीना, दिन और तिथि अवश्य ही होते हैं? इसके संबंध में मेरा उत्तर यही है कि अधिकांश में अवश्य होते हैं।

हाँ, हम केवल उन ग्रन्थों को छोड़ देते हैं जिनमें संवतों का मतभेद होने से वे उड़ा दिए गए हों या बदल दिए गए हों अथवा किसी किसी में भूल से रह गए हों।

अधिकांश ग्रन्थों में मेरे कथनानुसार ही प्रमाण पाए जाते हैं। संवत् का दोहा राजवंश वर्णन के दोहे से उसी भाँति मिलता है, जिस भाँति समालोचक भाग १, अंक २ में वर्णित भूषण के एक सवैए को आप ने भूधर कवि का बतलाया था; फिर भाग १, अंक ३ में उसी को सारंग का कहने लगे। मेरे विचार से संवत्वाला दोहा राजवंश वर्णन के दोहे से कुछ भी समानता नहीं रखता। इस दोहे को आपने महामहोपाध्याय पंडित सुधाकर द्विवेदी महोदय द्वारा गणित की कसौटी पर कसे जाने का भी उल्लेख किया है। मेरे विचार से यह कथन युधिष्ठिरी सत्य से अधिक मूल्य नहीं रखता। जिस दोहे में मास ही नहीं है, उसकी जाँच क्योंकर हो सकती है? द्विवेदी जी ने केवल इतना ही कहा था कि उस वर्ष में दो त्रयोदशियाँ (एक नहीं) बुधवार को पड़ी थीं। मेरे विचार से शायद ही कोई वर्ष ऐसा हो, जिसमें कोई न कोई त्रयोदशी

बुधवार को न पड़े। वर्ष में २४ त्रयोदशियाँ होती हैं और वार सात ही होते हैं। अत घूम फिरकर एक ही तिथि कई वारों में आ सकती है। आपने सवत् १७३० में एक ही बार बुधवार को त्रयोदशी पड़ने का उल्लेख करके भ्रम में डालने का प्रयत्न किया है। सम्पादक जी सोचें कि धोखेबाजी के अभियोग में मैं अभियुक्त होता हूँ या आप। यही एक स्थल नहीं है, और भी कुछ स्थानों पर आपने इसी भाँति के प्रयोग किए हैं। आपने माधुरी, पौष सवत् १९८१ में मेरे दिए हुए कुछ उदाहरणों पर विचार किया है। आइए, इस आलोचना की प्रत्यालोचना करके भी देख लें कि आप अपने मनोरथ की सिद्धि में कहाँ तक सफलप्रयत्न हुए हैं।

कर्नाटक की लड़ाई

कर्नाटक की चढ़ाईवाले छन्द शिवराज भूषण में न० ११७, २०७ और २६१ के हैं।

(१) छंद न० ११७ में कर्नाटक, हबश, फिरग आदि वैरियों की स्त्रियाँ अपनी छाती पीटती हैं। हबश, फिरग आदि से तो शिवा जी का युद्ध सम्वत् १७३० विक्रमी के पूर्व भी हो चुका था, परन्तु कर्नाटक का कोई युद्ध इससे पूर्व नहीं हुआ था। कर्नाटक पर चढ़ाई सम्वत् १७३५ से पूर्व कभी नहीं हुई। अत इस छद में शिवा जी की चढ़ाई का अवश्य साधारणतया उल्लेख पाया जाता है। गोलकुडा का वर्णन इसी लिये इस छद में नहीं है कि वहाँवालों ने शिवा जी की चढ़ाई के पूर्व ही मेल कर लिया था। नहीं तो हजारों मील पर "अरि-तिया छातियाँ दलने लगीं" और बीच के देशों में कुछ भी भय न हो, यह कभी सभव नहीं।

(२) न० २०७ का छंद तो स्पष्ट कर्नाटक की चढ़ाई का उल्लेख करता है। वह छद यह है—

"लै परनालो शिवा सरजा कर्नाटक लौं सब देश बिगूँचे ।
बैरिन के भगे बालक-वृन्द कहै कवि भूषण दूरि पहूँचे ।
नाँघत नाँघत घोर घने बन हारि परे यों करे मनो कूँचे ।
राजकुमार कहाँ सुकुमार कहाँ बिकरार पहार वे ऊँचे ॥

इस छंद ने सम्पादक जी को बड़ी दुविधा में डाल दिया है। इस-लिये इसके खंडन के लिये सारी अष्टाध्यायी के सूत्र, पार्थक्य और अभि विधि प्रयोग को मथने का प्रयत्न किया है। पर अंत में दुविधा वाली परिस्थिति से बाहर इंच भर भी न जा सके। आइए हम इसका बहुत सीधा मार्ग बतलावें। यह छंद स्वयं इसे हल कर देता है।

छंद में लिखा है—"परनाला से लेकर कर्नाटक लौं सब देश रौंद डाला।" अब इतिहास से मिलाइए कि कब परनाला लेकर कर्नाटक पर चढ़ाई की। इतिहास इसका एक ही उत्तर देता है। ग्रांट डफ कृत मराठों के इतिहास, भाग १ पृष्ठ २६९ में लिखा है कि सन् १६७६ के अन्त में परनाला का किला तीसरी बार विजय करके कर्नाटक पर शिवा जी ने चढाई की।

श्रीयुक्त यदुनाथ सरकार भी परनाले के आस पास के स्थान विजय करवाकर सन् १६७७ के आरंभ में कर्नाटक की चढाई की तैयारी करवा के प्रस्थान कराते हैं।

अत दोनों इतिहासकार इस संबंध में एक मत हैं। हम 'लौं' का अर्थ सम्पादकजी के कथनानुसार मर्यादा के साथ पार्थक्य का माने लेते हैं, यद्यपि यहाँ लिया नहीं गया है, जैसा कि हम आगे चल कर प्रमाणित करेंगे।

हम पूछना चाहते हैं कि क्या कभी इस पर भी विचार किया गया कि वह सन् १६७७ (सं० १७३४ विक्रमी) से पूर्व कभी कर्नाटक की पश्चिमी बाहरी सीमा पर भी पहुँचे थे। सीमा को भी छोड दीजिए,

वहाँ से सैकड़ों मील के अन्तर पर कृष्णा नदी के किनारे तक भी कभी नहीं पहुँचे।

शिवाजी की सैना कभी गोलकुंडा राज्य में ही नहीं घुसी थी, जहाँ से कर्नाटक लगभग ७०० मील से कम दूर नहीं है। 'लों' की तो इतनी छानबीन, और ऐतिहासिक अन्वेषण की इतनी अवहेलना कहाँ तक उचित है, सम्पादकजी ही विचारें। क्या उन्हें अब भी साहस है कि यह बात जानकर भी कर्नाटक के विषय में अपनी लेखनी उठावें *।

यह तो निश्चित है कि शिवा बावनी के ५२ छंद शिवराज भूषण से पूर्व के हैं; क्योंकि वे साहू की प्रथम भेंट के अवसर पर सुनाए गए थे। "इन्द्र जिमि जंभ पर ...." आदि वाला एक ही छंद बावन बार या अठारह बार पढ़ने की कल्पना अशुद्ध ही मानना ठीक है; क्योंकि अज्ञात दशा में भूषण और साहू की भेंट के अवसर पर भूषण द्वारा कवित्त सुनाने और साहू के और सुनने की आकांक्षा प्रकट करने पर भूषण ने कहा था—"अब कुछ उस (साहू) के लिये भी रख छोड़ें या सब तुम्हीं को सुना दें।" इस पर साहू ने अपना यथार्थ नाम प्रकट कर दिया था। यदि एक ही छंद बार बार सुनाया होता, तो उक्त वाक्य का कोई अर्थ ही नहीं होता। एक ही छंद की यह मनगढंत कथा तो ऐतिहासिक प्रमाण न मिलने पर शिवाजी-भूषण संबंधी ज्ञाता किसी सज्जन ने बना ली होगी। दीवान बुद्धसिंह बूँदी नरेश के राजकवि लोकनाथजी ने अपने एक कवित्त में कहा था—"भूषण निवाज्यौ जैसे सिवा (साहू) महाराज जू ने बावन दै बावन धरा पै जिस छाप है"।

मुंशी देवीप्रसाद कृत कविरत्नमाला भाग १, पृष्ठ ४९ से स्पष्ट विदित होता है कि साहू को जो छंद सुनाए गए थे, वे संख्या में ५२ थे, १८ नहीं;

---

* शिवराज भूषण छंद नं० २६१ में लिखा है—पेस कसैं भेजति बिलायति पुरतगाल सुनिकै सहमि जात कर्नाटक धन्य हैं। इससे कर्नाटक पर स्पष्ट आतंक जमा हुआ प्रतीत होता है, जो चढ़ाई के समय या तैयारी के समय हो प्रदर्शित हो सकता है।

और एक ही छंद बावन बार नहीं सुनाया गया, बल्कि वे भिन्न भिन्न ५२ छंद थे। बहुधा कवियों ने साहू के स्थान में शिवा कर दिया है; इसी से प्राचीन हस्तलिखित-प्रतियों में कहीं शिवा और कहीं साहू लिखा मिलता है। सम्पादक महोदय इस छंद को सम्वत् १७५२ में रचा हुआ बतलाते हैं। हम पूर्व ही लिख चुके थे कि रावराजा बुद्धसिंह को दीवान का पद सम्वत् १७६५ में प्राप्त हुआ था। उक्त छंद में "बुद्धसी दिवान लोकनाथ कविराज कहैं "पद आया है; अतः निश्चित रूप से यह छंद सम्वत् १७६५ के पीछे का है। परन्तु आप इसे भूल जाते हैं; और सम्वत् १७५२ में रचा हुआ इसलिये बतलाते हैं कि साहू का वर्तमान होना न पाया जाय और शिवाजी से संबद्ध मानने में सदेह न हो। परन्तु यथार्थ बात प्रकट हुए बिना नहीं रहती।

यह भ्रांति आज की नहीं, बहुत पूर्व से चली आ रही है। शिवा बावनी में भी कर्नाटक संबंधी कई कवित्त हैं।

देखिए कवित्त नं० ३२

विज्ञपूर बिदनूर सूर सर धनुप न संधहि। मंगल बिनु मल्लारि नारि धम्मिल नहिं बंधहि ॥ गिरत गब्भ कोटै गरब्भ चिंजी चिंजाउर। चालकुंड, दलकुंड, गोलकुंडा संका उर ॥ भूषण प्रताप शिवराज तव इमि दच्छिण दिशि सचरहिं। मधुरा धरेस धकधकत सो द्रविड़ निविड़ डर दविड़रहिं ॥ ३२ ॥

इस छंद में अधिकांश में कर्नाटक का वर्णन किया गया है। चिंजी, चिंजा लड़की लड़के नहीं, अपितु जिंजी *या जिंजवार (कर्नाटक) के लिये ही प्रतीत होते हैं। मदुरा (मधुरा) तो स्पष्ट ही कर्नाटक प्रांत में है।

विज्ञपूर बिदनूर की धनुप उठाने के अयोग्य दशा तो सन् १६७८

---

* जिंजी का किला अप्रैल सन् १६७७ में लिया गया था। देखो यदुनाथ सरकार कृत शिवाजी, पृ० ३८५.

के पीछे ही कर्नाटक से लौटने पर हुई थी। छंद ४४ में है—"भूषण भनत गिरि विकट निवासी लोग बावनी बवंजा नव कोटि धुंध जोति है।"

मिश्र बंधु महोदय शिवराज भूषण के पृष्ठ १५२ में "बावन जी बवंजा" से बजूना (फतहपूर सीकरी) के पास का स्थान, महण करते हैं। मेरे विचार से यह स्थान बावनी गिरि (कर्नाटक) का प्रसिद्ध स्थान है, जहाँ तक शिवाजी की सेना ने शेरखाँ का पीछा किया था। कर्नाटक की चढ़ाई का यही अंतिम स्थान था; इससे आगे शिवाजी नहीं गए।

श्रीयुक्त यदुनाथ सरकार शिवाजी की जीवनी के पृष्ठ ३८८ में लिखते हैं—
"The Khan (शेर खाँ) fled with a broken regiment of only 100 cavalary to the town of Bawani-giri, 22 miles south of Vellar still pursuaded by the enemy."

इससे स्पष्ट विदित होता है कि गिरिबावनी वही बावनीगिरि है, जिसका उल्लेख भूषण के उक्त छंद में है। छंद ४५ में तो स्पष्ट विजय का उल्लेख है—

"भूषण भनत बाजे जीति के नगारे भारे सारे कर्नाटी भूप सिंहल कौं सरके।"

कर्नाटक-विजय पर ही भूषण ने ये नगाड़े बजवाए हैं, जो स्पष्ट सन् १६७८ (स० १७३५ विक्रमी) की घटना है। शिवा बावनी के इसी छंद ४५ में कहीं कहीं "सारे अरकाटी-भूप सिंहल कौं सरके" पद भी मिलता है, जो कर्नाटक की चढ़ाई के भी पीछे की घटना है। फिर बिना चढ़ाई के व्यर्थ कोई सिंहल को कभी कोई नहीं भागता। यदि यह पहले की घटना होती, तो बीच के प्रांत के वासी भी तो भागते। प्रो० सरकार कृत शिवाजी के पृष्ठ ३९२ में अर्काट के विषय में लिखा है—
"Shortly before he had pillaged. Porto Novo and made himself master of the South Arcot district in October 1677, army surrendered to him and so

Behalol and Khizar Khan with 2000 cavalary and many foot soldiers, tried to intercept him near Bankpur, but were defeated after a deseperate battle and put to flight with the loss of a brother Khizar Khan. Hammir Rao robbeb entire Bijapur army, captured 500 horses and much other prize. (March, 1674.)

अच्छा होता, यदि सम्पादक महोदय अपने सरकार कृत शिवाजी के इतिहास से पृष्ठ २२९ की पंक्तियाँ उद्धृत कर देते, जिससे विदित हो जाता कि आप का कथन कहाँ तक ठीक है।

(ख) छंद १६१ में—"बचैगान समुहाने बहलोल खाँ अपाने भूषण बखाने दिल आनि मेरा बरजा। तुमते सवाई तेरा भाई सलहेरि पास कैद किया साथ का न कोई बीर गरजा। साहिन के साहि उसी औरंग के लीन्हे गढ़ जिसका तू चाकर औ जिसकी है परजा। साहि का ललन दिल्ली दल का दलन अफजल का मलन शिवराज आया सरजा॥

(ग) छंद २३९ में—"अमर सुना मोहकम बहलोल खान खाँड़े छाँड़े डाँड़े उमराव दिलीसुर के।"

मिश्र बंधु महोदय शिवराज भूषण, पृष्ठ ३४ में छंद नं० ९६ की टिप्पणी देते हुए लिखते हैं—

"सन् १६७७ में शिवराज जी ने कुतुब शाह से मेल किया, जिसमें शर्त यह भी थी कि बहलोल खाँ बीजापुर राज्य से हटा दिया जाय। इस पर बहलोल खाँ मुगल सरदार खानजहाँ बहादुर को साथ ले कुतुब शाह पर चढ़ धाया। परन्तु उसे शिवाजी के साथी मधुना पंत ने, जो कुतुब शाह का वजीर था, घोर युद्ध करके परास्त किया। इस युद्ध में बहलोल मुगलों के साथ होकर लड़ा था; इसी से भूषण ने भ्रमवश दिल्ली का सेवक समझ लिया था।"

सरकार कृत शिवाजी के पृष्ठ ४०४ में दिलेरखाँ और बहलोल दोनों के मरहठों द्वारा सन् १६७७ में हराए जाने का वर्णन है। उसी समय बीजापुरी सेनापति हुसैनखाँ को हमीरराव ने कैद कर लिया और फिर छोड़ दिया। यह बड़ा वीर था और हारकर अन्त में शर्म के मारे जहर खाकर मर गया। इसी को छंद १६१ में बहलोल का भाई बतलाया है। छंद ३५६, ३५८ और ३५९ में भी इन्हीं युद्धों का वर्णन है। इसके निर्माण-काल जुलाई १६७३ से पूर्व बहलोल और मरहठों के बीच का कोई युद्ध ग्रान्ट डफ, सरकार या अन्य ऐतिहासिक नहीं मानते। अधिकांश घटनाएँ सम्वत् १६७७ की ही हैं। ऐसी दशा में सम्पादक महोदय का कथन निस्सार ही होता है; और यहाँ भी उसी युधिष्ठिरी सत्य का आश्रय लिया गया है, जिसका संवत् १७३० में शिवाजी और बहलोल का युद्ध कथन करने में लिया गया है।

भड़ौच

शिवराज भूषण के छंद ३५४ में भड़ौच का वर्णन आया है। छंद यह है—"दिल्लिय दलन दबाय करि सिव सरजा निरसंक। लूटि लियो सूरति सहर बंककरि अति डंक॥ बंककरि अति डंक-करि अस संक-कुलिखल। सोचचकित भड़ोचचलिय विमोचचखजल॥ तट्टइमन कट्ठिक सोइ रट्ठ ट्टिल्लिय। सद्दिसिदिसि भद्दवि भइ रद्द दिल्लिय॥३५४॥ इस छंद में सम्पादक जी के कथनानुसार भड़ौच में केवल भय से गड़-बड़ हुई थी और लोग भागने लगे थे। इस छंद के छः पदों में से एक पद में सूरत का वर्णन है और चार पदों में भड़ौच का।

ग्रान्ट डफ मराठा इतिहास भाग १, पृष्ठ २६७ में बतलाता है कि सन् १६७५ से पूर्व मरहठी सेना नर्मदा के किनारे तक भी नहीं पहुँची। अतः जब तक सेना नर्मदा के दक्षिणी किनारे पर भी न पहुँचे, उसके उत्तरी नगरों में कोई आशंका नहीं हो सकती। 'भड़ोचचलिय' का अर्थ

also did some other forts in the North Arcot district."

अस्तु; कर्नाटक हो चाहे अर्काट हो, परन्तु दोनों स्थानों की घटना सम्वत् १७३० विक्रमी के कई वर्ष पीछे की है।

इन स्पष्ट प्रमाणों के होते हुए कभी संभव नहीं कि शिवराज भूषण सम्वत् १७३० (सन् १६७३, जुलाई) में रचा गया हो। मुझे तो सारे शिवराज भूषण में दो एक और वर्णन ही इस श्रेणी के जँचते हैं। इस पर भी सम्पादक जी कर्नाटक के इस वर्णन से भूषण की लेखनी का उपहास समझते हैं, तो ज्ञात नहीं गंभीरतापूर्वक मार्मिक वर्णन कौन सा मानते हैं।

और फिर जिनका नाम मात्र को एक बार ही वर्णन किया है, उन पर तो घृणा का प्रस्ताव पास होगा।

भूषण ने छंद नं० १५९ में बिदनूर का उल्लेख किया है—"उत्तर पहाड़ बिधनौल खँडहर झारखँडहू प्रचार चारु केली हैं बिदर की"।

इस छंद में बिदनूर के खँडहरों में भी शिवाजी का यश प्रचारित हो गया है, जिसमें चाहे चौथ का उल्लेख न हो।

बिदनूर से किसी प्रकार का युद्ध अथवा विजय अगस्त १६७५ से पूर्व नहीं हुई। बिदनूर का उल्लेख व्यर्थ नहीं किया गया। बिदनूर कोई दूर देशस्थ बड़ा सुदृढ़ स्थान भी न था। वह एक साधारण सा राज्य था। अतः उक्त छंदों में सन् १६७५ के युद्ध का ही संकेत है, जो सन् १६७५ ईसवी में अथवा उसके पीछे भी हुआ था।

श्रीयुक्त यदुनाथ सरकार इस युद्ध का उल्लेख अपने शिवाजी नामक ग्रन्थ के पृष्ठ ३२८ में इस प्रकार करते हैं—

"The Dowager Rani of Bednur had quarrelled with her colleague Trimmaya, but had been compelled to make peace with him (August 1675). She

being a mere cypher, while he held the real power of the State. The Rani then appealed to Shivaji for protection, agreed to pay him an annual tribute and admitted a Maratha Resident at Court."

इससे स्पष्ट विदित होता है कि सन् १६७५ की ही यह घटना थी, जिसकी ओर भूषण का संकेत है।

शिवा बावनी छंद ३२ में विदनूर की ऐसी दशा बतलाई है कि वहाँ के सैनिक मराठों के सम्मुख धनुष उठाने में भी असमर्थ हैं। यह छंद ऊपर उद्धृत किया जा चुका है।

बहलोलखाँ

महाकवि भूषण ने बहलोलखाँ का वर्णन कई छंदों में किया है। जैसे—(क) छंद ९६ में—"अफजल की अगति खास ताकी अपगति बहलोल की विपति सों डरे उमराव हैं।"

समालोचक-सम्पादक के कथनानुसार यह घटना सम्वत् १७३० की है! और शिवराज भूषण का निर्माण काल भी सं० १७३० ही है!

परन्तु जिस घटना का उल्लेख आपने किया है, उसमें प्रतापराव गूजर ने बहलोल को फर्वरी १६७४ (सम्वत् १७३१) में हराया था। इससे पूर्व बहलोल और मरहठों से कोई युद्ध नहीं हुआ। (देखो सरकार कृत शिवा जी, पृष्ठ २५८ प्रथमावृत्ति) फिर मार्च १६७४ में दोबारा हमीरराव ने हराया, जिसमें बहलोल की बड़ी दुर्गति हुई थी। यथार्थ में भूषण ने इसी लड़ाई का वर्णन किया है। इस संबंध में हम सरकार कृत शिवाजी, पृष्ठ २६१ से ज्यों के त्यों शब्द यहाँ उद्धृत किए देते हैं—

"Hamir Rao penetrated further into Kanara, robbed the city of pench, 24 miles from Bankpur, in Bahalol's jagir, looting at least 150000 hun worth of booty. Thence he returned with 3000 ox-loads of plunder,

"भड़ौच जाने पर" ही हो सकता है, भागने का अर्थ नहीं लिया जा सकता। फिर पाँचवें पद में "रट्टदि्दिय" का अर्थ "ढेर के ढेर भगा दिये गये" स्पष्ट है। यदि "चलिय" का अर्थ भागना लिया जाय, तो पुनरुक्ति दोष आता है। अतः मेरे विचार से सम्पादक जी ने पूरे छंद के अर्थ पर विचार न करके एक पद का मनमाना अर्थ ले लिया है। जब भड़ौचवाले ठेल दिए गए, तो ठेलनेवाले मरहठे ही होने चाहिएँ। और बिना भड़ौच में गए वे भगाए नहीं जा सकते। अवश्य ही यह नर्मदा पार करने के पीछे की घटना है।

खवासखाँ

शिवराज भूषण छंद २०६ में "वैर कियौ शिवा जी सों खवास खाँ डौंडियै सैन विजैपुर वाजी।" पद आया है। इस पद में शिवा जी की सेना का खवासखाँ पर बीजापुर के पास ही चढ़कर जाने का वर्णन है।

अब इतिहास से इस घटना का मिलान कीजिए। वह सन् १६७४ में पनाला, वीसलगढ़ आदि बीजापुरी इलाके लेकर आगे बीजापुर की ओर बढ़ रहा था। खवासखाँ उस समय वजीर था। छंद २५४ और ३१२ में भी उन्हीं युद्धों का वर्णन है, जिनमें मरहठों की विजय हुई है। वे १६७४-७५ ई० के ही युद्ध हैं। छंद ३२८ में कुड़ाल के युद्ध का वर्णन किया गया है, जो सम्वत् १७३० विक्रमी से पूर्व का कहा जा सकता है। परन्तु उसमें शिवा जी को कोई विशेष विजय प्राप्त नहीं हुई। खवासखाँ तो वहाँ हारा ही न था; उसकी वजारत के समय की विजय ही मुख्य विजय कही जा सकती है। यहाँ एक बात और भी विशेष ध्यान देने के योग्य यह है कि पीछे की विजयों का वर्णन छंद २०६ और २५४ में किया गया है; और पूर्व के युद्ध का उल्लेख छंद ३२८ में पीछे से किया गया है। यदि भूषण शिवा जी के दरबार में होते, तो ये वर्णन क्रम-बद्ध होते; श्रृंखलित दशा में न पाए जाते।

मोहकमसिंह

(१) "अमर सुजान मोहकम बहलोल खान खाँड़े, छाँड़े, डाँड़े उमराव दिलीसुर के" । (छंद नं० २३१) (२) "लिय धर मोहकमसिंह को अरु किशोर नृप कुम्भ ।" (छंद नं० ३५६) ये दोनों उदाहरण मोहकमसिंह को पकड़कर छोड़ देने की घटना का उल्लेख करते हैं ।

इस घटना के संबंध में शायद प्रेस की भूल से सन् १६७५ का १६५५ ईसवी हो गया है । ग्रान्ट डफ कृत मराठा इतिहास जिल्द १, परिशिष्ट पृष्ठ ११ में इस मोहकमसिंह का उल्लेख आया है । सलेहरे के युद्ध मे अमरसिंह (मोहकमसिंह का पिता) किलेदार था और मोहकमसिंह साधारण सा सरदार था । उस समय उसका घायल होना कोई विशेष महत्व नहीं रखता । यह घटना सन् १६७२ की है; परन्तु १६७५ में शायद यही मोहकमसिंह औरंगाबाद का गवर्नर था । प्रताप राव से उस समय बड़ा घमासान युद्ध हुआ था । मोहकमसिंह की भारी हार हुई जिसमें वह घायल होकर मर भी गया था । पूर्व युद्ध में वह केवल घायल हुआ और पकड़ा गया था । ग्रान्ट डफ के शब्दों में ही सुनिए—

Mohakama Singh—1675.

The first expedition against Shivaji after his coronation was headed by Mohakama Singh who had charge of Aurangabad. Mohakama Singh moved against him with ten thousand infantry and arrived about half way between Ahamadnagar and Poona. Shivaji sent Pratap Rao Guzar Sarnaubat with twenty thousand men. Mohkama Singh boldy attacked Pratap Rao. He was however killed and

his army defeated. A large amount of booty fell into the hands of the victor.

(Selections from Government Record, Maratha Period, Vol I. Part I p. 14.)

History of Marathas by James Grant Duff, Appendix, page XI.

भावार्थ—शिवा जी के राजतिलकोत्सव के पीछे उस पर प्रथम चढ़ाई औरंगाबाद के गवर्नर मोहकमसिंह ने १० हजार सवारों के साथ की। शिवा जी ने प्रताप राव गूजर के साथ २० हजार सेना मुकाबले पर भेजी! मोहकमसिंह ने तीव्रता से हमला किया; परन्तु वह लड़ाई में मारा गया और उसकी सेना बुरी तरह से हारी। बहुत सी लूट विजेता के हाथ लगी।

मोहकमसिंह के इन दोनों युद्धों में कौन सा युद्ध उल्लेखनीय है, पाठक स्वयं विचार कर सकते हैं। प्रथम युद्ध सलेहर में उसके बाप अमरसिंह के साथ हुआ था। उसमें वह साधारणतया घायल हुआ था। शिवराज भूषण छंद नं० ९७, २२५, २२६ और २९२ में सलेहर युद्ध का वर्णन है। उसमें मोहकमसिंह का कहीं उल्लेख नहीं है। उसका वर्णन स्वतंत्र युद्ध की भाँति अलग ही किया गया है। इसलिये अन्य कथन व्यर्थ है। और यहाँ यह भी विदित हो जायगा कि आँखों में किधर से धूल झोंकी जा रही है। यह घटना निर्माण-काल के दो वर्ष पीछे की है।

अतः यह घटना भी शिवराज भूषण के निर्माण काल से पूर्व की नहीं हो सकती। श्रीयुक्त यदुनाथ सरकार ने अपने शिवा जी नामक ग्रंथ में इस युद्ध का वर्णन नहीं किया है। उनके वर्णन में और भी कई ऐसी घटनाएँ नहीं पाई जातीं, जिनका उल्लेख ग्रान्ट डफ ने किया है।

आपने सरकार के इतिहास को नितांत शुद्ध मनवाने के लिये फारसी

तवारीखों आदि की दुहाई दी है। परन्तु इतिहासज्ञ मरहठों ने उनकी कई बातों का खंडन किया है। यहाँ हम यह भी कह देना चाहते हैं कि श्रीयुक्त यदुनाथ सरकार का वर्णन मरहठों के प्रति न्यायपूर्ण तो नहीं प्रतीत होता।

यदि हम इस घटना को आप के कथनानुसार ही मान लें, तो भी शिवराज भूषण का आपका कथित निर्माण काल प्रमाणित नहीं होता।

याक़ूतखाँ

छंद न० ६३ में याक़ूत खाँ का वर्णन है। छंद में है "आकुत महावत सों आँकुस लै सटक्यो।" इस पद के आक़ूत को याक़ूत मानने में आप आनाकानी करते हैं।

जब आप बिधनौल को बिदनूर, दलेल को दिलेरखाँ, सहादत या सादतखाँ को सआदत खाँ मान लेते हैं, तब आक़ूत को याक़ूत मानने से कैसे इन्कार कर सकते हैं?

इसमें कोई सन्देह नहीं कि उसी समय में दो तीन याक़ूत खाँ हुए हैं। परन्तु मरहठों से हारनेवाला याक़ूत खाँ कौन सा है, यह विचार करना चाहिए। आइए, समालोचक सम्पादक के विश्वस्त इतिहासज्ञ सरकार कृत शिवाजी से अन्वेषण करें।

पृष्ठ ३५१ में एक याक़ूत खाँ (सिदी संभोल) का वर्णन मिलता है, जिसको मरहठों ने हराया था और जो मैदान से भागकर किले में जा छिपा था। सरकार महोदय के शब्दों में ही सुनिए—

The Island had been besieged by Shivaji with a great force some months earlier (१६७६ के अंत में) the landing place at Janjira and two gardens outside the fort were stormed and Siddies were driven to seek refuge in a citedal on a height in the center of the Island. the place was wholly invested.

इससे स्पष्ट विदित होता है कि छंद ६३ इसी सम्बन्ध में कहा गया है। यद्यपि छंद से कोई बीजापुरी सरदार प्रतीत होता है, परन्तु सिद्दी भी बीजापुरियों का सहायक था। सिद्दी को औरंगजेब ने याक़ूत की उपाधि सन् १६७१ में दी थी। जूलाई सन् १६७३ के पूर्व मराठों से याक़ूत के युद्ध का वर्णन कोई इतिहास नहीं करता।

सफ़जंग

छंद १०३ में वर्णित सफ़जंग को सम्पादक महोदय विशेषण के रूप में मानते हैं। यही नहीं, जोरावर को भी खानदौराँ का विशेषण कहते हैं। परन्तु हमारी समझ में ये दोनों ऐतिहासिक व्यक्तियों के नाम हैं। संभव है, सफ़जंग सैफ़जंग ही हो। हम इस के लिये आग्रह नहीं करते; परन्तु इसे विशेषण रूप में मानना ठीक नहीं जँचता। फिर दुश्मन को कोई विशेषण देना तो अनुचित ही है। मिश्र बंधु महोदय ने भी सफ़-जंग का सफदर जंग ही मान लिया है (देखो शिवराज भूषण, ना० प्र० सभा का स०, पृष्ठ ३९ का नोट)। जोरावर को मिश्र बंधु महोदय का सिद्दी जौहर मानना भूल है। यह कोई भिन्न सरदार है। संभव है, कोई राजपूत राजकुमार हो। छंद का वह पद यह है—"लूट्यो खानदौरा जोरावर सफ़जंग अरु लह्यौ मार तलबखाँ मनहुँ अमाल है।"

खानदौराँ इतना अधिक प्रबल भी न था कि उसे ये विशेषण दिए जा सकते।

परनाला

हम यह मानते हैं कि प्रथम वार सन् १६६० में शिवा जी ने परनाला जीता था, परन्तु दूसरी वार शिवराज भूषण के समाप्ति-काल के समय ही लिया था। तीसरी वार सन् १६७६ में लिया था। इन तीनों युद्धों में से तीसरी वार ही अधिक युद्ध करना पड़ा था; और उसी में भारी विजय भी मिली थी, जिसमें आसपास का भी बहुत सा इलाका

कब्जे में आ गया था। कई घटनाएँ एक स्थान पर होती हैं और उनमें की कोई घटना निर्माण काल से पूर्व की मिल जाती हैं, तो सम्पादक जी बस उसी को लेकर प्रोफेसर सरकार की दुहाई देने लगते हैं। और तुरंत ओरिजिनल करेसपांडेन्स, फैक्टरी रेकर्डस और फारसी के बसातीन सलातीन का उल्लेख कर देते हैं। हम कहते हैं, कर्नाटक, वहलोल, बिदनूर, सितारा, तलवखाँ, दिलेरखाँ, खाँ जहाँ और बहादुर खाँ के संबंध भी तो सरकार के आधार पर निश्चित कीजिए। दो एक साधारण घटनाएँ अधिक सहायता नहीं दे सकतीं।

तलवखाँ

छंद १०३ में है—"लूटयो खानदौरा जोरावर सफजंग अरु लह्यो मार तलवखाँ मनहुँ अमाल है।" इस तलवखाँ का वर्णन हमने सम्पादकजी के विश्वस्त इतिहासकार सरकार कृत औरंगजेब से लिया है (देखो पौष १९८१ की माधुरी, पृष्ठ ७६८ का नोट)। सम्पादकजी ने एक कार-तलवखाँ भी खोज निकाला है; तथा मुझे प्राचीन प्रति दिखाने का भी उल्लेख किया है। वह प्रति प्राचीन तो न थी। हाँ, संवत १९४६ की लिखी हुई अवश्य थी; और सम्पादकजी के चचा ने लिखवाई थी। संभव है, उसमें खराद काम कर गई हो। क्योंकि प्राचीन प्रतियों में "लह्यो मार तलव खाँ" ही पाठ मिलता है और वह इतिहास से भी मिल जाता है, जैसा कि मैंने उल्लेख किया था। कारतलवखाँ पर शिवाजी की विजय का उल्लेख आप नहीं दिखला सके। यदुनाथ सरकार कृत शिवाजी के पृष्ठ ६३ में कारतलवखाँ का उल्लेख है। वह जुन्नार के पास निरीक्षक बनकर ठहरा था। इतिहास से कहीं पता नहीं चलता कि वह कभी मरहठों से लड़ा था। "लह्यो मार" का अर्थ आम तौर पर मार डालना ही होता है; पर अन्य रीति से कभी कभी दूसरा अर्थ भी लिया जा सकता है। चूँकि आपके मतलब का अर्थ

नहीं बैठता, अतः मनमाना अर्थ करना कोई उचित न समझेगा। सम्पादक जी को इस बात का ऐतिहासिक प्रमाण देना चाहिए कि कारतलबखाँ का कब, किससे युद्ध हुआ और उसका क्या फल हुआ। निराधार कथन कोई मूल्य नहीं रखता। अतः पूर्व वर्णन ही अधिक विश्वसनीय हो सकता है। कारतलबखाँ की कल्पना व्यर्थ सी जान पड़ती है।

सितारा

स्वयं सम्पादक जी लोगों को धोखा देते हैं और दोष हमारे सिर मढ़ा जाता है। सितारा शिवाजी ने सितंबर सन् १६७३ (आश्विन सम्वत् १७३०) में लिया था और ग्रंथ की समाप्ति श्रावण सम्वत् १७३० में ही हो गई थी। तो कम से कम यह घटना दो मास पीछे की तो अवश्य है। क्या एक संवत् बतलाकर लोगों को धोखा नहीं दिया गया ?

फिर शिवा बावनी में तो इसका कई बार उल्लेख आया है। इस पर आपका कथन और भी विचारणीय है। जब सम्वत् १७३० के श्रावण से पूर्व सितारा मरहठों के अधिकार में नाम मात्र भी न था, तब शिवा बावनी और शिवाराज भूषण में उसका उल्लेख होना ही न चाहिए। फिर कम और अधिक का प्रश्न ही क्या है ? इस पर भी आप लिखते हैं—"फिर भी विरोधी पक्ष एक विचित्र विचार शैली का अनुमान करता हुआ विचित्र बातें प्रगट करता है"। पाठक समझें कि ये विचित्र बातें मेरी हैं या सम्पादक महोदय की ! केवल लिख देने से ही विजय नहीं होती और न सत्य छिप सकता है।

दिलेरखाँ

दिलेरखाँ को जनवरी सन् १६७४ में शिवाजी ने हराया था। प्रोफेसर यदुनाथ सरकार अपनी शिवाजी की जीवनी पृष्ठ २६२ में लिखते हैं—

"Defeat of Dilerkhan June. 1674. But Shiva Ji stoped the paths by breaking the roads and Mountain passes and keeping a constant guard at various points where the route was most difficult, and Mughals had returned baffled.

फिर अंग्रेजी व्यापारियों के लेख का उद्धरण देकर उक्त प्रोफेसर साहब आगे लिखते हैं—Dilerkhan hath lately received a route by Shivaji and lost 1000 of his Pathans.

इस युद्ध से पूर्व कोई युद्ध शिवाजी का दिलेरखाँ से नहीं हुआ। शिवाजी का इसके साथ जो युद्ध हुआ था, उसका शिवराज भूषण में वर्णन किया गया है।

बहादुर खाँ से भी सम्वत् १७३० से पूर्व मरहठों का कोई युद्ध नहीं हुआ।

बखत बुलंद

शिवराज भूषण छंद नं० ११० मे बखत बुलंद का वर्णन आया है। वह छद यह है—

"बासव से बिसरत बिक्रम की कहा चली बिक्रम लखत बीर बखत बुलंद के। जागे तेज वृंद शिवाजी नरिंद मसनंद माल मकरंद कुल चंद साहिनंद के। भूषण भनत देस देस बैरि नारिन में होत अच-रज घर घर दुख दंद के। कनक लतानि इंदु, इंदु, माहिं अरबिंद, झर अरविदन ते बुंद मकरंद के।"

मैं स्वयं मानता हूँ कि "बखत बुलंद" विशेषण के तौर पर बहुत प्रयुक्त हुआ है। मतिराम ने भी ज्ञानचंद के लिये प्रयोग किया है—"सोहैं दल वृंद में गयंद पर ज्ञानचंद बखत बिलंद रही शोभा ऐसी बदि कै।" (देखो—अलंकार पंचाशिका)

परन्तु इससे मेरे कथन का आशय यही था कि "वखत वुलंद" शब्द विशेपण के तौर पर भी औरंगज़ेब के गोंड राजा को 'वखत वुलंद' की उपाधि देने से पूर्व कभी व्यवहृत नहीं हुआ। भूपण और मतिराम ने उस उपाधि के पीछे ही अपने आश्रयदाताओं के लिये यह विशेपण प्रयुक्त किया था। क्या सम्पादक महोदय कोई ऐसा उदाहरण दे सकते हैं जिसमें गोंड़ राजा के उपाधि प्राप्त करने से पूर्व भी किसी हिन्दी कवि ने अपने आश्रयदाता को इस वखत वुलंद नाम से संबोधित किया हो और वह भी हिंदू राजा को। ? यह तो एक दृढ़ प्रमाण है जो निर्माण काल पर अच्छा प्रकाश डाल सकता है। अव आप समझ गए होंगे कि मेरे कथन का क्या तात्पर्य है। वखत वुलंद का परिहास करने ही से वह पीछा नहीं छोड़ सकता, जब तक आप ठीक ढंग से शुद्ध उत्तर न दें। मनोरमा वर्प २, खंड १ जुलाई के पृष्ठ ३३४ में स्पष्ट रीति से जो संकेत किया गया है, क्या आपने उसका उत्तर देने का कष्ट उठाया है? यदि नहीं तो अव सोच लीजिए। मुझे तो कोई उदाहरण नहीं मिला। शायद आप को मिल जाय। इस उद्धृत छंद में तो यह 'वखत वुलंद' शुद्ध व्यक्तिवाचक रूप में है। फिर चाहे वह गोंड़ (राजा) के लिये हो और चाहे शिवा जी के लिये। इस छंद में मुझे तो 'वखत वुलंद' उसी गोंड़ राजा के लिये प्रयुक्त हुआ प्रतीत होता है। शिवा जी के लिये मानने से छंद में दो वार शिवा जी का नाम आ जायगा, जो दोप माना जा सकता है। परन्तु इस उपाधि का प्रचारक वही गोंड़ राजा है, जिसके नाम से आपको हँसी आती थी। पर अव तो आपको मानना पड़ेगा। वहुतों के विपय में तो आपने मौन ही धारण कर लिया है; क्योंकि उनका आपके पास कोई उत्तर ही नहीं।

आश्रयदाता गण

शिवराज भूपण छंद नम्बर २४९ में भूपण ने अपने आश्रयदाताओं का वर्णन किया है। वह छंद यह है—

"मोरँग जाहु कि जाहु कुमाऊँ सिरीनगरै कि कवित्त बनाये। बाँधव जाहु, कि जाहु कि जाहु अमेर कि जोधपुरै कि चित्तौरहि धाये। जाहु कुतुब्ब कि एदिल पै दीलीसहु पै किन जाहु बुलाये। भूषण गाय फिरो महि में बनिहै चित चाह सिवाहि रिझाये।"

इस छंद में मोरंग, कुमाऊँ, श्रीनगर, (अलमोड़ा) रीवाँ, जयपुर, जोधपुर, चित्तौर, बीजापुर, गोलकुंडा और दिल्लीपति का उल्लेख आया है। सम्पादक जी यह ग्रंथ सम्वत् १७३० में रचा हुआ मानते हैं। अतः देखना है कि उक्त स्थानों में कहाँ कहाँ कवियों का आदर होता था; क्योंकि आप इन्हें आश्रयदाता नहीं मानते। आइए, इस सत्यता का भी विचार कर डालें।

उक्त नामों में मोरँग के तो स्थान का ही पता नहीं; अतः वहाँ कवियों का कितना आदर होगा, यह विचारणीय है। न कोई ग्रंथ मिला और न छंद। और कुतुब्ब, एदिल तथा दिलीस, (औरंगजेब, जो उस समय बादशाह था) के यहाँ हिंदी का कितना आदर होता था और कवियों को कितना आश्रय मिलता था, सब को भली भाँति ज्ञात है। इसके विपरीत उसी समय बुंदेलखंड, महोबा, पन्ना, बूँदी, असोथर, कोटा, बीकानेर, जम्बू और भरतपुर में जो कवियों को आश्रय मिला हुआ था, उसकी अपेक्षा तो उक्त छंद में वर्णित सम्पूर्ण राज्यों में से कहीं भी कवियों का आदर नहीं होता था। बूँदी का और छत्रसाल के यहाँ का उल्लेख नहीं किया, यद्यपि स्वयं भी वहाँ गये थे। इसका कारण सम्पादक महोदय बतलाते हैं कि भूषण को यह साहस न हुआ कि उनका उल्लेख करते। यदि मैं भूषण की ऐसी कायरता का कभी उल्लेख करता, तो मुझे कई अपशब्दों का प्रयोग सुनने को मिलता। सौभाग्य से सम्पादक जी की इस सम्मति से मैं सहमत नहीं हूँ। भूषण ने स्वयं ही उल्लेख किया है कि साहू के पीछे ही मैं छत्रसाल से मिला था—"साहू को सराहौं कै सराहौं छत्रसाल को" स्पष्ट इस

घात की घोषणा करता है। साथ ही विरोधी पक्ष की इस युक्ति का भी खंडन हो जाता है कि उल्लिखित भेंट प्रथम बार की नहीं, दूसरी बार की थी। यदि प्रथम बार मिले होते, तो अवश्य छंद में उल्लेख पाया जाता। परंतु सम्पादक जी को यह तर्क पसंद नहीं, और न वे यह प्रमाणित होना देखना चाहते हैं। अतः तीसरे मार्ग का ही अवलंबन किया। प्रथम भेंट का आप के पास कोई प्रमाण नहीं है। मेरे विचार से दक्षिण जाने से पूर्व छत्रसाल से न मिलने का मुख्य कारण भी था। भूषण राष्ट्र और धर्म के भक्त थे; और छत्रसाल प्राणनाथ के चक्कर में फँसकर मुहम्मद के भक्त हो रहे थे। वे हिंदू धर्म के अज्ञात रूप से हटते जा रहे थे। प्राणनाथ के देहान्त पर ही छत्रसाल की हिन्दू-धर्म की ओर रुचि हुई। तभी भूषण छत्रसाल के दरबार में गए थे। भूषण के जाने तक छत्रसाल का राज्य खूब विस्तृत हो चुका था। आपने एक बड़ी ही विचित्र बात लिखी कि सम्वत् १७३० में उक्त सम्पूर्ण राज्य प्रस्तुत थे। मैं जानना चाहता हूँ कि मोरंग कहाँ था? बीजापुर और गोलकुंडा उसके १५ वर्ष पीछे तक प्रस्तुत थे; तथा उसके पीछे भी विशृंखलित दशा में ये राज्य कुछ न कुछ कायम रहे थे। श्रीनगर उसके पीछे बहुत काल तक रहा तथा शेष राज्य तो अब तक कायम हैं। यथार्थ में कवियों का सम्मान करनेवाले तो बूँदी, कमाऊँ, श्रीनगर, बुंदेलखण्ड, असोथर, भरतपुर, बीकानेर, जम्बू, जयपुर, जोधपुर, चित्तौर और रीवाँ राज्य ही मुख्य थे, जिनमें से उक्त छंद में केवल छ: का ही उल्लेख है। छ: मुख्य राज्यों का उल्लेख तक नहीं, यही तो ऐतिहासिक औचित्य का प्रमाण है! इसमें अनौचित्य के तो दर्शन ही नहीं होते। मिश्र बंधु महोदय इस छंद में यह ऐतिहासिक वर्णन पाते हैं कि कहाँ कहाँ भूषण गए थे। यही नहीं, अक्षर विज्ञान, कान्यकुब्ज इतिहास आदि के प्रसिद्ध लेखक पंडित रघुनंदन शर्मा की राय भी सुनिए। आपने कान्यकुब्ज के इतिहास, पृष्ठ ८३ में उक्त छंद के संबंध में वर्णन करते हुए इसकी अच्छी आलोचना की है और कान्यकुब्ज इति-

हास के पृष्ठ ८९ में इसी संबंध में लिखा है—"हमने जो ऊपर उनका कार्यक्रम लिखा है, संभव है कि उसमें कुछ उलट फेर हो। पर इसमें संदेह नहीं कि भूषण जी उन स्थानों में अवश्य गए थे जिनका वर्णन किया गया है।"

इस सम्बन्ध में विचारवान् पुरुष, जिन्होंने इस विषय पर विचार किया है, अवश्य सहमत हैं। रही सार देखने की बात। सो शायद आपको भविष्य में भी न दिखाई देगा। हम यह कह सकते हैं कि शिवराज भूषण का निर्माण काल सम्वत् १७८० चाहे ठीक न हो, कुछ काल पूर्व हो, परन्तु संवत् १७३० में निर्माण काल होना कदापि संभव नहीं। वह अवश्य संवत् १७६५ के पीछे का है। सम्वत् १७६८ में भूषण बांधव नरेशके दरबार में गए थे, जिसका उल्लेख उक्त छंद में है। संवत् १७७५ में कालिदास हजारा की रचना हुई, जिसमें भूषण के ७० छंद आप बतलाते हैं। जब तक उन छंदों का पता न चले, हम उनके संबंध में कुछ नहीं कह सकते।

संवत् १७७५ विक्रमी से पूर्व रचना काल मानने से ही शिवराज भूषण का रचना काल संवत् १७३० नहीं हो सकता। अब तक विरोधी पक्ष ने ऐसा एक भी उदाहरण नहीं दिया, जिससे भूषण का संवत्-१७३० विक्रमी से पूर्व वर्तमान होना पाया जाय।

आपने अंतरंग और बहिरंग प्रमाणों की दुहाई दी है। इसके संबंध में हम कई बार लिख चुके हैं कि शिवराज भूषण की रचना प्रत्यक्ष-वर्तमान काल की सी नहीं है। उदाहरण के लिये सूदन कवि का सुजान चरित्र और लाल कवि का छत्र-प्रकाश है, जो उसी समय वर्तमान थे।

क्या सम्पादक महोदय बतला सकते हैं कि उक्त अंतर का क्या कारण है? भूषण के वर्णन में कोई क्रम नहीं है। भिन्न भिन्न युद्धों की कई कई घटनाएँ एक एक छंद में दे दी गई हैं, जिनका कहीं कोई नियमित संबंध नहीं है। पूर्व की घटनाएँ पीछे और पीछे की घटनाएँ पहले

असंबद्ध दशा में दी गई हैं। साहित्य-रक्षक होने से ही कोई किसी दरबार में नहीं माना जा सकता, यदि इतिहास उसके पक्ष में न हो। यहाँ तो इतिहास का अत्यन्त विरोध पड़ता है। जो छंद वर्तमान कालिक कहे हैं, वे शिवा जी को ईश्वर मानकर ही कहे गए हैं। शिवराज भूषण में पचासों छंद ऐसे हैं जिनमें शिवा जी को ईश्वर, ब्रह्म, राम, कृष्ण, शिव और गणेश आदि का अवतार बतलाया है।

ऐसी दशा में स्वाभाविक है कि उन्हें तीनों काल में वर्तमान माना जाय। चूँकि उनकी नीति को भूषण देश और धर्म के अनुकूल समझते थे, उन्हें जाति और धर्म का रक्षक मानते थे और उनके यशोगान द्वारा देश तथा जाति का कल्याण समझते थे, इसी लिये उनको सन्मुख मानकर रचना की। यश विस्तार के लिये आशीष और प्रार्थना की, उनके यशस्वी शरीर के युग युग जीने का आशीर्वाद दिया और उनकी कार्य प्रणाली को ठीक मानकर आदर्श रूप में वर्णन किया है। इन प्रमाणों से कभी यह बोध नहीं होता कि दोनों साथ साथ थे; अपितु अनुपस्थिति के ही विशेष प्रमाण पाए जाते हैं। यदुनाथ सरकार ने यह बात स्वीकार की है कि शिवाजी के काल में हिन्दुओं की दशा वैसी ही थी, जैसी भूषण ने वर्णन की है। वही दशा बाजीराव के समय तक भी रही थी। यदि किसी के समय का चित्र पूर्णतया खींचा जा सकता है, तो उसके रहने के पीछे ही। अर्द्ध जीवन चरित्र कदापि पूर्ण विश्लेषण में नहीं आ सकता, मुख्यतः ऐसी दशा में जब कि उत्तम आधा भाग नहीं हो, जो निर्माण से पीछे का है। शायद ही कोई ऐसी प्रसिद्ध घटना बताई जा सकती हो जो शिवराज भूषण में न हो। इसके विरुद्ध बहुत सी प्रसिद्ध घटनाएँ जो भूषण के शिवाजी के दरबार में वर्तमान बतलाते हुए भी छूट गई हैं; गिनाई जा सकती हैं। (१) शिवाजी और छत्र-साल की भेंट का भूषण ने कहीं वर्णन नहीं किया। (२) भूपति सिंह पँवार के पुरंदर किले में मारे जाने, (३) रजी उद्दीन खाँ को सन्

१६७० में किले में क़ैद करने, (४) १६७१ में महाबतखाँ की हार होने और (५) विक्रम शाह से राज्य छीनने का कोई वर्णन नहीं। ये घटनाएँ १६७० ईसवी से १६७२ ईसवी तक की हैं। परन्तु इनका कहीं उल्लेख नहीं पाया जाता। भूषण की आँखों के सामने ये बड़ी बड़ी घटनाएँ हों और कोई उल्लेख न हो, यह कभी संभव नहीं।

इसी प्रकार के और भी कुछ उदाहरण दिए जा सकते हैं। इनमें से दो एक पर तो श्रीयुक्त मिश्र बंधु महोदय और सम्पादकजी ने स्वयं संदेह प्रकट किया है।

सब जानते हैं और कहते हैं कि भूषण का मरहठों के यहाँ अत्यधिक सम्मान था। छंद में भी वैसा ही उल्लेख है। एक छंद में भूषण ने अपने को भृगु के समान बतलाया है। देखिए--

"तुम शिवराज बृजराज अवतार आजु तुमही जगत काज पोषत भरत हौ। तुम्हें छाँडि याते काहि बिनती सुनाऊँ मैं तुम्हरे गुन गाऊँ तुम ढीले क्यों परत हौ। भूषण भनत वहि कुल में नयो गुनाह नाहक समुझि यह चित में धरत हौ। और बामननि देखि करत सुदामा सुधि मोहिं देखि काहे सुधि भृगु की करत हौ॥"

विरोधी पक्ष भी इस छंद को यथार्थ दशा का द्योतक नहीं मानता; क्योंकि यह कभी संभव नहीं कि भूषण सुदामा की तरह दीन हों और भृगु की तरह क्रोधी माने जायँ। यह केवल स्मृति के लक्षण के लिये बनाया गया है। शिवाजी कभी उदारतादि में हीन नहीं पड़े। इसी प्रकार विरोधी पक्ष के दिए हुए प्रमाण भी इसी अर्थ के द्योतक हैं।

रहा भूषण का कथन उसके समय का परिचायक, सो वह पीछे भी वर्णन किया जा सकता है। बाजीराव पेशवा और साहू के समय में भी वैसी ही दशा थी। मुद्रा राक्षस का वर्णन यथार्थ में विक्रम से २५० वर्ष पूर्व का था। परन्तु लगभग वही दशा पाँचवीं शताब्दी में भी थी।

भूषण के समय की परिस्थित हिन्दुओं के लिये आज भी वही

दृश्य दिखला रही है। सम्पादक महोदय ने एक बात बड़ी विचित्र कही है कि शिवाजी को रामायण और महाभारत की कथाएँ सुनने का बड़ा शौक था। इसी से शिवराज भूषण में रामायण और महाभारत के पात्रों की तुलना शिवाजी से की है।

इसके सिवा शिवराज भूषण छंद २२८ में शिवाजी की ब्रह्मा, विष्णु और शिव से भी तो तुलना की है। इससे विदित हुआ कि शिवा जी को पौराणिक कथाओं से भी रुचि थी। कहीं उन्हें हरि,विष्णु और कहीं त्रिपुरारि बतलाया है। अतः उन्हें विष्णु पुराण अथवा शिव पुराण का भी प्रेमी होना चाहिए। (देखो छंद नम्बर ३१३,३१९, ३२२ आदि) आपने कहा है कि यदि मैं भूषण को शिवाजी से पीछे का मानता हूँ, तो मैं उन्हें जालिया ठहराता हूँ—चाहे मैं उन्हें आदर्श-चरित रचने-वाला देशोद्धारक ही मानूँ।

आप की राय से पंडित रघुनंदन शर्मा जी भी उन्हें जालिया मानते हैं; क्योंकि उन्होंने भूषण को देशोद्धारक माना है तथा छंद २४९ में उनके आश्रयदाताओं का उल्लेख होना माना है। संभव है, आगे चलकर और भी बहुत से लोग जालिया मानने लगें, और तब आप की श्रद्धा बिलकुल हट जायगी। यदि ऐसी ही श्रद्धा है, तो उसका हटना ही अच्छा है। साधारण जनता दिन पर दिन अधिक श्रद्धा करेगी। मैं तो जानता हूँ, आदर्श चरित का यथार्थ रूप प्रकट होने से लोगों की श्रद्धा बढ़ेगी ही। और रुपए के लालच से कथन करने की अपेक्षा प्रेम की भावना से कथन कहीं उत्कर्ष माना जाता है; इसी से उनका इतना सम्मान हुआ।

महाराज जयसिंह

"भले भाई भासमान ...." आदि।

इस कविता का उल्लेख पूर्व लेखों में किया जा चुका है। हमारा विचार है कि यह छंद सवाई जयसिंह के लिये ही बनाया गया है। विरोधी पक्ष इसे मिरजा जयसिंह के लिये रचा बतलाता है। यही नहीं, पहले तो

आपने कह दिया कि यह भूषण का ही नहीं है; परन्तु भूषण की विशेषता छिपाने से नहीं छिपती। इसका ऐतिहासिक वर्णन स्वयं कहता है कि यह सवाई जयसिंह के लिये ही रचा गया है। नागरीप्रचारिणी पत्रिका भाग ६, संख्या १ में जो वातें इस संबध में प्रकाशित हुई हैं, सम्पादक जी ने उनका कुछ उत्तर नहीं दिया। केवल इतना कह दिया है कि हमें विरोधी पक्ष की तर्कावली में सार नहीं दिखलाई पड़ता। बस समाप्त हो गये सब प्रमाण। हम सम्पादक जी से निवेदन करते हैं कि वे इसका अर्थ प्रकट करने का कष्ट उठावें। फिर इतिहास से उसकी संगति भी मिलाने की कृपा करें, तो इस संबंध का सारा झगड़ा सुगमता से निपट जायगा।

जयपुर महाराजाओं के संबंध में जो कवित्त कहा गया है, विरोधी पक्ष उसे रामसिंह के लिये मानता है। यथार्थ में भूषण ने जयसिंह के दरबार में उनके पूर्वजों की प्रशंसा की है; नहीं तो क्या रामसिंह के लिये केवल यह संयुक्त छंद ही बन सकता? अवश्य कुछ और भी छंद बने होते। मिर्जा जयसिंह के लिये तो औरंगजेब के पक्षपाती होने से उन्होंने स्पष्ट मिर्जा उपाधि का प्रयोग किया है। सम्पादक जी और याज्ञिक जी ने सब से अधिक जोर इस बात पर दिया है कि भूषण रामसिंह के दरबार में थे और वे संवत् १७४६ से पूर्व वर्तमान थे। यदि हम मान भी लें कि भूषण रामसिंह के दरबार में थे और उन्हीं के लिये यह छंद बनाया गया, तब भी भूषण इससे १६ वर्ष पूर्व कविता करते नहीं पाए जाते; और शिवा जी के दरबारवाली समस्या ज्यों की त्यों कायम रहती है। ज्ञात नहीं, विरोधी पक्ष रामसिंह के पिता मिर्जा जयसिंह के दरबार में भूषण के प्रस्तुत रहने की बात पर क्यों अधिक जोर नहीं देता, जिसका कि उसके पास प्रमाण भी है? यथार्थ दशा वैसी नहीं है, जैसी विरोधी पक्ष मानता है। उसे स्वयं अपने पक्ष मे संदेह है। मैं पूर्व ही कह चुका हूँ कि भूषण की कविता सम्मुख

प्रस्तुत रहने की भाँति कही गई है, चाहे उसमें परोक्ष के ही वर्णन क्यों न हों। दारा शाह और जहाँदार शाह के विषय में भी विरोधी पक्ष यथार्थ बात छिपाना चाहता है। मैंने स्वयं कहा था कि दारा शाह की विजय का वर्णन किस युद्ध का है, बतलाना चाहिए। आपने बीसियों साधारण युद्धों का जिक्र कर दिया, पर स्पष्टीकरण एक का भी नहीं किया। मैं चाहता हूँ कि वह सबसे पिछले युद्ध का नाम ले दें, जिसमें इस छंद का वर्णन पाया जाय। फिर किसी हिंदू राजा का भी नाम देना चाहिए जो भूषण का आश्रयदाता हो, जिसके द्वारा उनकी दरबार में पहुँच हो सकी हो। परन्तु विरोधी पक्ष इस संबंध में नितांत मौन धारण किए हुए है। जहाँदार शाह के दरबार में राव राणा बुद्धसिंह दीवान थे जो काव्य-रसिक और साहित्य-प्रेमी थे। अतः उनके द्वारा जहाँदार शाह के यहाँ जाना ही अधिक संभव है। विरोधी पक्ष 'जहाँ' शब्द को बिलकुल हजम करना चाहता है और एक मात्रा की भूल पर व्यर्थ का वितंडावाद कर रहा है। उसके संबंध की सम्पूर्ण घटनाओं पर विचार करने को वह तैयार नहीं। एक मात्रा की भूल नकल में हो जाना संभव है। अतः हम मक्खी के स्थान पर मक्खी रखना भी उचित नहीं समझते।

हमने कभी इसमें शब्द-परिवर्तन-चातुर्य नहीं किया और न करना चाहते हैं। यथार्थ बात कह देना शब्द-चातुर्य नहीं कहलाता। यह चातुर्य तो प्रत्येक पद पर सम्पादक महोदय ने ही दिखलाया है।

चिंतामणि के संबंध में भी वही बात है। जब तक हम याज्ञिक जी के उस लेख को देख न लें, तब तक उत्तर नहीं दिया जा सकता। बाजीराव पेशवा के संबंध में जो छंद है, उसे भी अब तक सब लेखकों ने पेशवा के लिये ही माना है। घटना भी यही बतलाती है। शिवसिंह सरोज में भी 'बाजी' शब्द स्पष्ट है, जो बाजीराव के ही लिये आया है। अच्छा होता यदि सम्पादक महोदय यह भी बतला देते कि 'बाजी' का क्या अर्थ है और वह छंद में किस प्रकार बैठता है।

इसी छंद में नहीं, शिवराज भूषण के स्फुट छंद नं० ७ और शिवाबावनी छंद ४६ में भी "सिरौंज लौं परावने परत" पद साहू और बाजीराव दोनों की प्रशंसा में है। साहू कभी युद्ध पर नहीं गया। उसकी ओर से बाजीराव की सेना के पड़ाव ही सिरौंज पर पड़े थे। ग्रांट डफ ने भी अपने इतिहास में सिरौंज के पड़ाव पर बाजीराव के ठहरने का उल्लेख किया है। भूषण ने सितारा का अनेक बार उल्लेख किया है। और यदुनाथ सरकार तथा ग्रांट डफ दोनों इतिहासकारों ने इसका साहू की राजधानी रूप में वर्णन किया है। इस संबंध में शिवराज शतक में कुछ नए छंद भी दिए हैं; परन्तु समालोचक सम्पादक की प्रबल इच्छा है कि भूषण के सब छंद साहू और बाजीराव के संबंध के लुप्त हो जायँ या प्रमाणित कर दिया जाय कि वे भूषण कृत नहीं; अथवा साहू और बाजीराव से उन छंदों का संबंध विच्छेद कर दिया जाय। पर दुर्भाग्य से भूषण के आश्रयदाता इन दोनों से भी पीछे के प्रमाणित होते जाते हैं।

विरोधी पक्ष के लाख प्रयत्न करने पर भी भूषण का एक भी आश्रयदाता दारा शाह या समकालीन न मिल सका। यही नहीं, बल्कि भूषण का आश्रयदाता कोई अन्य राजा शिवाजी का समकालीन तक नहीं मिला।

सम्पादक महोदय खींचतान कर लोकनाथ चौबे को संवत् १७५२ के लगभग "भूषण निवाज्यो जैसे साहू महाराज जू ने" वाला छंद रचते हुए देखना चाहते हैं। परन्तु दुर्भाग्य से यह मनोकामना पूरी होती हुई दिखाई नहीं देती। उक्त छंद में "बुद्धसी दिवान लोकनाथ कविराज कहै" पद उनकी इस इच्छा का बाधक है। यह दीवान पद बुद्धसिंह को संवत् १७६५ के पीछे मिला था। अतः संवत् १७५२ में उक्त छंद की रचना बतलाना कभी ठीक नहीं है। भूषण और लोकनाथ

की भेंट भले ही हुई हो; परन्तु शिवराजभूषण के निर्माण-काल तक यह भेंट नहीं हुई थी।

शिवराज भूषण के छंद २४९ में आश्रयदाताओं की सूची में बूँदी का उल्लेख नहीं है। पाठकगण समझ गए होंगे कि विरोधी पक्ष किस प्रकार निरर्थक आधार पर अपने प्रमाण की भित्ती खड़ी करता है और मुझे धोखेबाज आदि शब्दों से भी संबोधित करता है। इसके संबंध में मुंशी देवीप्रसाद तथा अन्य लेखकों की दुहाई देना व्यर्थ है। ये कवियों के इतिहास से उतने परिचित न थे, जितने राजनीतिक इतिहास से। उन्होंने इस प्रकार का विचार भी नहीं किया था।

भूषण कवि के जितने आश्रयदाता हुए हैं, उनकी सूची मय सन् संवत् के कई बार दी जा चुकी है-(१) रुद्रराम, (२) अवधूतसिंह, (३) ज्ञानचन्द्र, (४) छत्रसाल, (५) साहू, (६) रावराजा बुद्धसिंह, (७) सवाई जयसिंह, (८) जहाँदार शाह, (९) बाजीराव पेशवा, (१०) चिमनाजी (चिन्तामणि), (११) भगवंतराव खीची, (१२) अनिरुद्धसिंह पौरच और (१३) फतह शाहि की प्रशंसा में भी भूषण कृत एक दो छंद पाए गए हैं। इन आश्रयदाताओं से निश्चित है कि भूषण की कविता का काल संवत् १७५७ विक्रमी के लगभग से प्रारम्भ है।

सम्पादक महोदय मतिराम-भूषण के संबंध में भी नितांत मौन हैं। पंडित श्रीयुत मयाशंकर जी याज्ञिक की सम्मति हम पूर्व ही प्रकाशित कर चुके हैं। विरोधी पक्ष ने अपने बीस पृष्ठों के लेख में कोई महत्व-पूर्ण बात नहीं कही। नई खोज करके भी इस संबंध में स्पष्ट उदाहरण प्रस्तुत करने का कोई प्रयत्न नहीं किया। बहुत सी बातों का उत्तर अब तक नहीं दिया गया है। दिलेरखाँ, खाँजहाँ, बहादुरखाँ आदि के विषय में आप कोई उत्तर न दे सके। सितारागढ़ के विषय में तो नितांत मौन धारण कर लिया है।

मनोरमा के पृष्ठ ३३३–४ मे हमने कुछ नए प्रमाण दिए थे। शिवा बावनी के ४४ वे छंद में मोरंग और कुमाऊँ भागने की घटना संवत् १७५० के लगभग की है। इसका भी कुछ उत्तर विरोधी पक्ष ने नहीं दिया। सिरौंज का वर्णन शिवा बावनी के छंद नंबर ४६ और स्फुट नंबर ७ में आया है। यह घटना बाजीराव पेशवा के समय की है। इसका भी कुछ उत्तर विरोधी पक्ष न दे सका। नागरीप्रचारिणी पत्रिका और मनोरमा में प्रकाशित बहुत सी ंकाओं का भी अभी तक समाधान नहीं किया जा सका है।

हमारा पूर्ण विश्वास है कि शिवा ज के दरबार में भूषण कदापि नहीं पहुँचे। साहू के दरबार में उनका पहुँचना निश्चित है। अतः जब तक कोई सुदृढ़ प्रमाण न मिले, विरोधी पक्ष की बातों को मानने के लिये हम प्रस्तुत नहीं; और न अब तक कोई बात ऐसी कही गई है, जिसका कोई सुदृढ़ प्रमाण हो।

ज्ञात हुआ है कि बखारों में भूषण का कुछ उल्लेख है। श्रीयुत पंडित रघुनंदन शर्मा जी ने भी अपने "कान्यकुब्ज का इतिहास" में इसका उल्लेख किया है। परन्तु यह निश्चित है कि बखारों में भी कुछ प्रामाणिक और कुछ अप्रामाणिक बातें सन्निविष्ट हैं। बखारों में भी कई भेद हैं। जैसे चिटनवीस, सभासद आदि। उनमें से किसमें भूषण का किस प्रकार वर्णन पाया जाता है, यह देखने पर उसकी भी मीमांसा की जायगी। *यदि यह प्रमाणित हो जाय कि भूषण शिवा जी के दरबार में थे, तो हम* सहर्ष मानने को तैयार हैं। परन्तु विरोधी पक्ष अभी तक एक भी प्रमाण नहीं दे सका। अतः हमारा सिद्धांत पूर्ववत् स्थिर है; और ज्यों ज्यों अधिक विश्लेषण किया जाता है, विचार में दृढ़ता आती जाती है।

विद्वानों से हमारा सविनय निवेदन है कि वे इस पर विचार करें।

---

(१४) आख्यानक काव्य

(लेखक—बाबू सत्यजीवन वर्म्मा एम० ए० काशी।)

आख्यान या उपन्यास हमारे गद्य साहित्य में नई वस्तु है; पर प्राचीन समय ही से हमारे साहित्य में अन्य विषयक काव्यों के साथ साथ आख्यानक काव्य भी पाए जाते हैं। हाँ, इतना अवश्य है कि उनकी संख्या अन्य विषयक काव्यों की अपेक्षा बहुत ही न्यून है। हमारे साहित्य का जन्म उस अन्धकारमय ऐतिहासिक काल में होता है, जिस समय उत्तरापथ की राजनीतिक अवस्था बहुत ही अव्यस्थित थी। सम्राट् हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् उसका विशाल साम्राज्य छिन्न भिन्न हो गया और उसके ध्वंसावशेष पर अगणित क्षुद्र, अल्प-कालिक शक्तियों का प्रादुर्भाव हुआ, जिनका प्रकाश अल्प काल ही में अराजकता के अन्धकार में विलीन हो गया। इस प्रकार प्रायः एक शताब्दी तक उत्तरीय भारत में कोई नियमित शासन न था। इतिहास-लेखकों ने इस काल को 'Dark Period' कहा है। इसी 'अन्धकारमय युग' में एक नवीन शक्ति का सूत्रपात हुआ, जो आगे चलकर अपने प्रबल प्रकाश से उस अराजकता के घोर तिमिर को कुछ काल के लिये हटाने में समर्थ हुई। यह शक्ति 'राजपूत शक्ति' थी। राजपूताने में बसनेवाली इस लड़ाकू जाति ने अपने बाहु-बल से घरेलू उपद्रवों को शांत कर क्रमश. राजदण्ड वहन करने का अधिकार प्राप्त किया और एक ही शताब्दी के भीतर उसने उत्तरापथ के भिन्न भिन्न स्थानों में अपना शासन-केन्द्र स्थापित कर लिया।

राजपूत पीछे से आई हुई बाहरी जाति के थे जो कुछ काल से आकर राजपूताने में बस गए थे। क्रमशः शक्ति सम्पन्न होने पर जब

उन्हें शासन का भार उठाना पड़ा, तब जनता पर अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये उन्हें अपने वंश की प्राचीनता तथा पूर्व पराक्रम का प्रमाण उपस्थित करना आवश्यक जान पड़ा, जिसके हेतु उन्हें अपने पूर्वजों का संबंध 'रामायण' और 'महाभारत' के वीर क्षत्रिय योद्धाओं से जोड़ना पड़ा। यदि वे ऐसा न करते, तो हिन्दू जनता, जो सदा से क्षत्रियों ही को शासन का अधिकारी समझती थी, एक अक्षत्रिय 'अज्ञात कुलशील' जाति के आधिपत्य में रहना अपना अपमान समझती। राजपूत अक्षत्रिय थे। भारतीय हिन्दू जनता में सम्मान पाने के लिये उन्हें अपने वंश का संबंध प्राचीन क्षत्रिय वीर पुरुषों से दिखाना आवश्यक हो गया था। इस कार्य्य के लिये चारण और भाट उपयुक्त ठहरे। इन लोगों ने अपने आश्रयदाताओं की वंश-परम्परा तथा उनके वीरोचित पराक्रमों का गीत गाना आरंभ किया। जनता के समझने के हेतु यह आवश्यक था कि इन राजपूतों की विरुदावली बोलचाल की भाषा में होती। हमारे साहित्य की उत्पत्ति का यही एक मुख्य कारण था। राजपूत दरबार में उत्पन्न होकर हिन्दी साहित्य उनकी वीर गाथाओं पर अपना जीवन निर्वाह करने लगा।

राजपूतों के उत्थान के साथ साथ उनके पतन का भी बीज पड़ चुका था। पहले पहल सिंध पर मुसलमानों का आक्रमण ईसवी सन् की आठवीं शताब्दी के आरंभ ही में हो चुका था। दो शताब्दी पश्चात् १० वीं शताब्दी के उत्तरार्द्ध में उनका आक्रमण पुनः आरंभ हुआ। राजपूत राजाओं की शांति भंग हुई। उन्हें एक विदेशीय शक्ति का सामना करना पड़ा; और इस प्रबल यवन शक्ति का मुख मोड़ने के लिये नवीन उत्साह और साहस की आवश्यकता हुई, जिसे तीव्र करने के लिये चारणों और वंदीजनों ने वीर रस से सिक्त उत्साहवर्धक वीर-गाथाओं की रचना की। उनका यह प्रयत्न बढ़ती हुई यवन शक्ति का मुख मोड़ने के लिये राजपूतों को उत्तेजित करने में बहुत कुछ सफल

हुआ। एक बार फिर उत्तरापथ में शताब्दियों तक वीर रस का प्रबल प्रवाह बहता रहा। यह युग घोर संघर्षण और संग्राम का था। यही कारण है कि हमारे साहित्य का आरंभ काल वीर गाथाओं से भरा पड़ा है, जिनके रचयिता भाट या चारणगण हैं।

राजपूत रणोन्मत्त होकर अपने शत्रुओं को मार निकालने तथा अपनी शक्ति बढ़ाने के उत्साह में इस घोर संघर्षण और संग्राम में बहुत वीरता के साथ बढ़े। पर भारत के भाग्य में कुछ और ही देखना बदा था। राजपूतों की शक्ति का संघटन न हो सका, उनका दिनों दिन ह्रास होने लगा। आपस की घरेलू कलहों ने नवागन्तुकों को अच्छा अवसर दिया। क्रमशः यवनों के पैर जमने लगे। दिन पर दिन उनकी शक्ति बढ़ने लगी। हिन्दू शक्ति और हिन्दुओं की वीरता तथा पराक्रम घटते घटते राजपूताने की परिमित सीमा में जा छिपे। एक बार उत्तरापथ भयानक काण्ड का घटना स्थल हुआ। धीरे धीरे यवनों ने राजपूत राज्यों के स्थान पर अपने राज्य की नीव डाली और भारत पर एक विदेशी तथा विधर्मी जाति का शासन-जाल फैलने लगा।

मुसल्मानों की राजनीतिक सुव्यवस्था होने पर भी हिन्दू समाज को सुख और शान्ति न मिली। इसका मुख्य कारण यह था कि मुसल्मानों का हार्दिक उद्देश्य शासन की आड़ में इसलाम धर्म का प्रचार करना था। अन्य धर्मावलंबियों को बलात्कार अपने मत में लाने में ये लोग अपनी जाति तथा धर्म का कल्याण समझते थे। हिन्दुओं का प्राणों से प्यारा प्राचीन धर्म बड़े संकट में था। अपने धर्म की रक्षा के हेतु इन्हें नाना प्रकार की यातनाएँ भोगनी पड़ती थीं। वास्तव में हिन्दू जाति के लिये यह समय बड़ी विपत्ति का था। वे निरवलंब और निराश्रय हो रहे थे। उन्हें चारों ओर निराशा और अंधकार ही दिखाई पड़ता था। आशा और अवलंब की कहीं झलक भी नहीं देख पड़ती थी। इसका एक कारण यह भी था कि हिन्दुओं का परम्परागत प्राचीन

आर्य्य धर्म जीर्ण शीर्ण हो गया था। कई शताब्दियों के निरन्तर राजनीतिक उलट फेर तथा अविद्या के अंधकार में पड़कर वे अपने प्राचीन धर्म के मुख्य सिद्धान्तों से अपरिचित हो गए थे। हिन्दू धर्म की परिभाषा केवल खान पान तथा घरेलू आचार विचार में परिमित हो गई थी। इन्हीं गिने गिनाए लोकाचारों के आधार पर खड़े हुए हिन्दू धर्म को मुसल्मानों ने बड़ी हानि पहुँचाई। केवल चोटी और जनेऊ के कट जाने से, विधर्मियों का स्पर्श किया हुआ जल पीने से ही हिन्दू धर्मच्युत होने लगे। ज्ञान, उपासना और कर्म के आधार पर टिका हुआ प्राचीन हिन्दू धर्म विधर्मियों के स्पर्श मात्र से छुई मुई की भाँति मुरझाने लगा।

ऐसे समय में 'भक्ति-मार्ग' के प्रतिपादक महात्माओं ने उनकी रक्षा की। उन्होंने हिन्दू समाज को 'भक्ति' का पाठ पढ़ाया, जो धर्म का मुख्य अंग था। अब हिन्दू जनता को ज्ञात होने लगा कि किसी धर्म का अस्तित्व केवल आचार विचार ही पर नहीं होता, वरन् उसके सुदृढ़ होने के लिये उसकी नीव बहुत गहरी भक्ति और ज्ञान तक जानी चाहिए। अब उनको यह सूझ पड़ा कि धर्म केवल कुछ इने गिने लोकाचारों का समूह मात्र नहीं है, वरन् उसकी नीव ज्ञान और विश्वास पर स्थिर है, जिसे कोई केवल पाशविक बल से नहीं हिला सकता।

हमारे हिन्दी साहित्य का माध्यमिक काल विशेषतः उन्हीं 'भक्ति मार्ग' के प्रतिपादक महात्माओं की कृतियों का इतिहास है। इस काल का हमारा साहित्य भण्डार इन्हीं 'भक्ति-मार्ग' के भिन्न भिन्न सम्प्रदायों के महात्माओं के उपदेशों का संग्रह है। धार्मिक तथा राजनीतिक स्थिति के सुधरने पर कवियों का ध्यान आख्यान और शृंगार की ओर झुका। पीछे मुसल्मानी दरबार के विलासिता तथा उच्छृंखलता को प्राप्त होने पर हमारे साहित्य में भी विलासिता तथा उच्छृंखलता आ गई। काव्य अपना सच्चा स्वरूप भूलकर बाहरी ठाठ-बाट के फेर में पड़ गया। कुछ दिन पश्चात् यवन शक्ति के तिरोहित होने के साथ साथ वह भी अंधकार में

विलीन हो गया। यह दशा हमारे साहित्य की विक्रमीय १४ वीं से १७ वीं शताब्दी के बीच में हुई। इसके बाद अंग्रेजी राज्य का उत्थान प्रारंभ हुआ। उसके साथ साथ हमारे साहित्य में गद्य काल का उदय हुआ। प्राच्य और प्रतीच्य के सम्मेलन के साथ साथ आध्यात्मिकता और भौतिकता का घोर द्वन्द्व आरंभ हुआ। इस द्वंन्द के परिणाम स्वरूप भाव, विचारादि में भी परिवर्तन हुआ। हमारा साहित्य का प्रवाह एक नवीन धारा में बहने लगा, पद पद पर जिसके हम स्वयं साक्षी हैं।

ऊपर के सारे कथन का सारांश यह है कि प्रारंभिक काल में हमारे साहित्य में वीर गाथाओं की प्रधानता रही और माध्यमिक काल में धार्मिक ग्रंथों की प्रचुरता। इसी माध्यमिक काल में हमारा साहित्य अपनी परिपक्वता को प्राप्त हुआ। इस काल में कवियों ने अपनी प्रतिभा द्वारा हिन्दी का ऐसा मनोहर स्वरूप उपस्थित किया, जो अभी तक लोगों के मन को मोह लेता है। इसी काल में राम और कृष्ण के चरित्र गान के प्रबल प्रवाह के बीच में आख्यानक काव्य भी प्रौढ़ता को प्राप्त हुआ। इसी काल में 'आख्यान' के अद्वितीय कवि मलिक मुहम्मद जायसी हुए, जिन्होंने बोलचाल की भाषा में 'पद्मावती' नामक अनुपम और अत्यन्त सुन्दर ग्रंथ की रचना की।

आख्यानक काव्य की रचना बहुत पहले ही आरंभ हो चुकी थी। जैसा कि अन्य देशों में पाया जाता है, आख्यान पहले पहल प्रचलित दन्त कथाओं के आधार पर खड़ा होता है। ये दन्त कथाएँ कुछ अंशों में काल्पनिक होती हैं। धीरे धीरे साहित्य की वृद्धि के साथ साथ उत्साही कविगण उनके आधार पर सुन्दर आख्यानों की रचना कर डालते हैं। हिन्दी साहित्य का आरंभ ऐसी परिस्थितियों में हुआ, जिनमें वीर गाथाओं के अतिरिक्त आख्यान आदि विषयों की ओर उसे झुकने का कम अवसर मिला। फिर भी यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है कि विक्रमीय १४ वीं शताब्दी में कुछ छोटे मोटे आख्यानों

का प्रचार अवश्य था, जिनका पीछे से लोप हो गया। १३ वीं शताब्दी के साहित्य को हम ऐसी प्रौढ़ावस्था में पाते हैं, जिससे इस अनुमान की पुष्टि होती है कि इसके बहुत पूर्व ही साहित्य में अच्छे अच्छे ग्रंथों की रचना होने लगी थी; पर दुर्भाग्यवश राजनीतिक परिवर्तनों के कारण उनका लोप हो गया। (और यह तो मानी हुई बात है कि मुसल्मानों ने हिन्दू साहित्य को बहुत कुछ हानि पहुँचाई।) पर हिन्दी पुस्तकों की खोज के साथ साथ धीरे धीरे हमारे साहित्य के छिपे छिपाए ग्रंथ-रत्नों का पता चलता जाता है।

अभी तक यही पता चला है कि अन्य विषयक ग्रंथों की अपेक्षा यद्यपि आख्यान काव्यों की संख्या बहुत कम है, पर १५ वीं शताब्दी से विक्रमीय २० वीं शताब्दी तक उनकी शृंखला निरन्तर चली आती है। संक्षेपतः कालानुक्रमेण उनकी सूची इस प्रकार है—

संख्या	ग्रंथ का नाम	नि० काल वि० संवत्	कर्ता
१	लक्ष्मणसेन पद्मावत की कथा	१५१६	दामो कवि
❀२	मृगावती	१५६६	कुतबन शेख
❀†३	मधुमालती	१६वीं श०	मंझन कवि
❀४	पद्मावती	१६०५	मलिक मुहम्मद जायसी
५	ढोला मारू की कथा	१६०७	हरराज
❀६	माधवानल कामन्दकला	१६४८	आलम कवि
❀७	चित्रावली	१६७०	उसमान कवि
८	रसरतन काव्य	१६७३	पोहर कवि
❀९	ज्ञान दीपक	१६७६	शेख नबी
१०	कनक मंजरी	१७वीं श०.	काशीराम
११	गुण सार	१७६९	राजा अजीतसिंह
❀१२	हंस जवाहिर	१७९४	कासिम शाह
❀१३	इन्द्रावली	१८०१	नूर मुहम्मद
१४	कामरूप की कथा	१८०८	हरसेवक मिश्र
१५	हरदौल चरित्र	१८१५	बिहारीलाल
१६	चन्द्रकला	१८५३	प्रेमचन्द्र
❀१७	प्रेम रत्न	१९०५	फाजिल शाह
१८	प्रेम पयोनिधि	१९१२	मृगेन्द्र
१९	मधुमालती की कथा	२०वीं श०	चतुर्भुजदास
❀२०	चित्रमुकुट की कथा	"	अज्ञात

❀ ये काव्य मुसलमान कवियों के हैं और इनकी रचना शैली 'मसनवी' ढंग पर है।
† इसका विवरण 'हिन्दी पुस्तकों की खोज' में नहीं है।

ऊपर दी हुई सूची से पता चलता है कि आख्यानक काव्यों का प्रचार विक्रमी १५ वीं शताब्दी से अच्छी तरह था। मलिक मुहम्मद जायसी के अनुसार 'पद्मावती' के पूर्व स्वप्नावती, मुग्धावती, मृगावती, खण्डरावती, मधुमालती और प्रेमावती नामक आख्यानों का प्रचार था *। इन आख्यानों में से मृगावती और मधुमालती को हम काव्य रूप में पाते हैं। संभव है कि अन्य आख्यान भी काव्य-बद्ध रहे हों, पर आज कल हमें उनका पता नहीं है।

---

१ देखो Search Report for Hindi Mss 1900 Notice 88
२ ,, 1900 ,, 4
३ देखो माधुरी, वर्ष २, खंड २, सं० ६, पृ० ८२०.
४ देखो Search Report 1900 Notice 54
५ ,, ,, 1900 ,, 16
६ ,, ,, 1904 ,, 9
७ देखो Search Report 1904 ,, 32
८ ,, ,, 1905 ,, 48
९ ,, ,, 1902 ,, 42
१० देखो Search Report 1903 ,, 7
११ ,, ,, 1902 ,, 83
१२ ,, ,, 1902 ,, ,,
१३ ,, ,, 1902 ,, 109
१४ ,, ,, 1905 ,, 90
१५ ,, ,, 1905 ,, 62
१६ ,, , 1914 ,, 134
१७ ,, , 1905 ,, 56
१८ ,, ,, 1904 ,, 49
१९ ,, ,, 1902 ,, 44
२० ,, ,, 1904 ,, 7

* देखो 'पद्मावत'—

विक्रम धँसा प्रेम के बारा। सपनावति कहँ गयउ पतारा॥
मधू पाछ मुग्धावति लागी। गगन पूर होइगा बैरागी॥
राजकुँवर कंचनपुर गयऊ। मिरगावति कँह जोगी भयऊ॥
साधे कुँवर खँडावत जोगू। मधुमालति कर कीन्ह वियोगू॥
प्रेमावति कँह सुरपुर साँधा। ऊषा लगि अनिरुध बर बाँधा॥

आख्यानक काव्य के लिखनेवाले हिन्दू और मुसलमान दोनों ही पाए जाते हैं; पर इन दोनों के लिखे हुए आख्यान काव्यों में शैली, उद्देश्य आदि सभी बातों में बड़ा अन्तर है, जिसका विवेचन विस्तृत रूप से आगे किया जायगा। इस समय हम सुगमता से आख्यान लेखकों को दो सम्प्रदायों में विभक्त कर सकते हैं—एक मुसलिम सम्प्रदाय, दूसरा हिन्दू सम्प्रदाय। इनके अनुसार हम उनके काव्यों को इस प्रकार विभक्त करेंगे—

(क) मुसलिम सम्प्रदाय—	(ख) हिन्दू सम्प्रदाय—
१. मृगावती	१. लक्ष्मणसेन पदमावती की कथा
२. मधुमालती	२. ढोला मारू की कथा
३. पदमावती	३. रस रतन काव्य
४. माधवानल कामन्दकला	४. कनकमंजरी
५. चित्रावली	५. गुणसार
६. ज्ञान दीपक	६. कामरूप की कथा
७. हंस जवाहिर	७. हरदौल की कथा
८. इन्द्रावती	८. चन्द्रकला
९. प्रेमरतन	९. प्रेमपयोनिधि
१०. चित्रमुकुट की कथा	१०. मधुमालती की कथा

हिन्दू और मुसलमान आख्यान-लेखकों में सब से भारी अंतर यह है कि एक का उद्देश्य काव्यों द्वारा अपने मत तथा धार्मिक विचारों का प्रचार करना था, दूसरे का केवल साहित्यिक मनोरंजन। मुसलमान लेखक विशेष कर सूफी मत के अनुयायी थे, जिनका उद्देश्य मनोरंजक प्रेम गाथाओं द्वारा अपने मन के आध्यात्मिक सिद्धान्तों को जनता के कानों तक पहुँचाना था। हिन्दू लेखकों ने केवल मनोरंजनार्थ इन आख्यानों की रचना की थी। मुसलमान लेखकों ने अपना उद्देश्य सिद्ध करने के लिये बोल-चाल की भाषा का आश्रय लिया था और काव्य के लिये दोहे,

चौपाई जैसे सरल छंदों का व्यवहार किया था। इसके विपरीत हिन्दू लेखकों ने साहित्यिक काव्य की भाषा का प्रयोग किया और अपने योग्यतानुसार वे अपनी रचना में भिन्न भिन्न छंद प्रयोग में लाये। रचना शैली, कथा विन्यास, वर्णन शैली तथा उद्देश्य आदि सभी बातों में दोनों सम्प्रदायों में विभिन्नता पाई जाती है। मुसल्मानों द्वारा रचे हुए आख्यानक काव्यों में महाकाव्यों की गंभीरता है। अन्य बातों में भी वे महाकाव्य की बराबरी करते हैं। पर हिन्दू लेखकों की कृतियों में ये बातें नहीं आने पाई हैं। इसका एक कारण है। मुसल्मानों ने अपने काव्य का आदर्श फारसी भाषा में रचे हुए 'मसनवी' काव्यों को रखा। उनके धार्मिक विचारों ने भी उनके काव्यों को गंभीरता प्रदान की। हिन्दू लेखकों का उद्देश्य केवल मनोरंजन था। उनकी कृतियों में गंभीरता को स्थान नहीं मिला। इसके अतिरिक्त आख्यानक काव्य लिखने की ओर हिन्दी के महाकवियों का ध्यान बिल्कुल नहीं गया। केवल छोटे मोटे लेखकों ने इधर प्रयत्न किया है। कारण यह था कि प्रारंभिक काल में उन्हें वीरगाथाओं से ही छुट्टी न मिली और माध्यमिक काल में वे राम और कृष्ण के चरित वर्णन में लीन थे। जो कुछ अवकाश मिला, उसे नायिका भेद और अलंकार ने ले लिया। कुछ ऐसे लोगों ने आख्यान की ओर ध्यान दिया, जो अपने को कवि नहीं समझते थे और जो किस्से कहानियों तक ही साहित्य सेवा का साहस रखते थे। अस्तु; कहने का तात्पर्य यह है कि इस श्रेणी के काव्य में मुसलमान कवि अधिक सफल हुए हैं। दोनों सम्प्रदायों की रचना शैली, विचार, भाषा आदि पर क्रमशः विचार किया जायगा। इस समय पहले एक एक सम्प्रदाय के काव्यों का परिचय संक्षेप रूप में देना आवश्यक जान पड़ता है।

मुस्लिम सम्प्रदाय

(१) कुतुबन शेख कृत मृगावती

सन् १९०० के पूर्व लोगों को आख्यानक काव्यों में से केवल पदमावती का पता था। उस समय पदमावती ही अपने ढंग की पहली पुस्तक थी। पर जायसी ने अपनी पदमावती में उल्लेख किया था, जिससे पता चलता था कि उनके पूर्व भी कुछ आख्यानों का प्रचार था। उन आख्यानों में मृगावती भी एक थी *। काशी नागरीप्रचारिणी सभा ने जब सन् १९०० में हस्तलिखित हिन्दी पुस्तकों की खोज आरंभ की, तब 'मृगावती' की एक प्रति स्थानीय भारतेन्दु बा० हरिश्चन्द्र के पुस्तकालय में मिली। यह प्रति अशुद्ध और अधूरी थी †। इसके विषय में उक्त सभा द्वारा प्रकाशित सन् १९०० की हस्तलिखित पुस्तकों की खोज की रिपोर्ट में जो कुछ लिखा है, उसका सारांश यह है—"प्रसिद्ध सम्राट् शेरशाह सूर के पिता हुसेन शाह के समय में कुतुबन ने मृगावती नामक प्रेम कहानी लिखी। कुतुबन कवि शेख बुरहान चिश्ती का शिष्य था। उसने इस काव्य की रचना हिजरी सन् ९०९ अर्थात् संवत् १५६७ में की थी ‡। हस्तलिखित प्रति के कुछ स्थानों पर खण्डित होने के कारण कवि के संरक्षक हुसेन शाह का पूर्ण इतिहास नहीं ज्ञात होता। केवल इतना मालूम होता है कि हुसेन शाह ने जौनपुर के राजा से ससराम की सूबेदारी पाई थी।'

---

* राजा कुँवर कँचनपुर गयऊ। मिरगावति लगि जोगी भयऊ॥

—पदमावती पृ० १०८ ना० प्र० स० संस्करण।

† सुनने हैं, अब यह प्रति भी अलभ्य है। दुःख है कि अभी तक 'मृगावती' की अन्य कोई प्रति नहीं प्राप्त हुई।

‡ ... ...ही। नौ सौ नव जब संवत अही।

—मृगावती।

[Search Report 1900 पृ० १८ से उद्धृत]

मृगावती की भाषा पूरी हिन्दी है। काव्य मसनवी ढंग पर रचा गया है। इसमें केवल दोहे चौपाइयों का प्रयोग है। क्रम पाँच चौपाइयों के बाद एक दोहे का है। यथा—

चौपाई

रुकमिन पुनि वैसेहि मर गई। कुलवंती सत सो सति भई॥
बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहे न जोई॥
विधि कर चरित न जाने आनू। जो सिरजे सो जाहि निरानू॥
गंग तीर लैके सर रचा। पूजी अवध कही सो बचा॥
राजा सँग जरि रानि चौरासी। ते सब के गये इन्द्र कविलासी॥

दोहा

मिरगावती और रुकमिनी लैके, जरीं कुँवर के साथ।
भसम भई जर तिल एक में, चिन्ह न रहा गात॥

❀ ❀ ❀ ❀

कवि कुतुबन सूफी सम्प्रदाय के थे। अन्य मुसल्मान कवियों द्वारा रचे हुए व्याख्यानों की भाँति मृगावती में भी आध्यात्मिक छाप अवश्य है। सम्पूर्ण पुस्तक देखने का सौभाग्य नहीं प्राप्त हुआ; पर जो कुछ खोज की रिपोर्ट से उद्धृत है उससे इस कथन की पुष्टि होती है। जैसे—

बाहर वह भीतर वह होई। घर बाहर को रहे न जोई॥

❀ ❀ ❀ ❀

भसम भई जर तिल एक में, चिन्ह न रहा गात॥

❀ ❀ ❀ ❀

इसकी कथा बड़ी रोचक है। कवि ने अपनी कल्पना से खूब काम लिया है। कहीं कहीं तो कवि ने उसे मनोरंजक बनाने के लिये पात्रों को अमानुषिक शक्ति भी प्रदान की है। इस कथा में प्रायः सब

रसों का समावेश किया गया है। इसकी कथा का सारांश यह है—

चन्द्रगिरि के राजा गनपत देव का पुत्र कंचननगर के राजा रूपमुरार की मृगावती नाम्नी कन्या पर मोहित हो गया। इस राजकुमारी को एक स्थान से दूसरे स्थान पर उड़कर चले जाने की विद्या ज्ञात थी। अत्यन्त कष्ट भोगने के उपरान्त राजकुमार ने उसका पता लगाया। पर एक दिन मृगावती राजकुमार को धोखा देकर उसकी अनुपस्थिति में उड़ भागी। राजकुमार भी उसके विरह में योगी का वेष धारण कर घर से निकल पड़ा। पहले वह समुद्र से घिरे हुए एक पहाड़ पर पहुँचा, जहाँ उसने रुक्मिन नाम की एक स्त्री को एक राक्षस से बचाया। उस स्त्री के पिता ने उस दया के प्रत्युपकार में रुकमिन का विवाह उस योगी से कर दिया। यहाँ से वह उस नगर में पहुँचा जहाँ मृगावती अपने पिता की मृत्यु पर राजसिंहासन पर बैठकर राज्य करती थी। वहाँ वह बारह वर्ष तक रहा। इधर राजा गनपत-देव अपने पुत्र की बाट जोह जोह कर घबरा उठा। अन्त में उसने एक दूत को कुमार को लौटा लाने के लिये भेजा। वह मार्ग में रुकमिन से मिलता हुआ कंचननगर पहुँचा और उसने राजकुमार से उसके पिता का संदेश कह सुनाया। राजकुमार मृगावती के साथ अपने देश की ओर लौटा और मार्ग में रुकमिन को भी अपने साथ लेता आया। सकुशल घर पहुँच जाने पर बड़ा आनन्द मनाया गया और राजकुमार कई वर्षों तक अपनी रानियों के साथ आनंद से जीवन व्यतीत करता रहा। अन्त में एक दिन वह मृगया में हाथी से गिर गया और तुरन्त ही परलोक सिधारा। उसकी रानियाँ भी उसके साथ सती हो गईं*।

कथा का यह सारांश पढ़ने पर कहना पड़ता है कि कथा दुःखान्त है। पर वास्तव मे बात ऐसी नहीं है। कवि ने उसे दुःखान्त बनाने का लेश मात्र भी प्रयत्न नहीं किया है। न तो अन्त में करुण

* Search Report for Hindi mss 1900.

रस का आभास ही है, न उसके पूर्व ही उसका कुछ उल्लेख मिलता है। मृत्यु तथा सती होने का उल्लेख करके कवि ने वियोग की व्यंजना कहीं नहीं की। यह उसका उद्देश्य नहीं जान पड़ता। सूफ़ी कवियों में प्रेमियों का एक साथ मरना या सती होना आदि भी संयोग ही माना जाता है। इस में वे दुःख या वियोग को लेश मात्र भी स्थान नहीं देते। उनका अनुमान है कि मरना तो केवल इस लोक से परलोक की यात्रा मात्र है। मरने के बाद प्रेमी और प्रेमिका दोनों उस लोक में उसी प्रकार सुख का अनुभव करेंगे, जिस प्रकार वे इस लोक में करते थे। मृत्यु सूफ़ी मत के अनुसार प्रेमी की प्राप्ति के लिये एक साधन है। मृगावती में सती होकर रानियों ने केवल अपनी साधना की सिद्धि पाई। कवि का आशय इसी से स्पष्ट हो जाता है—

रुकमिन पुनि वैसहि मर गई। कुलवंती सत सो सति भई।

(२) मंझन कृत मधुमालती

कवि मलिक मुहम्मद जायसी ने अपने पद्मावत नामक आख्यानक काव्य में अपने समय में प्रचलित आख्यानों का उल्लेख किया है, जिसमें 'मधुमालती' भी एक है। सन् १९०० के पूर्व पद्मावत अपने ढग का प्रथम और अंतिम काव्य समझा जाता था। परन्तु सन् १९०० की हिन्दी पुस्तकों की खोज में जब नागरी-प्रचारिणी सभा को अन्य आख्यानक काव्यों में मृगावती का पता लगा, तब लोगों को यह निश्चय हुआ कि जायसी के पूर्व भी आख्यानक ग्रंथ लिखे जाते थे; और जायसी ने जिन ग्रंथों का उल्लेख अपने काव्य में किया है, वे यथार्थ में थे। पीछे कई वर्षों तक मृगावती को छोड़ पद्मावत के पूर्व का मुसलिम संप्रदाय का और कोई आख्यानक ग्रंथ न मिला।

सन् १९१२ में मेरे पूज्य पिता स्वर्गीय बाबू जगन्मोहन वर्म्मा को चित्रावली नामक आख्यानक काव्य का संपादन करना पड़ा। उसका संपादन करते समय आप को मधुमालती की एक अपूर्ण प्रति काशी में मिली,

जिसका उल्लेख आपने चित्रावली की भूमिका में इस प्रकार किया है–

मधुमालती की एक अपूर्ण प्रति मुझे इस वर्ष काशी के गुदड़ी बाजार में मिली। यह ग्रंथ १७ पन्ने से १३३ पन्ने तक है। पुस्तक उर्दू लिपि में अत्यंत शुद्ध और सुन्दर अक्षरों में लिखी हुई है। भाषा मधुर है। पाँच पाँच पंक्तियों के बाद एक दोहा है। आदि और अंत के पृष्ठ न होने से ग्रंथकर्ता के ठीक नाम (सिवाय 'मंझन' के, जो उसका उपनाम है) और उसके निर्माण-काल आदि का पता नहीं चलता। ग्रंथ के आदि के ३९ पन्नों तक बाएँ पृष्ठ पर के किनारे पर दो दो पंक्तियों में फारसी भाषा में कुछ याददाश्त लिखी हैं, जिनके अंत में ११ रबि-उस्सानी सन् १०६९ हिजरी की मिती है। याददाश्त में उसी समय की घटना का वर्णन है। इससे अनुमान होता है कि यह प्रति उस समय (संवत् १७१६) के पहले की लिखी हुई है।"

इस प्रति की एक हिन्दी प्रतिलिपि भी नागरी प्रचारिणी सभा में है, जिसे देखने का अवसर मुझे मिला है। प्रति के अपूर्ण होने के कारण उसकी कथा का ठीक ठीक पता नहीं चलता। पर उसके आधार पर जो कुछ लिखा जा सकता है, वह यहाँ लिखा जाता है।

एक राजकुमार मधुमालती को उसकी चित्रसारी में सोती हुई पाता है। उसकी मनमोहनी शोभा देखकर वह मोहित हो जाता है। जागने पर मधुमालती उसे देखती और उस पर आसक्त हो जाती है और उससे उसका परिचय पूछती है। राजकुमार पूछने पर उत्तर देता है—"हे वर नारि ! यदि तू पूछती है, तो मैं कहता हूँ। नगर कनेसर उत्तम स्थान है। वहाँ मेरे पिता सूरजभान रहते हैं, जो जगत्-प्रसिद्ध हैं। मेरा नाम कुँवर मनोहर है। मैं कनेसर वंश का हूँ। मैं अपने यहाँ कुछ देर के लिये सो गया था। जागने पर मैं अपने आप को यहाँ देखता हूँ। मुझे पता नहीं कि मुझे कौन ले आया और किस दुष्ट ने मुझसे तुम से मिलाप करा दिया। मेरे पूर्व जन्म के पुण्य हैं, जिनके कारण मुझे

तुम्हारे दर्शन हुए है।" इतना कहते ही राजकुमार को ज्ञान होता है और वह अपनी सुध भूलकर उठ बैठता है। पुनः प्रेम से विह्वल होकर वह अचेत होकर मधुमालती के चरणों पर गिर पड़ता है।

मधुमालती राजकुमार के ऊपर 'अमृत नीर' छिड़कती है और राजकुमार मनोहर होश में आता है। तब मधुमालती उससे पूछती है—"निर्भय होकर तुम मुझसे सत्य बात कहो, तुम्हारा शरीर क्यों काँपता है? मुझे अपने हृदय की पीड़ा बतलाओ। क्यों तुम क्षण क्षण पर बेसुध हो जाते हो? मैं सच पूछती हूँ, मुझसे कहो, तुम्हारा ज्ञान किसने हर लिया है?" मनोहर उत्तर देता है—"मुझे तुम्हारे प्रति पूर्व जन्म से अनुराग है। मैं तुम्हारे लिये आज ही दुखी नहीं हुआ हूँ। तुम्हारे दुःख से मैं आदि से परिचित हूँ। जिस दिन ईश्वर ने मुझे उत्पन्न किया, उसी दिन मुझे तुम्हारा विरह दिया। ज्ञान की आँखों से देखो और मुझे पहचानो। मैं तुम्हारा आदि का 'चिन्हारी' (पहचाननेवाला) हूँ।"

मधुमालती कहती है—"हे कुँवर, मैं सच कहती हूँ। तुम्हारा प्रेम मेरे हृदय में आ गया है।" इसके पश्चात् दोनों प्रेमोन्मत्त हो जाते हैं और अपनी अपनी अँगूठियाँ बदलते और सो जाते हैं। तत्पश्चात् सब 'सिरहुन' (अप्सराएँ) जो कुँवर को सोते हुए उठाकर मधुमालती की चित्रसारी में लाई थीं, आती हैं और मधुमालती तथा मनोहर को सोते हुए पाती हैं। आपस में वाद-विवाद होता है। कोई कहती है कि इनका बिछोह कराना उचित नहीं है; कोई कहती है कि नहीं, यदि हम इस (मनोहर) को यहाँ रहने देती हैं, तो उसके माता पिता रोकर मर जायँगे और उनकी हत्या हमें लगेगी। अंत में सब एक मत होती हैं और मनोहर को वहाँ से उठाकर उसके महल में पहुँचा देती हैं।

मनोहर के जाने के बाद जब प्रातःकाल मधुमालती की सखियाँ उसे जगाने आती हैं, तब मधुमालती के शरीर में 'सुरतचिन्ह' पाती हैं। वे अपने मन में सोचती हैं कि यदि राजा (मधुमालती का पिता) यह सुन

पावेगा, तो हमें हाथी के नीचे कुचलवा डालेगा। सखियाँ मधुमालती को जगाती हैं और उससे पूछती हैं—"कहो सखी, तुम ने यह क्या किया ? अपने चलते जान बूझकर तुमने अपने कुल को कलंकित किया। क्षण भर के सुख के लिये तुम ने अपने सिर पर यह भारी पाप उठाया।" मधुमालती सचेत होकर कहती है—"सखि ! तुम ऐसी अनुचित बात कहती हो ! ऐसा अधर्म कौन अज्ञान करेगा ! व्यर्थ मुझे कलंकित मत करो। मैं सच कहती हूँ, मैंने स्वप्न में एक कुँवर को देखा है, जो अत्यत सुन्दर था। उसकी मूर्ति मदन के समान थी। उसने मेरा हृदय चुरा लिया। उसके बिना अब मेरा एक पल भी जीना असंभव है। उसके विरह में मैं अब जल रही हूँ। यदि कुछ उपकार कर सको, तो हे सखियो, करो!" सखियाँ कहती हैं—"हे कुमारी ! सुना संसार का यही नियम है—पहले दुख, पीछे सुख। पहले रात्रि होती है, पीछे दिन। फूल में काँटे होते हैं। यदि तुम उसके विरह में दुखी हो तो अंत में तुम्हारे मन मे चेत (ज्ञान) होगा। तुम यह विरह सहो। पीछे तुम्हारा भला होगा।"

इधर मधुमालती को उसकी सखियाँ समझा रही हैं, उधर मनोहर की विचित्र दशा है। मनोहर सोकर उठता है। आँख खुलने पर वह अपने को दूसरे स्थान में पाता है। न वह चित्रसारी उसे दिखाई पड़ती है न वह सुन्दरी (मधुमालती) उसे दृष्टिगोचर होती है। वह आश्चर्य में पड़ जाता है। मधुमालती की याद कर करके वह मूर्च्छित हो जाता है। मनोहर की सहजा नाम की धाई उसकी अवस्था सुनकर आती है और उससे उसके चित्त की दशा पूछती है। मनोहर उत्तर देता है—"धाई ! मुझे यह रोग हुआ है, जिसकी औषध नहीं है। मुझे मधुमालती का विरह संतप्त कर रहा है। या तो मैं उसे प्राप्त करूँगा या अपना तन, मन, धन उसकी विरहाग्नि के अर्पण करूँगा।"

धाई द्वारा यह बात जानने पर मनोहर के माता पिता अनेक

उपचार करते हैं, जिससे मनोहर का चित्त शान्त हो। अनेक गुणी और वैद्य आते हैं। अनेक प्रकार से उसका जी बहलाने का प्रयत्न करते हैं, पर सब व्यर्थ होता है। सब पंडित, वैद्य निराश होकर चले जाते हैं। अंत में एक पीर आता है, जो कुँवर की नाड़ी देखकर कहता है—इसे कोई शारीरिक कष्ट नहीं है। वह मनोहर से पूछता है—"हे कुमार, तेरा जी किस पर अनुरक्त हुआ है? मुझसे स्पष्ट कह। यदि वह स्वर्ग की देव-कन्या भी हो, तो मैं मंत्र बल से उसे लाकर तुझसे मिला सकता हूँ।" अपने प्रति सहानुभूति देखकर कुमार मनोहर उससे मधुमालती के प्रति अपना प्रेम बतलाता है। लाख समझाने पर भी वह नहीं मानता। अंत में मनोहर मधुमालती की खोज में बाहर निकलने की इच्छा प्रकट करता है। उसकी यह बात सुनकर उसके माता पिता उसे समझाते हैं; पर वह एक नहीं मानता और वैरागी का वेष धारण करके घर से निकलता है। उसके कुछ साथी उसके साथ हो लेते हैं। सब महारस देश का पता पूछते हुए चलते हैं।

पूछते पूछते वे सागर के तट पर पहुँचते हैं और नाव पर चढ़कर यात्रा करते हैं। चार मास जलयात्रा में लगते हैं। अंत में मार्ग भूल जाते हैं। भारी तूफान आता है और जहाज डूब जाता है। राजकुमार के इष्ट मित्र भी डूब जाते हैं, केवल मनोहर एक तरफ निकलता है। बड़े कष्ट में वह ईश्वर का ध्यान करता है। संयोगवश लकड़ी का एक पटरा उसके समीप वह निकलता है। वह उसी के आधार पर बहता हुआ कहीं समुद्र के किनारे एक अज्ञात निर्जन स्थान में लगता है, जहाँ केवल जंगल ही जंगल दिखाई पड़ता है। अनेक कष्ट झेलता हुआ वह वन में प्रवेश करता है। निर्जन वन में घूमते घूमते वह एक स्थान पर पहुँचता है, जहाँ उसे एक पलंग पर एक सुन्दरी सोती हुई दिखाई पड़ती है। राजकुमार खड़ा हुआ यही सोचता है कि इस निर्जन भयंकर वन में इस सुन्दर युवती का आगमन कैसे हुआ। यह देवकन्या है,

नाग-कन्या है कि गन्धर्व-कन्या है। या मैं ही स्वप्न देख रहा हूँ। अंत में वह मोहित होकर उसके पास जा बैठता है। कभी उसे शंका होती है, कभी उसे प्रेम के कारण ढारस होता है। इसी बीच में वह सुन्दरी करवट लेती है, आँखें खोलती है और एक मनुष्य को पास बैठा हुआ देखकर घबरा जाती है। वह पूछती है—"तू कौन है? मनुष्य है, भूत है कि बैताल है? तू क्यों यहाँ आया है? अपना हाल सत्य सत्य कह।" मनोहर अपनी सारी कथा उसे सुनाता है और उसका परिचय पूछता है। वह युवती उत्तर देती है—"चित बिसरामपुर में मेरा स्थान है। मेरे पिता का नाम चित्रसेन है। मैं उसकी पुत्री 'प्रेमा' हूँ। मैं उसकी बड़ी दुलारी कन्या हूँ। मेरे भाग्य में कष्ट सहना लिखा था। एक दिन की बात है कि मेरी सखियों ने मुझ से कहा कि चलकर अमराई में खेलना चाहिए। मैंने माता पिता से आज्ञा ली और वहाँ अपनी सहेलियों के साथ खेलने गई। बहुत देर तक मैं वहाँ सखियों के साथ खेलती रही। भ्रमरों के कारण वे बहुत व्यथित हुईं और मारे डर के हम सब भागकर चित्रसारी में (जो वहाँ बनी थी) चली गईं। अंत में सब वहाँ से निकलकर घर भाग चलीं, मैं अकेली रह गई। इसी बीच में वहाँ एक राक्षस आ पहुँचा, जिसे देखकर सब प्राण छोड़कर भागीं। मैं अकेली रह गई। उस राक्षस ने मुझे पकड़ लिया और यहाँ उठा लाया। मुझे आज बहुत दिनों के बाद मनुष्य का रूप देखने को मिला है। यहाँ से छुटकारा पाने की अब मुझे आशा नहीं है। हे कुँवर! मैंने अपना सारा दुख तुम से कहा। अब तुम अपना दुख मुझ से कहो।"

मनोहर राक्षस का नाम सुनकर चकित होता है और वह वहाँ से उठकर चलने को तैयार होता है। प्रेमा उसके पैर पकड़ लेती है और बड़ी करुणा से रोती है। मनोहर उसके दुख से दुखी होता है। प्रेमा कहती है—"हे कुमार, तुम राक्षस का भय

मत करो। वह अभी बाहर गया है। दिन भर के बाद वह संध्या को आवेगा। जब तक तुम अपना दुख मुझ से नहीं कहोगे, मैं तुम्हें जाने न दूँगी।" मनोहर कहता है—"हे राजकुमारी सुनो, मैं मधुमालती की खोज में घर से निकला हूँ। अपनी कथा क्या कहूँ! उसके कहने में बड़ा समय लगेगा। एक दिन मैं सो गया। उठने पर मुझे सारे दुख ने आ घेरा। मुझे कुछ पता नहीं कि मैंने स्वप्न में देखा या वास्तव में देखा। पर जो जो कुछ देखा, वह कहना असंभव है। मेरी समझ में नहीं आता कि वह स्वप्न था या यथार्थ।" इस प्रकार वह अपना और मधुमालती का प्रेम वर्णन करता है और प्रेमा को अपनी सारी कथा कह सुनाता है। प्रेमा उत्तर देती है—"हे राजकुमार, धैर्य्य रखो। तुम ने जो इतना कष्ट सहा है, वह शीघ्र ही फलीभूत होगा। जिससे तुम्हारा प्रेम लगा हुआ है, मैं उसका सारा हाल तुम्हें बताती हूँ। मधुमालती और मैं खेल चुकी हूँ। वह मेरे बालपने की सखी है। वह महारस नगर की राजकुमारी है। वह मेरे यहाँ आती जाती है। तुम वहाँ जाकर उस से मिल सकते हो। यदि तुम मेरे पिता के यहाँ पहुँच जाओगे, तो वहाँ तुम्हारा बड़ा आदर होगा। तुम वहाँ जाना और मेरी दुःख-कथा कह देना।" मनोहर ने कहा—"मैं तुम्हें यहाँ नहीं छोड़ सकता। चाहे जैसे हो, मैं तुम्हारी रक्षा करूँगा।" प्रेमा राक्षस की भयंकरता का वर्णन करती है और कहती है—"मेरा उससे छुटकारा होना असंभव है। तुम व्यर्थ मेरे लिये क्यों दुखी होते हो। मुझे यहीं रहने दो। मैं अपने भाग्य में लिखे हुए कष्ट झेलूँगी। मनोहर उसकी रक्षा करने पर तत्पर हो जाता है। वह राक्षस के प्रति अपनी निर्भयता प्रदर्शित करता है और अपना बल पराक्रम कह सुनाता है।

प्रेमा और मनोहर की बात चीत हो ही रही है कि राक्षस के आने का समय होता है। थोड़ी देर में दस भुजाओं और पाँच सिरों-वाला राक्षस आ पहुँचता है। मनोहर और राक्षस में युद्ध होता है। अंत

में राक्षस भाग जाता है। उसके चले जाने पर प्रेमा मनोहर से कहती है—"राक्षस यों मरनेवाला नहीं। दक्षिण दिशा में जो एक वाटिका देख पड़ती है, उसमें अमृत फल का एक वृक्ष है। उसी में इस राक्षस का 'जीव' बसता है। हे कुमार, चलो तुम और हम मिलकर उसे काट डालें और तब वह शीघ्र ही आप से आप मर जायगा।" प्रेमा की बात मानकर मनोहर उसके साथ वहाँ जाता है और उस वृक्ष को नष्ट कर देता है। राक्षस फिर दौड़ा हुआ आता है। मनोहर राक्षस से युद्ध करता है। राक्षस घायल होकर दक्षिण दिशा की ओर भागता है और वाटिका में पहुँचकर उस वृक्ष को नष्ट हुआ पाकर सिर पटककर मर जाता है। राक्षस के मरने पर प्रेमा राजकुमार को धन्यवाद देती है और मनोहर उसको साथ लेकर वहाँ से चल देता है। चार मास तक वे यात्रा करते हैं। उसके पश्चात् वे बस्ती में पहुँचते हैं, जहाँ से चित्रसेन का नगर चित-बिसरामपुर थोड़ी दूर रह जाता है।

वहाँ पहुँचकर प्रेमा राजकुमार से कहती है—"यहाँ से डेढ़ कोस पर मेरे पिता का नगर है। मैं वहाँ जाना ठीक नहीं समझती; क्योंकि वहाँ जाने से लोग हँसेंगे। अतः पहले उन्हें एक पत्र लिखना ठीक होगा।" प्रेमा एक पत्र लिखती है और एक 'बारी' के हाथ अपने पिता के पास भेजती है। माता-पिता प्रेमा के आने का समाचार पाकर अत्यन्त प्रसन्न होते हैं और उसे लिवाने जाते हैं। प्रेमा से मिलकर उसके माता-पिता बहुत सुखी होते हैं। प्रेमा से उसका पिता पूछता है—"हे पुत्री! तुझे किसने लाकर मुझ से मिलाया है?" प्रेमा अपनी सारी कथा कहती है और राजकुमार का परिचय देती है। राजा चित्रसेन मनोहर को ले आता है और उसके प्रति कृतज्ञता प्रकट करता है। मनोहर चित्रसेन के यहाँ रहने लगता है। प्रेमा मनोहर से कहती है—"कुमार, तुम धीरज धरो। कल मधुमालती अपनी माता के साथ यहाँ आवेगी। तुम से उससे भेंट अवश्य कराऊँगी"।

दूसरे दिन मधुमालती अपनी माता के साथ प्रेमा के यहाँ आती है। प्रेमा मधुमालती से मनोहर के विषय में कहती है। मधुमालती पहले अपना प्रेम छिपाती है और कहती है–"मैं मनोहर को नहीं जानती। मुझ से उससे कभी भेंट नहीं हुई है।" प्रेमा कहती है–"हे सखि, मुझ से बात मत छिपा। मैं सब जानती हूँ। प्रेमा कहीं छिपाए छिपता है!" यह कह कर वह मधुमालती की अँगूठी, जो मनोहर के पास थी, उसे दिखाती है। मधुमालती मान जाती है और अपने प्रेम की सारी कथा उसे कह सुनाती है। प्रेमा उससे कहती है–"सखी, धीरज धर। मैं तेरे प्रियतम से तुझे मिला दूँगी।" यह कहकर वह मनोहर के पास अपनी एक सखी को भेजती है और उसे बुलाकर मधुमालती से मिला देती है।

मधुमालती और मनोहर का साक्षात् होता है। दोनों आपस में प्रेमपूर्वक वार्तालाप करते हैं। एक दूसरे से अपनी प्रेम-व्यथा कहते हैं। मधुमालती मनोहर से लज्जा करती है। मनोहर उससे संकोच त्यागकर बातें करने की प्रार्थना करता है। मधुमालती कहती है—"जब तक ब्याह नहीं हो जाता, मैं तुम से नहीं मिल सकती।" दोनों में प्रेम वार्ता होती है। प्रेमाधिक्य से प्रेरित प्रेमी प्रेमिका मिल जाने पर विवश होते हैं। दोनों साथ चित्रसारी में जाते हैं और वहाँ सो जाते हैं। इसी बीच मधुमालती की माता उसकी अनुपस्थिति पर चिंता करती है और शंकित होकर प्रेमा की माता मधुरा से मधुमालती की सुध लेने के लिये कहती है। मधुरा कहती है–'मैं अभी चेरी भेजती हूँ। इसी बीच में संध्या हो जाती है और रात व्यतीत होती है। मधुमालती की माता रूपमंजरी अधिक चिंतित होती है और मधुरा के मना करने पर भी प्रेमा की चित्रसारी की ओर स्वयं मधुमालती को ढूँढ़ने जाती है; और प्रमा के मना करने पर भी चित्रसारी में प्रवेश करती है। प्रेमा की माँ लज्जित हो जाती है।

रूपमंजरी चित्रसारी में मनोहर और मधुमालती को एकत्र सोते हुए पाती है; और इस पर क्रुद्ध होकर प्रेमा को बहुत बुरा भला कहती है कि तूने मेरे कुल में कलंक लगा दिया।

रूपमंजरी की बात सुनकर प्रेमा कहती है—" यदि मुझे आप दोष देती हैं, तो मैं इससे बुरा नहीं मानती। पर मैं मधुमालती और मनोहर के पूर्व प्रेम का पूरा वृत्तान्त आप को सुनाती हूँ।" यह कहकर प्रेमा मधुमालती और मनोहर के पारस्परिक प्रेम की सारी कथा रूपमंजरी से कहती है। इस पर रूपमंजरी कहती है कि मधुमालती सदा चिंतित रहती थी; उसका कारण मुझे आज ज्ञात हुआ है। यह कहकर वह चित्रसारी में आती है और आज्ञा देती है कि ये दोनों सोते ही अलग कर दिए जायँ। उसकी आज्ञा का पालन होता है। मधुमालती और मनोहर 'मोह निद्रा' के ऐसे वशीभूत हैं कि उन्हें कुछ पता ही नहीं चलता। जागने पर राजकुमार मनोहर अपने को दूसरे स्थान पर पाता है और मधुमालती अपने को अपनी माता के यहाँ पाती है। दोनों को 'प्रेम मिलन' स्वप्न सा प्रतीत होता है। दोनों विरह से दग्ध होते हैं। मधुमालती बहुत दुखी होती है। उसकी माता उसे बहुत कुछ समझाती तथा भला बुरा कहती है; और कहती है कि तू मनोहर का प्रेम छोड़। पर मधुमालती नहीं मानती। इस पर क्रुद्ध होकर वह उसे शाप देती है जिससे मधुमालती पक्षी होकर उड़ जाती और मनोहर को ढूँढ़ती फिरती है।

मधुमालती के पक्षी हो जाने पर उसकी माता बड़ी दुखी होती है। बहुत कुछ ढूँढ़ने पर भी मधुमालती का पता नहीं चलता। मधुमालती इधर उधर उड़ती फिरती है। एक दिन उड़ते उड़ते थककर वह एक राजकुमार को देखती है, जिसका नाम ताराचंद था और जो पिपनेर मानगढ़ का रहनेवाला था। वह अति सुन्दर और गुणवान था। वह मनोहर से बहुत कुछ मिलता जुलता था; अतः मधुमालती उसे प्रेम से देखती है और उसके 'धौरहर' पर जा बैठती है। ताराचंद

उसकी सुन्दरता पर मुग्ध हो जाता है और उसे पकड़ने की आज्ञा देता है। इतने में मधुमालती (पक्षी रूप में) उड़ने को उद्यत होती है। ताराचंद विह्वल होकर उसके पीछे दौड़ता है। उसके सिर से मुकुट गिर पड़ता है और मोती इधर उधर बिखर जाते हैं। मोती के इधर उधर छितराने पर पक्षी बनी हुई मधुमालती उधर देखती है और उड़ने का विचार छोड़कर उस पर दृष्टि लगाकर बैठ जाती है। तब कुँअर (ताराचंद) को यह ज्ञात हो जाता है कि यह पक्षी मोती खाता है।

मधुमालती अपने मन में सोचती है कि यह कुँअर मनोहर के सदृश है। इसके जाल में फँसकर इसका भेद लेना चाहिए। कदाचित् इससे मनोहर का पता चल जाय। यह सोचकर वह स्वयं उसके जाल में फँस जाती है और व्याधा उसे लेकर ताराचंद के पास जाता है। ताराचंद मधुमालती रूपी पक्षी को पाकर अत्यंत प्रसन्न होता है और उसे सोने के एक पिंजरे में रखकर उसे सदा अपने पास रखता है। एक दिन पक्षी रूपी मधुमालती उससे अपना रहस्य कहती है। ताराचंद उसकी दुःख कहानी सुनता है और प्रण करता है कि मैं चाहे जैसे होगा, तुम्हें तुम्हारे प्रियतम से मिलाऊँगा और तुम्हें तुम्हारा पहला रूप दिलाऊँगा। जब तक मैं यह नहीं कर लूँगा, तब तक मुझे शान्ति न मिलेगी। मन में यह धारणा करके वह अपने साथियों को एकत्र करता है और मधुमालती का पिंजड़ा लेकर सब के साथ महारस नगर के लिये प्रस्थान करता है। महारस नगर में पहुँचकर वह वहाँ की 'जूनों' मालिन से मिलता है; और उससे पूछता है—"यहाँ नगर के सब लोग उदास क्यों दिखाई पड़ते हैं?" जूनों वहाँ का पूरा हाल सुनाकर कहती है कि मधुमालती के चले जाने पर उसके माता पिता (यहाँ के राजा रानी) अन्न जल त्याग बैठे हैं और रोते रोते आँखों से अंधे हो गए हैं। ताराचंद जूनों से

मधुमालती का परिचय कराता है। ताराचंद की आज्ञा पाकर मालिन मधुमालती के आने का समाचार राजा रानी को देने जाती है।

राजा और रानी मधुमालती को लेने आते हैं। सब मिलकर सुखी होते हैं। मधुमालती की माता मंत्र पढ़कर उस पर जल छिड़कती है। मधुमालती पुनः मनुष्य रूप को प्राप्त होती है। उसके माता पिता उस पर बड़े प्रसन्न होते और आपस मे मंत्रणा करते हैं कि अच्छा होता, यदि मधुमालती का विवाह ताराचंद से कर दिया जाता। यह सोच कर मधुमालती की माता रूपमंजरी ताराचंद से विवाह का प्रस्ताव करती है। पर ताराचंद कहता है–"माता, यह नहीं हो सकता। मधुमालती मेरी बहन है। मैंने उसे वचन दिया है कि जब तक मनोहर को तुझसे न मिला दूँ, तब तक मुझे शान्ति नहीं मिलेगी। अतः आप कृपा करके मनोहर का पता लगाइए और उसी से मधुमालती का विवाह कीजिए।" इस पर रानी उसे मधुमालती की प्रेम कथा सुनाती है और एक बारी को बुलाकर प्रेमा के पास सारा हाल लिखकर भेजती है। मधुमालती भी अपनी सारी दुःख कथा लिखकर प्रेमा के नाम एक पत्र देती है। बारी प्रेमा के यहाँ के लिये प्रस्थान करता है। प्रेमा मधुमालती का पत्र पढ़कर दुःखित होती है। इसी बीच में उसकी एक सखी आकर समाचार देती है कि मनोहर राजकुमार साधु का वेश बनाए हुए आ पहुँचे हैं।

प्रेमा मधुमालती के नाम एक पत्र लिखकर बारी को देती है और उससे कहती है कि यह गुप्त रीति से मधुमालती को देना। इसके अनन्तर राजा विक्रम मनोहर के आने का समाचार पाकर मधुमालती तथा अपनी रानी सहित सेना आदि लेकर चित्रसेन के नगर के लिये प्रस्थान करता है; और वहाँ पहुँचकर उनसे मंत्रणा करके मधुमालती और मनोहर का विवाह निश्चित करता है। दोनो का विवाह बड़ी धूम धाम से हो जाता है। मधुमालती मनोहर से मिलकर प्रसन्न होती है।

मधुमालती से ताराचंद का परिचय पाकर मनोहर उसके प्रति अपनी कृतज्ञता प्रकट करता है और उससे अनुरोध करता है कि जब तक हम दोनों जीवित रहें, साथ रहें।

ताराचंद यह बात स्वीकार करता और मनोहर के साथ प्रेमा के यहाँ रहने लगता है। एक दिन दोनों राजकुमार (मनोहर और ताराचंद) शिकार खेलने जाते हैं और उनकी अनुपस्थिति में मधुमालती और प्रेमा अवसर पाकर चित्रसारी में झूला झूलने जाती हैं। इतने में वे दोनों शिकार से वापस आते हैं और मधुमालती तथा प्रेमा का चित्रसारी में जाना सुनकर उधर ही चल पड़ते हैं। वहाँ दो युवतियाँ मग्न होकर झूल रही हैं। किसी को अपने तन वदन की सुध नहीं। ताराचंद वहाँ पहुँचने पर प्रेमा की अनुपम सुन्दरता देखता है और मोहित होकर भूमि पर गिर पड़ता है। उसके मूर्च्छित होने का हाल सुनकर मधुमालती तथा उसकी सखियाँ उसके उपचार में लग जाती हैं। इसके आगे की कथा का, प्रति के अपूर्ण होने के कारण, पता नहीं चलता। संभव है कि मनोहर और मधुमालती की भाँति कवि मंझन ने इन दोनों का भी आगे संयोग कराया हो।

आलोचना

ग्रंथकर्त्ता—मधुमालती की प्राप्त प्रति के अपूर्ण होने के कारण उसके ग्रंथ के विषय में हमारा ज्ञान परिमित हो जाता है। केवल मधुमालती में दो स्थानों पर कवि ने मंझन शब्द का प्रयोग किया है, जिससे अनुमान होता है कि कवि का उपनाम 'मंझन' था। यथा—

(१) 'मंझन' अमर मूरि जग बिरहा जनम जु पावै पास।
निहचै अमर होइ जुग जुग सो, काल न आवै पास॥

(२) 'मंझन' जे जग जनम लै बिरह न कीया घाव।
सूने घर का पाहुना ज्यों आया त्यों जाव॥

कवि मंझन ने मधुमालती में एक स्थल पर लिखा है—

"देखहिं सेन 'मलिक' जी आई।"

इससे यह अनुमान होता है कि संभव है कि कवि मंझन अपने को 'मलिक' भी लिखता रहा हो; जैसे मुहम्मद जायसी अपने को 'मलिक' लिखते थे। कवि मंझन मुसलमान था और सूफ़ी मत का अनुयायी था, यह मधुमालती से भली भाँति प्रकट होता है।

सूफ़ी मतवाले ईश्वर को सर्वव्यापी मानते हैं। उनके अनुसार ईश्वर एक है; और केवल वही सौन्दर्य का आदर्श, दोष रहित, अविनाशी और सत्य है। यही बातें हम मधुमालती में पाते हैं। यथा—

(१) ईश्वर की निष्कलंकता—

'निरकलंक निरदोसी एक अकेला सोई।
दुसह दोस जो लागै सहि कछु दोस न लोई॥'

(२) ईश्वर की सर्वव्यापकता—

देखत ही पहचान्यों तोंही। एही रूप जिन छन्दख्यो मोहीं।
एही रूप बुत अछो छिपाना। एही रूप रुव सृष्टि समाना॥
एही रूप सकती और सीऊ। एही रूप त्रिभुवन कर जीऊ।
एही रूप प्रकट बहु भेसा। एही रूप जग रंक नरेसा॥

एही रूप त्रिभुवन बर, असि महि पाताल आकास।
सोई रूप प्रकट तहँ मानहिं देखौ कहाँ हवास॥

एही रूप प्रकट बहुरूपा। एही रूप जेहि भाव अनूपा।
एही रूप सब नैनन्ह जोती। एही रूप सब सायर मोती॥
एही रूप शस्त्र और सूरा। एही रूप जग पूरा पूरा।
एही रूप अँत आदि निदाना। एही रूप धर धर सो ध्याना॥

एही रूप जल थल और महियर भाव अनेक दिखाव।
आप कुँआय जो देखै सो कछु देखै पाव॥

(३) सूफ़ी मत के अनुसार अहंकार को दबाना, आत्म निग्रह, तथा तपस्या ईश्वर-प्राप्ति का मुख्य मार्ग है। ईश्वर की प्राप्ति ही में वे सब सुख और शांति मानते हैं। मधुमालती में इसका पूर्ण आभास मिलता है। विरह को, जिसे सूफ़ी कवि ईश्वर और प्रेमिका दोनों की ओर दृष्टि रखकर वर्णन करते हैं, मधुमालती में मंझन ने इस प्रकार ईश्वर तथा मनुष्य के पक्ष में लिखा है—

विरह अवधि अवगाह अपारा। कोटि माँहिं एक परै न पारा।
बिरह कि जगत अबूँथाँ जाही। विरह रूप यह सृष्टि सबाई॥
नैन विरह अंजन जिन सारा। विरह रूप दरपन संसारा।
'मंझन' जे जग जन्म ले, विरह न कीया चाव।
सूने घर का पाहुना, ज्यों आया त्यों जाव॥
जो लै करै न सिर की पाऊ। निज यह कहो रघून्दी काऊ।
नैनि खोय देखै सब रूपा। मरे ते पावै रूप अनूपा॥
एक जीव जो यहिं पन्थहिं लावै। एक जीव कै जीव सै सै पावै।
होइ मौन बकती सब बानी। सुनी सो तजी अकथ कहानी॥
आखी दृष्ट देखि सत भाऊ। रूप सो जाहि पतन नहिं काऊ।
भाव अनेक विरह स्यों, उपजहिं कुँवर! सरीर।
त्रिभुवन केर जो दूलह, तेहि विधि दई यह पीर।

(४) सूफ़ी मत के माननेवाले ईश्वर को अपना प्रेमी समझते हैं। ईश्वर का प्रेम ही उनकी मुक्ति का मार्ग है। उसी के प्रेम में वे सदा लीन रहना चाहते हैं। उसी के प्रेम में वे "प्रेम! प्रेम!" की ध्वनि से सारे भूमण्डल को गुँजा देना चाहते हैं। उसके विरह में दग्ध होना सूफ़ी मत के माननेवाले उसके पाने के निमित्त तपस्या समझते हैं। इन सिद्धान्तों की व्यंजना मंझन ने मधुमालती में कई स्थलों पर की है। यथा—

(१) ईश्वर के प्रति प्रेमी का भाव। ईश्वर को संसार का 'दूलह' मानना।

"त्रिभुअन केर जो दूलह, तेहि बिधि दई यह पीर ॥"

(२) विरह—ईश्वर का विरह—बिरले ही लोगों के हृदय में होता है। उसकी महिमा का 'मंझन' यों वर्णन करता है—

कोटि माहि बिरला जन कोई। जाहि सरीर विरह दुख होई।

रतन कि सागर सागरहिं, गज मोती गज कोइ।
चन्दन कि वन बन उपजै, विरह कि तन तन होय ॥

꧁ ꧁ ꧁ ꧁

जेहि जी देई बिरह उपराजा। निहचै तीन भुवन सो राजा।
बिरह पन्थ चढ़ी जिउ खोई। की जिव होइ कि प्रीतम होई ॥
बिरह दवाँ चारहुँ दिसि लागा। जो न जरै सो खरो अभागा।
विरह दुख दुख कहो न कोई। जग जम जिवन विरह बिन होई ॥
जेहि जग दई विरह दरसावै। सम दुख सुख तेहि दीठ देखावै।

'मंझन' अमर मूरि जग बिरहा जलि जो पावै बास।
निहचै अमर होइ सो जुगजुग काल न आवै तास ॥

꧁ ꧁ ꧁ ꧁

बिरह रूप जिन नैन उघारी। त्रिभुवन तेहि आगें उजिआरी।
बिरह अग्नि जी लाग न जाई। एहि जग जीवन बिरथा ताही ॥
एहि कलि जनम लहा तें काहा। बिरह अगिन महँ जिन जिउ बाहा।
तेहि दुख कहँ कैसे दुख कहई। जिहि दुख सों प्रीतम निधि लहई ॥
बिरह अगिन जेहि हीउर जरऊ। सहज अपान आप परिहरऊ।

꧁ ꧁ ꧁ ꧁

निर्माण काल

प्राप्त प्रति के अपूर्ण होने के कारण 'मधुमालती' का निर्माण काल ठीक ठीक निश्चय करना असंभव है। पर बाह्य और आभ्यन्तर प्रमाणों से

उसके काल का अनुमान भली भाँति हो सकता है। मलिक मुहम्मद जायसी ने अपनी 'पदमावती' में मधुमालती का उल्लेख यों किया है—

'साधा कुँअर मनोहर जोगू। मधुमालति कहँ कीन्ह वियोगू॥

इससे यह निश्चय है कि मधुमालती पद्मावत के पूर्व की है। मलिक मुहम्मद जायसी ने पद्मावत की रचना हि० संवत् ९४७ में की, जो विक्रम संवत् १५९५ में पड़ता है। अतः मधुमालती इस के पूर्व रची गई। जायसी ने अपने पदमावत में अपने पूर्व के आख्यानों का वर्णन इस क्रम से किया है—सपनावती, खँडरावती, मृगावती और मधुमालती। संभव है और अधिक संभव है कि यह क्रम उनके रचना काल के अनुसार हो। मृगावती का रचना-काल संवत् १५६६ है। मधुमालती क्रमानुसार मृगावती के बाद आती है। अतः मधुमालती संवत् १५६६ के पश्चात् रची गई होगी। अब यही मानना पड़ेगा कि मधुमालती का निर्माण काल संवत् १५६६ से १५९५ के बीच में है।

यहाँ एक यह भी शंका हो सकती है कि संभव है कि जायसी ने आख्यानों का कालानुक्रमेण क्रम न रखा हो। और यह विचारणीय है। मधुमालती में गोरख का नाम कई स्थलों पर आया है। यथा—

'वज्र कछौरी बाँधि के, बैस्यो गोरख बेस।'

महात्मा गोरखनाथ का समय संवत् १४०७ है। अर्थात् ये महात्मा १५ वीं शताब्दी में वर्तमान थे। मधुमालती में जिन 'गोरख' का उल्लेख है, वे महात्मा गोरखनाथ ही हैं। पीछे के प्रायः सभी कवियों ने तपस्या और अलौकिक चमत्कार का वर्णन करते समय इन्हीं गोरखनाथ का उल्लेख किया है। अब यह निश्चय है कि मधुमालती १५ वीं शताब्दी में या उसके पश्चात् रची गई होगी। गोरखनाथ के पश्चात् और जायसी के पूर्व मधुमालती का रचना-काल मानना पड़ेगा। यदि इसे मृगावती के बाद का मानें, तो इसका रचना काल संवत् १५६६ और १५९५ के बीच में होगा। अतः विक्रमीय १६ वीं शताब्दी के

अन्त में मधुमालती का निर्माण-काल मानना अनुचित न होगा। विक्रमी १६ वीं शताब्दी में उत्तरी भारत में धार्मिक पुनरुत्थान हो रहा था। वैष्णव धर्म के प्रचार के साथ साथ रामचरित्र की चर्चा घर घर फैल रही थी। कवि मंझन ने 'मधुमालती' जनता के लिये लिखी थी। उसे जनता के हृदयंगम कराने के लिये उसने उस समय में प्रचलित प्रवृत्ति का ध्यान रखा है। उसने मधुमालती में कहीं कहीं अवसर मिलने पर रामचरित्र का भी उदाहरण दिया है। यथा—

(१) दुसरहिं राम अवतरयौ आई।
रावन हनि कै सीय छुड़ाई॥

(२) लखन केहिं सकती परी, मोहि बिरह रहा घट पूर।
प्रेमा तै धनवन्त भई, मिल्यो सजीवन मूर॥

(३) सुत बियोग दसरथ की नाँई।
मैं पुन मरव पूत तुम्ह ताँई॥

मधुमालती की जो प्रति हस्तगत हुई थी, वह संवत् १७१६ के पूर्व की लिखी हुई थी; क्योंकि उसके पृष्ठों के किनारे पर लिखी याददाश्त की मिती हिजरी सन् १०६९ है। अतः यह प्रति उस समय से कुछ पूर्व अवश्य लिखी गई होगी।

आलोचना

कथा

साधारणतया किसी कथा का अंत वहीं होता है, जहाँ नायक और नायिका के व्यापार का अंत होता है। यह अन्त दोनों के संयोग, वियोग या मरण आदि से होता है। मधुमालती काव्य में मधुमालती और मनोहर के संयोग (विवाह) के पश्चात एक प्रकार से उसकी कथा का अन्त हो जाना चाहिए था; पर कवि इसके पश्चात् प्रेमा और तारा-

चंद का संयोग कराना चाहता है;' इसलिये इसके पश्चात् एक दूसरी कथा का आरंभ करता है। इस से स्पष्ट है कि मधुमालती में दो कथाओं का समावेश है। यदि कवि एक ही कथा रखना चाहता, तो वह मधुमालती और मनोहर के संयोग के साथ साथ उनके सहायकों (ताराचंद और प्रेमा) का भी संयोग करा देता, जैसा कि प्रायः नाटकों में देखा जाता है। पर कवि यहाँ ऐसा न करके ताराचंद और प्रेमा का संयोग कराने के लिये उन्हें प्रयत्न-निरत करता है। यद्यपि मधुमालती की प्रति के अपूर्ण होने के कारण निश्चयपूर्वक यह नहीं कहा जा सकता कि वह प्रयत्न कैसा हुआ है, पर प्रयत्न अवश्य हुआ होगा। यह निश्चित है।

कथा का आधार तथा विन्यास

मधुमालती की कथा का आधार ऐतिहासिक नहीं कहा जा सकता। उसके पात्र तथा उनके व्यापार केवल कल्पित हैं। भारतीय साहित्य में प्रसिद्ध उषा और अनिरुद्ध की कथा के आधार पर इसकी कथा की रचना की गई है। मधुमालती और मनोहर के प्रेम की उत्पत्ति उसी रूप में तथा उन्हीं परिस्थितियों में होती है जिनमें उषा और अनिरुद्ध की हुई थी। इस प्रकार की प्रेमोद्भावना केवल भारतीय साहित्य तक परिमित नहीं है। फारसी और अरबी साहित्य में भी इसका आश्रय लिया गया है। अलिफ लैला में कई ऐसी कथाएँ हैं जिनमें नायक और नायिका में इसी प्रकार प्रेम उत्पन्न होता है।

प्रचलित काव्य प्रणाली के अनुसार मधुमालती के नायक और नायिका राजवंश के राजकुँवर और राजकुमारी हैं। विपक्षी पात्र राक्षस, जिस से मनोहर को युद्ध करना पड़ा था, वास्तव में उसका विपक्षी नहीं कहा जा सकता। उसका अस्तित्व एक प्रकार से मनोहर की कठिनाइयों की संख्या बढ़ाने के लिये तथा प्रेमा को उपकृत करने के लिये है।

यह अस्तित्व एक प्रकार से निर्जीव सा प्रतीत होता है। इस काम में मनोहर को उतनी ही कठिनाई हुई होगी, जितनी उसे एक दुर्गम पर्वत के पार करने में होती।

मधुमालती की कथा में कवि ने अलौकिक तत्व (Supernatural Element) का भी समावेश किया है। प्राचीन कथाओं में प्रायः ऐसे स्थलों पर इन तत्वों का समावेश किया जाता है, जहाँ या तो कवि को भयानकता या आश्चर्य्य की मात्रा को आधिक्य पर पहुँचाना अभीष्ट होता है, या जहाँ वह ऐसी घटनाओं का आरोपण करना चाहता है, जिन्हें उद्धृत करने के लिये मानुषिक शक्ति अशक्त होती है। मधुमालती में पहले पहल कवि मनोहर और मधुमालती का साक्षात् 'सिरहुन' (अप्सराओं) द्वारा कराता है। पुनः मनोहर को प्रेमा की मुक्ति कराने के लिये विकट कार्य्य करने का अवसर देने के उद्देश्य से राक्षस की कल्पना करता है। आगे चलकर मधुमालती को विरह वेदना सहने और मनोहर से मिलने के लिये नायक के तुल्य प्रयत्न करने का अवसर देने के लिये उसे 'पक्षी' का रूप देना उचित समझकर वह उसे उसकी माता के द्वारा वह रूप प्रदान कराता है। मधुमालती को मनोहर के लिये सारे संसार में ढूँढ़ते फिरने के लिये कवि ने यह आवश्यक समझा कि उसकी माँ के द्वारा उसे 'पक्षी' का रूप प्रदान करावे। अतः उसने मधुमालती की माँ को यह शक्ति प्रदान की कि वह मनुष्य को पक्षी बना दे।

मंझन की कथा के अन्य पात्रों में कोई ऐसा नहीं है जिसका चरित्र अधिक प्रकाशमय हो। जान पड़ता है, कवि को जहाँ आवश्यकता पड़ती है, वहाँ वह नायक या नायिका के माता पिता की कल्पना कर लेता है। पर वह कथा में भिन्न भिन्न पात्रों के व्यापारों को सुचारु रूप से चलाने में असमर्थ है।

सारांश यह कि मधुमालती की कथा का ढाँचा साधारण है। उसकी कथा में कोई विशेष चमत्कार नहीं है। कवि ने उसे अपनी कविता से सजीव बनाने का प्रयत्न तो किया है, पर वह उसे सजीव नहीं कर सका है। केवल एक सुन्दर पुतला बनकर रह गया है। आदि कथाओं में आधुनिक नाटकों और उपन्यासों की सजीवता दुर्लभ भी है।

प्रेम पद्धति

मुसलमान कवि द्वारा प्रणीत आख्यानक काव्यों में प्रायः दाम्पत्य-प्रेम का आविर्भाव गुण-श्रवण, चित्रदर्शन, स्वप्नदर्शन आदि से होता है; और यही नायक और नायिका को संयोग के लिये प्रयत्नवान् करता है। मनोहर और मधुमालती का साक्षात् पहले पहले मधुमालती की चित्रसारी में होता है। यहाँ एक बात यह याद रखने की है। प्रायः सभी हिन्दू काव्यों में, और मुसलमानों द्वारा लिखे हुए अनेक हिन्दी काव्यों में भी, नायक और नायिका में प्रेम पहले उत्पन्न होता है; और उनका शारीरिक संयोग विवाह के पूर्व (निन्दनीय समझा जाने के कारण) कवियों द्वारा नहीं दिखाया जाता। मधुमालती में मंझन ने मनोहर और मधुमालती के प्रथम साक्षात् में उनकी प्रेमोद्भूति के साथ साथ उनका शारीरिक संयोग भी करा दिया है। हाँ, इतना अवश्य किया है कि उनके शारीरिक संयोग को 'रति' की अवस्था तक नहीं पहुँचाया है। दोनों प्रेम क्रीड़ा करते हैं; पर प्रेमी प्रेमिका केवल एक दूसरे को 'रिझाते' 'खिझाते' हैं। प्रेमकेलि के पराकाष्ठा पर पहुँचने के समय ही नायक और नायिका दोनों सो जाते हैं। इस प्रकार वे निन्दनीय संयोग की सीमा को उलंघन नहीं करते। कवि मंझन इनके प्रेम की पवित्रता का व्यंजन इस प्रकार करता है—

अवि जिउ वार प्रीत स्यों राखे कैसहिं राखि न जाइ।
जो सत भाव सहज सों मिलै प्रीत साथ जिउ जाइ॥

कहत सुनत रस बचन सुहाई। लोयन अथल नींद भरि आई।
लुब्धी नैन प्रेम रस जागी। होत भोर चारो चख लागी॥

❀ ❀ ❀ ❀

मधुमालती के नायक और नायिका का परस्पर प्रेम एक दूसरे को देखने पर उत्पन्न होता है। प्रथम साक्षात् ही में एक दूसरे के रूपाधिक्य के कारण उनके प्रेम की उत्पत्ति नहीं होती, वरन् उनके प्रेम के सहसा उद्भूत होने का कारण उनके पूर्व जन्म का संस्कार था। मनोहर स्वयं मधुमालती से कहता है—

कहै कुँअर सुन प्रेम पियारी। मोहिं प्रीति पुब्ब विधि सारी।
मैं न आजु तोर दुक्ख दुखारी। तोर दुख स्यों मोहि आदि चिन्हारी॥
यह जग जीवन मोह तें लाहा। मैं जिउ देइ तोर दुक्ख बेसाहा।
जेहि दिन सिरज्यो अँस विधि मोरा। तेहि दिन मोहि दरस्यौ दुख तोरा॥
वर कामिन तुम्ह प्रीत किनेरू। मोहि मानति वहु सान सरीरू।

पूरब दिन स्यों जानहि, तुम्हरी प्रीत की नीर।
मोहिं मानति विधि सानकी, तो यह सिरज्यो सरीर॥

❀ ❀ ❀ ❀

सुन्यो जाहि दिन सृष्टि उपाई। प्रीत परेवा देव बड़ाई।
तीनो लोक ढूँढ़ि कै आवा। आय जोग कहुँ ठाँव न पावा॥
तब फिर हम जिउ पैठो आई। रह्यो लुभाय न कियो उदाई।
तीन भुवन सब पूँछी बाता। कहुँ त किस मानुस सों राता॥
यह्स दुख मानुस केहि कर आसा। जहवाँ दुख तहाँ मोर बासा।

❀ ❀ ❀ ❀

आउर हम तुम एक सरीरू। दोउ मानत सानी एक नीरू॥
अजहूँ मोहिं न चीन्हेसि बारी। सँवर देखु चित्त आदि चिन्हारी।
देखत ही पहिचान्यों तोहीं। एही रूप जिन छँदयो मोहीं॥

❀ ❀ ❀ ❀

इस से प्रकट है कि मनोहर और मधुमालती के प्रेम के सहसा उत्पन्न होने का कारण उनका पूर्व जन्म-जनित प्रेम संस्कार था।

मुसल्मानी साहित्य में प्रेम हो जाने के पश्चात् नायक का प्रयत्न प्रेमाधिक्य के कारण नायिका से मिलने के हेतु अधिक होता है और प्रायः कवि गण काव्यों में उन्हीं के प्रयत्न का वर्णन करते हैं। लैला मजनूँ, शीरीं फ़रहाद आदि फारसी कहानियों में यह बात भली भाँति देखने को मिलेगी। भारतीय साहित्य में नायिका के प्रेम का आधिक्य अधिक दिखाया जाता है।

मधुमालती में हम भारतीय और मुसल्मानी दोनों साहित्य के आदर्शों का भली भाँति सामंजस्य पाते हैं। मनोहर मधुमालती को चित्रसारी में देखने के पश्चात् जब अपने पिता के घर 'सिरहुनों' द्वारा पहुँचाया जाता है, तो वह उसके लिये प्रयत्नवान होता है।

मधुमालती के प्रेम की मात्रा मनोहर के प्रेम से कम नहीं है; पर वह एक हिन्दू कन्या होने के कारण मारे लज्जा के उस दारुण प्रेम की वेदना भीतर ही भीतर सहती है। यहाँ तक कि जब उसकी सखी प्रेमा उससे मनोहर के विषय में पूछती है, तब वह उत्तर देती है—

सुनत चकित भइ राज कुँआरी। कहेसि मोहि वह कइस चिन्हारी।
कौन कुँवर कर जानूँ बाता। मोरे रूप कहा वह राता॥
देखि मोहि कहाँ वे पावा। औ किन ओहि मोर नाँव सुनावा।
पिता घरहिं मैं बारि कुँआरी। पर पुरुषहिं मोर कइस चिन्हारी॥
और अस बात पिता सुनि पावहिं। मोहि जिअतै धरि ठाठ गड़ावहिं॥

❀ ❀ ❀

इस प्रकार वह अनेक बातें बनाकर अपने प्रेम को छिपाना चाहती है। पर प्रेमा उसे उसकी मुद्रिका दिखाती है, जो उसने मनोहर को दी थी (देखो कथा)। तब मधुमालती उसके प्रेम को छिपाने में असमर्थ हो जाती है और वह प्रेमा के सन्मुख सब कुछ स्वीकार करती है। मुद्रिका

देखते ही उसके प्रेम का वास्तविक रूप प्रकट होता है; उसकी आँखें भर आती हैं। वह अपनी सारी प्रेम-कहानी प्रभा से कह सुनाती है। मधुमालती कहती है—

अबलहि विरह अगिन जो राख्यो जान कुटुम्ब के कान।
लाजहिं कहूँ न काहु, केत सहत्यों जिव हान॥

❀ ❀ ❀ ❀

मधुमालती के एक हिन्दू राजा की कन्या होने के कारण कवि उसे वह उच्छृंखलता तथा स्वाधिनता देने में असमर्थ था जो कि एक प्रेम-संतप्ता नायिका को नायक से मिलने के लिये प्रयत्नवान कर सकती; अतः उसे आगे चलकर मधुमालती को 'पत्ती' का रूप देना पड़ता है। 'पत्ती' होकर मधुमालती अपने प्रिय को ढूँढ़ने के लिये सारे संसार में चक्कर लगा सकती है। यहाँ कवि ने बड़े चातुर्य्य से काम लिया है। मधुमालती को उसने पत्ती का रूप दिया; पर मधुमालती की इच्छा के अनुसार नहीं। कवि ने ऐसा नहीं किया कि मधुमालती को विरह से संतप्त होकर प्रिय से मिलने के लिये आतुर होकर किसी साधु महात्मा से वह वर माँगने जाना पड़े, जिससे उसे पत्ती का रूप मिल सके। वरन् उसने हिन्दुओं के आचार विचार के अनुसार यही रखा है कि मधुमालती के प्रेम का हाल सुनकर उसकी माता उस पर क्रुद्ध हो जाय और उसे भला बुरा कहे। हाँ, कवि को इतना अवश्य करना पड़ा है कि मधुमालती से अपनी माता की आज्ञा के विरुद्ध आचरण करवाना पड़ा है। उसकी माता उसे बहुत कुछ समझाती है, पर वह एक भी नहीं सुनती। तब वह क्रुद्ध होकर उसे शाप देती है और वह (मधुमालती) पत्ती का रूप धारण करती है। कवि को किसी प्रकार मधुमालती को 'पत्ती' का रूप देना अभीष्ट था। उसने यहाँ बड़ी कुशलता से काम लिया है। कथा में यद्यपि उसे मधुमालती को पत्ती का रूप देने के लिये अमानुषिक शक्ति का सहारा लेना पड़ा है, तो भी उसने मधुमालती के

हिन्दू कन्या होने की बात नहीं भुला दी है। मधुमालती का पक्षी का रूप धारण करना यद्यपि आधुनिक विचारों से हमें असंभव तथा उपहास योग्य जान पड़ता है, पर कवि के समय में यह बात उतनी ही सच्ची और संभव समझी जाती थी जितना कि अब किसी समाचार का क्षण भर में किसी दूरस्थ स्थान को भेजा जाना।

पक्षी का रूप धारण करके मधुमालती प्रिय से मिलने के लिये उसी प्रकार प्रयत्नवान होती है, जिस प्रकार मनोहर हुआ था। नायक और नायिका दोनों को संयोगार्थ प्रयत्नवान करके 'मंझन' ने अपने काव्य में भारतीय और मुसल्मानी आदर्शों का अच्छा सामंजस्य किया है।

ईश्वरोन्मुख प्रेम

यह पहले ही कहा जा चुका है कि मधुमालती का रचयिता मंझन सूफी सम्प्रदाय का अनुयायी था। सूफी मत में जीवात्मा और परमात्मा में पारमार्थिक भेद न माने जाने पर भी साधकों के व्यवहार में ईश्वर की भावना प्रियतम के रूप में की जाती है। मधुमालती में इसकी झलक प्रायः सभी स्थलों में दिखाई पड़ती है।

मधुमालती का विरह मनोहर के लिये वैसा ही है, जैसा किसी योगी का ईश्वर के लिये। मनोहर उसे पाने के लिये अपना घर बार छोड़कर योगी होकर उसके पीछे चलता है, और केवल उसी का नाम रटता हुआ * अनेक दुःखों का सामना करता हुआ उसकी खोज में निकलता है। जिस प्रकार "लगन" के बिना योगी को ईश्वर नहीं मिलता, उसी प्रकार जब तक मनोहर को प्रेमा नहीं मिलती, तब तक मधुमालती का उसे, पता नहीं लगता। कहने की आवश्यकता नहीं कि कवि ने प्रेमा को वास्तविक प्रेम का मूर्तिमान रूप रखा है।

कवि ने जहाँ कहीं वियोग के दुःख का वर्णन किया है, वहाँ

---

* मधुमालति मधुमालति ररई। सँवर सँवर सोर मुँह ले धरई॥

उसे जगत के सारे पदार्थ उस दुःख का अनुभव करते दिखाई पड़ते हैं। सूफ़ी मत के कवियों ने प्रायः लौकिक वियोग का वर्णन करते समय विश्वव्यापी वियोग का वर्णन किया है। 'मंझन' ने भी ऐसा ही किया है।

प्रेमा अपने दुःख का वर्णन मनोहर से करती और रोती है। उसके रोने पर कवि कहता है—

रकत धार तस प्रेमा रोवा। जे रे सुना तेहि हिया करोवा।

❀ ❀ ❀ ❀

प्रेमाँ नैन रक्त जो रोवा। सो ले ताहि रकत मुख धोवा।
पग करार जर भए दोऊ कारे। दुख दाहीं तरिवर पछितारे॥
कमल गुलाल भई रतनारे। फूल सबहिं तन कापर फारे।
देख अनार हिआ भरि आनाँ। नीबू तरु निज डार पेसरानाँ॥
नारँग रकत खूँट भइ राती। खाइ खजूर फाट गइ छाती।
आम भयऊ दुख बउरा, महुआ भयो बिन पात।
ऊख भई दुख टुक टुक, सुन प्रेमाँ उत्पात॥
भँवर भुजग दुऊ देव जरी। दुख करील पात परिहरी।
मेहँदी रकत घोट रति भीनी। जूही भई दुकख तन छीनी॥
टेसू आगि लागि सिर रहा। कलिएँ बदन दुख संपत कहा।
फरी डार तरिवर दुख नाई। कुमुँद कमल जल-बूड़ी जाई॥
जामुन डार भई दुख कारी। कटहर पहिर काँट की सारी।
रकत रोय वन घुँघुँची, रही जो राती होय।
मुँह काला कै वन गई, जग जानै सब कोय॥
दुक्ख दगध बड़हर पियराना। अमली टेढ़ भई जग जाना।
रूखन दुख दाँत भुँई धरी। काकुल पत्र भूमि परिहरी॥
हारिल दुख हारि मुँह आवा। गादुर से दुख रूख टँगावा।
दुख केरे मैं भँवर डरानी। भइ नितेज रूखहिं लपटानी॥
चील्ह जो दुख केरे मैं डरी। कबहूँ पुरुष कबहूँ इस्री।

काव्य

साहित्यिक दृष्टि से मधुमालती को हम उत्तमोत्तम काव्यों की श्रेणी में स्थान दे सकते हैं। मुसलमान कवियों द्वारा प्रणीत आख्यानों में जायसी की प्रौढ़ता को अन्य काव्य नहीं पहुँच सके हैं; पर वे भी उस से मिलते जुलते ही हैं। 'मधुमालती' में यद्यपि जायसी की सी प्रौढ़ता नहीं है, तो भी उसका साहित्यिक महत्व यथेष्ट है। कवि की शैली बड़ी ही 'जोरदार' है। कहीं कहीं तो उसने अपनी प्रतिभा का अच्छा प्रमाण दिया है। कुछ सुन्दर अंश उदाहरणार्थ यहाँ उधृत करते हैं।

(१) मधुमालती और मनोहर की शृंगार चेष्टाओं तथा प्रेम क्रीड़ा का कवि ने कैसा सजीव चित्र खींचा है—

प्रेम भाव दुहुँ अस अनसरेऊ। पर आपन भय जो नहिं धरेऊ।

❀ ❀ ❀ ❀

कबहूँ आलिंगन रस देई। कबहूँ कटाछ जीव हर लेई॥
कबहूँ भौंहँ बान जो मारे। कबहूँ बचन अमी अनुसारे॥
कबहूँ नैन जीव हरि लेहीं। कबहूँ अधर सुधानिधि देहीं॥
कबहूँ सीस चरनन्ह लै लावै। कबहूँ आप अपान गँवावै॥
कबहूँ चेहर लहर बिस सारहिं। कबहूँ नैन मंत्र पढ़ि मारहिं॥
कबहूँ प्रेम लेन रस मौंहाँ। कबहूँ उपमाँ रस रस मौंहाँ॥
कबहूँ मान स्यों प्रीत बढ़ावै। कबहूँ नैन मिल रस उपजावै॥
कबहूँ अधर रस सहज जिआवहिं। कबहूँ प्रेम अनन्द बजावहिं॥
कबहूँ प्रेम समुन्द हिलोरा। कबहूँ आप मोहिं परत निहोरा॥
कबहूँ प्रेम मद माती गरभहि, काहू न उत्तर देइ।
कबहूँ प्रेम भाव रस मानहि, प्रीतम दास घनेइ॥
कबहूँ प्रेम कहि मार उड़ावै। कबहूँ सुधारस सींच जिआवै।
कबहूँ प्रेम अनन्द हुलासा। कबहूँ देहिं बियोग निरासा॥

कबहूँ नैन रूप फुलवारी। कबहूँ जिव जोबन बलिहारी॥
कबहूँ प्रम मेहारस लेहीं। कबहूँ जीव न्योछावर देहीं॥
कबहूँ लाज, समुझि कुल भावा। कबहूँ रहस हुलास सोवावा॥

❀ ❀ ❀ ❀

(२) मधुमालती का शिखनख वर्णन—

तेहि पर कच बिषधर बिष सारी। लोटहँ सेज सहज लहकारी।
निसि अजोर जो बदन देखाएँ। निस अँधेर दिन कच सुकराएँ॥
कच न होहिं बिरही दुख सारा। भयो जाय मध सीस सिंगारा॥
भूली दसो दिसा निज ताही। चेहर चिन्हार भई जग जाही॥

छटकी चतुर सोहागिन, जगत भयो अँधकाल।
जिन बिरही जन जीव बध कारन, मन्मथ रोपा जाल॥

जग सुवास बौरी भइ जानहिं। कछु जानेस धौं कारन बाँहीं॥
की जनु मृग मद नाभ उखारी। की मधुमालति चेहर सँवारी॥
बह जो जगत मलयानिल बाऊ। अति सुगन्ध जानेसि केहि भाऊ॥

❀ ❀ ❀ ❀

निर कलंक ससि दुइज लिलारा। नवखँड तीन भुवन उजियारा॥
बदन पसेव बूँद चहुँ पासा। कच पेचैं जनु चाँद गरासा॥
मृगमद तिलक ताहि पर धरा। जानहिं चाँद राहु बस परा॥
गयो मयंक स्वर्ग जहँ लाजा। सो लिलाट कामिन पहँ छाजा॥
सहस् कला देखी उजिआरा। जग ऊपर जगमगत लिलारा॥

त्रिमयंक ऊपर निसिपाती, बनी आहे किस रीत।
जानहिं ससि औ निसि स्यो, भई सुरत विपरीत॥

❀ ❀ ❀ ❀

दोऊ नैन जिन जी की ब्याधा। देखत उतही मरै की साधा॥
सन्मुख नैन केल जिम करहीं। की जनु दुइ खंजन उड़ लरहीं॥

अचरज एक का बरनौं, बरनत बरन न जाय।
साँरग सारँग की नर वर, मई पौदही आय ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अधरा में रस भरे सोहाई। येम वरैं हित रकव वसाई ॥
अति सुरंग कोमल रस भरी। जाँहि वनिव मयंकम मरी ॥

❀ ❀ ❀ ❀

अति सरूप दुइ सहन अमोली। जिन्ह देखत त्रिभुवन मन डोली ॥
कठिन हियें महिं विधि निरमई। तातें कठिन सहन दुइ भई ॥
जोहै प्रानपवि हिये सनचरी। कुच आदर कहँ उठ मइ खड़ी ॥
दोऊ अनूप श्रीफल नेई। भीनत आन वर वानें दई ॥
जिवहिं प्रानपति की है छाई। कुच संकोच उठ बाहर आई ॥

❀ ❀ ❀ ❀

भाषा

मधुमालती की भाषा अवधी है। इसमें तत्सम शब्दों का बहुत कम प्रयोग देखने में आता है। कुछ बुन्देलखण्डीपन भी कहीं कहीं इसमें झलकता है; जैसे—स्यों और हते शब्दों का प्रयोग। एक विचित्र शब्द का प्रयोग मँझन ने किया है, जिसकी व्युत्पत्ति का पता नहीं चलता। वह है—सिरहुन—(संभवतः यह 'अपसराओं' के लिये आया है)जैसे—

पुन सिरहुन फिर आई तहाँ। गई सोआय कुँअर कहँ जहाँ।

छंद

प्रायः मुसल्मान कवियों ने अपने आख्यानों की भाषा अवधी ही रखी है और इसी लिये उन्हें दोहे चौपाई जैसे सरल छंदों का प्रयोग करना पड़ा है। मधुमालती में चौपाइयों और दोहों का क्रम पाँच पाँच

चौपाइयों के पीछे एक दोहे का है। आगे चलकर कवियों ने चौपाइयों की संख्या बढ़ा दी है। मधुमालती के दोहे बहुत कम मात्रा में शुद्ध हैं, पर चौपाइयाँ अधिकतर शुद्ध पाई जाती हैं।

काव्य का प्रचार

मधुमालती का प्रचार संवत् १६७० तक था; क्योंकि उसका उल्लेख उसमान कवि ने अपनी 'चित्रावली' में किया है—

मधुमालति होइ रूप देखावा।
प्रेम मनोहर होइ तँह आवा॥

जान पड़ता है कि इसके पीछे उसका लोप हो गया; क्योंकि आगे कहीं उसका उल्लेख नहीं मिलता। अभी तक तो 'खोज' में भी उसकी अन्य प्रति नहीं मिली है, न कहीं उसका उल्लेख ही मिला है। संभव है कि आगे कभी इसका उल्लेख मिले या पता लगे।

[शेष आगे।]

मन्त्र-विम्ब (१५)

[लेखक—मौलवी मुहम्मद यूसुफ़ख़ाँ, अफ़सुँ, काशी ।]

[ना० प्र० पत्रिका भाग ६, अंक २, पृ० १८९ से आगे]

तिथि वर्णन

पहले लिखा जा चुका है कि तिथि उस गद्य या पद्य को कहते हैं जिसके अक्षरों के अंक जोड़ने से किसी विशेष घटना का सम्वत् आदि मालूम हो। जिन अक्षरों से तिथि निकलती है, उन्हें फ़ारसी में माद्दा और हिन्दी में तिथिसार कहते हैं। तिथि के भेदों का हाल लिखने से पहले दो चार विशेष नियम लिखे जाते हैं।

तिथि के विशेष नियम

१—केवल मूल अक्षर का अंक लिया जाता है, अमूल अक्षर का अंक नहीं लिया जाता। मात्राएँ अमूल समझी जाती हैं।

२—अक्षरों के अंक प्रचलित गणित विद्या के नियमानुसार लिए जाते हैं। जैसे वेद कला नियम से राम का १००० लिखे, तो पद्य या गद्य में उसका वर्णन कर दे, कि लोग उसी नियम से समझें।

३—प्रचलित गणित से भिन्न किसी गुणकला में तिथि लिखे, तो पद्य में, यदि पद्य में न आ सके तो तिथि के आदि में गद्य में, उस गुण-कला का वर्णन कर दे, जिससे पढ़नेवाला समझ जाय। जिस गुण-कला तिथि का भावार्थ कठिन हो, उस तिथि के साथ, तिथि भाषा भाष्य और जाँच का रूप भी लिख देना चाहिए। कभी तिथिसार में, कभी तिथि-सार से भिन्न तिथि काव्य में दिन, महीना इत्यादि भी लिख देते हैं।

४—तिथिसार शब्दों के अर्थ ऐसे हों कि बहुत नहीं तो थोड़ा ही सही, जिस घटना की तिथि हो, उस घटना का पता चल जाय। नहीं तो वह तिथि कभी तिथि नहीं मानी जायगी। जैसे किसी हास्य रस के

छन्दों के संग्रह का सम्वती नाम "हस्साहक छन्द" रक्खा जाय, जिससे सम्वत् १९७९ प्रकट होता है, तो लोग सुनते ही समझ जायँगे कि ये किसी हास्य रस के छन्द या छन्दों के संग्रह का नाम होगा। और यदि उसी संग्रह का नाम "देह सूझा" रक्खा जाय कि इस वाक्य से भी संवत् १९७९ प्रकट होता है, तो नाम सुनकर कोई यह नहीं जान सकता कि यह हास्य रस के छन्दों के संग्रह का नाम है। ऐसी तिथि, तिथि नहीं मानी जायगी।

५—तिथि काव्य में कोई शब्द ऐसा अवश्य होना चाहिए जिससे लोग तिथिसार को पहचान लें; और यह भी जान ले कि तिथि से कौन सा सन् निकलता है। विक्रमी संवत् हो तो काव्य में विक्रम, विक्रमी, शब्द लाने की ऐसी आवश्यकता नहीं। जून, काल, समय, सन्, साल, वर्ष, संवत् इत्यादि में से जिस एक शब्द का चाहे, वाक्य में वर्णन कर दे। उस शब्द से उज्जैन के राजा विक्रमादित्य (विक्रमाजीत) का ही सन् समझा जायगा। हाँ यदि हिजरी; फसली, ईसवी इत्यादि में से कोई सन् हो, तो उस सन् का काव्य में अवश्य वर्णन कर दे। तिथिसार काव्य के नीचे संवत् के अंक भी लिख दिया करे। इससे दो लाभ होंगे। एक तो जो पुरुष यह विद्या न जानता होगा, या अंक जोड़ने से घबराता होगा, वह भी देखकर इतना जान जायगा कि यह सन् है, और यह तिथि-कला काव्य है। दूसरे यह कि विद्वान अंक का तिथिसार से मिलान करके उसे जाँच भी लेंगे।

उ० और अ० ब०

जिस उदाहरण तिथि के नीचे सन् के पूर्व, उ० लिखा रहे, समझ लेना चाहिए कि यह तिथि उरदू, फारसी इत्यादि का उल्था है। और यदि कहीं अ० ब० लिखा हो तो जानना चाहिए कि यह "अफ़सूँ बनारसी" का संक्षिप्त नाम है।

निरान्तरिक तिथि

निरान्तरिक तिथि उस तिथि को कहते हैं, जिसमें संख्यासूचक शब्दों और अक्षरों के अंक को त्यागकर केवल शब्दों द्वारा सम्वत् का वर्णन कर दिया गया हो। उदाहरणार्थ—

दोहा

कन्या विक्रय खेल जब, निकला बारम्बार।
तेरह सै चालीस था, हिजरी सन् विस्तार॥
संवत्, १३४० हिजरी। (अ० व०)

ईस वर्ष अठारह सौ, सत्तावन के द्वार।
मिट्टू धनियन को मिले, ढूँढ़े ना आहार॥
सं० १८५७ ईसवी। (मिट्टू)

ईस, ईसवी का संक्षिप्त नाम है। पर यह ठीक नहीं। ईसवी, मसीही, इंगलिश, अँगरेजी आदि शब्दों में से कोई शब्द होना चाहिए। ऐसी तिथि से सन् तो अवश्य मालूम हो जाता है, किंतु यह प्रशंसा योग्य नहीं होती।

आन्तरिक तिथि

इस आन्तरिक तिथि के बहुत से भेद हैं। हर भेद को उसके गुण नाम के साथ कला कहते हैं। इस विषय में कवि जनों को अपनी उपज से नई कला निकालने का सदा से अधिकार है। किन्तु कोई नियम न बदलने पावे। इस तिथि के प्राचीन अनेक भेदों में से कुछ भेद, उदाहरण और जाँच रूप के सहित यहाँ लिखे जाते हैं।

१—पूर्ण कला—जिस तिथिसार से सन् के पूरे अंक निकलते हों, घट-बढ़ का ऐसा झगड़ा न हो कि दूसरे चरण में बताना पड़े, शब्द अच्छे हों, घटना का पता चलता हो, यह तिथि अच्छी समझी जाती है। उदाहरण—

दोहा—हिन्दी सुभाषितोष्ट ये, छपी धढ़े नित मान।
प्यारी पुस्तक हल गुणी, अकसूँ संवत् जान॥
सं० १९७९ विक्रमी। (अ. व.)

इसका तीसरा चरण तिथिसार है।

पाँव रूप

य, र, प, त, क, ड, ल, ग, ए,
५०० + ६०० + ९० + ५० + १ + ३० + ७०० + ३ + ५ = १९७९

२—प्रवेश कला—यदि तिथिसार में १ से ९ तक एकाई का कोई अंक कम हो, तो उस अंकवाले किसी शब्द या अक्षर के मिलाने का किसी मुख्य शब्द के हेतु से वर्णन कर दे। किन्तु वह शब्द ऐसा न हो कि जिससे उस क्रिया के विरुद्ध किसी बात का बोध होता हो।

शब्द के तीन भाग

शब्द के तीन हिस्से माने जाते हैं—आदि, मध्य और अन्तिम।

१—आदि को-सिर, कपाल, मत्था, मस्तक, पूर्व, आदि,

२—मध्य को—हृदय, चित्त, अंत:करण, प्राण, मध्य, आदि, और

३—अन्तिम को—पग, पाद, अन्त, अन्तिम, शेष आदि कहते हैं।

इन शब्दों को काव्य में ऐसी रीति से लिखे कि वाक्य का अर्थ भी न बिगड़े और यह भी समझ में आ जाय कि कौन सा अक्षर लेना चाहिए। उदाहरण—

चौपाई—जब कीन्हो रघुवर रघुराई। हिन्दू मुसलिम विलगे भाई॥
सुख पग पड़के वर्ष बतायो। देशी भाई भाइ अघायो॥
सं० १९७९ वि० (अ. व.)

चौथा चरण तिथिसार है। इसमें २ कम था। अतः सुख का पग अर्थात् अन्तिम अक्षर ख, जिसके २ अंक होते हैं, मिलाया गया।

जाँच रूप

द, श, भ, ई, भ, ई, अ, ध, य

७० + ८०० + ३०० + १ + ३०० + १ + १ + ४ + ५०० = १९७७ + २ = १९७९.

३—प्रवेश गुणी कला—तिथिसार में एकाई से अधिक जितना कम हो, उतने अंक का अक्षर, शब्द, या वाक्य ऐसी रीति से मिलावे कि तिथि की शोभा बढ़ जाय। उदाहरण—

चौपाई—उरदुसुमापित गुणी छपायो। संवत् मंत्री बिम्ब बतायो॥
छव इव उत्तम भाव अनोखा। गोद भाव, बढ़े रस चोखा॥
सं० १९७९ वि० (अ. ब.)

तीसरा चरण तिथिसार है। ५७३ कम हैं, "गोदभाव" जिस के अंक ५७३ होते हैं, मिलाया गया। गोद भाव बढ़े अर्थात् पुस्तक लेने का मूल्य बढ़े।

जाँच रूप

छ, ब, ढ़, व, उ, त, म, भ, व,
७ + २०० + ४० + २०० + १ + ५० + ४०० + ३०० + २००
अ, न, ख, ग, द, भ, व,
+ १ + ५ + २ + ३ + ७० + ३०० + २०० = १९७९

४—प्रस्थान कला—तिथिसार में एकाई का जो अंक अधिक हो, उसे घटाने का वर्णन कर दे। एकाई से अधिक अंक का सरल रीति से वर्णन करने को "प्रस्थानगुणी कला" कहते हैं। उदाहरण—

संवती दो पंच छडे, कहत फिरे भर गाँव।
ईंदू से या जग छुटो, छटो बीते ठाँव॥
सं० १९७९ वि० (अ. ब.

तीसरा और चौथा चरण तिथिसार है। ७ अंक अधिक होते थे। दो पंच उठे। अर्थात् २ और ५ कुल ७ अंक उठ गए, कम हो गए।

जाँच रूप

ई, द, स, य, ज, ग, छ,
१ + ७० + ९०० + ५०० + ८ + ३ + ७ +
ट, छ, ट, थ, त, ठ, व,
१० + ७ + १० + २०० + ५० + २० + २०० = १९८६
७
१९७९

५—मात्रा रहित कला—तिथिसार के मात्रावाले अक्षरों को छोड़ कर बिना मात्रावाले अक्षरों को ग्रहण करते हैं। उदाहरण—

गंगा मात्रा त्यागये, संवत् की है थाह।
जस मानो यह विष्णु का, पूत का देख्यो ब्याह॥
स० १९५८ वि० (अ. ब.)

तीसरा और चौथा चरण तिथिसार है। दोनो चरणों मे मात्रा रहित केवल चार ही अक्षर हैं।

जाँच रूप

ज, स, त, ह,
८ + ९०० + ५० + १०० = १९५८

६—मात्रिक कला—तिथिसार के केवल मात्रावाले अक्षरों को जोड़ते हैं। उदाहरण—

तिथि जो पूछी मात्रिक, दूम लगन की आन।
सुगत लगन है दूम की, वर्ष मसीही जान॥
सन् १९११ ई० (अ. ब.)

तीसरा चरण तिथिसार है।

जाँच रूप

स, द, ट, क,

९०० + १००० + १० + १ = १९११.

७—व्यंजन कला—तिथिसार के व्यंजन अक्षरों का अंक जोड़ते हैं; स्वर अक्षरों को छोड़ देते हैं। उदाहरण—

ठाकुर जी बड़गाँव से, मन्दिर दीन्ह बनाय।
बना शिवाला अठखँडा, व्यंजन संवत् जाय॥
सं० १९५७ वि० (अ० ब०)

तीसरा चरण तिथिसार है। इसमें एक ही अक्षर स्वर है, जो छोड़ दिया गया।

जाँच रूप

ब, न, श, व, ल, ठ, ख, ड,

२०० + ५ + ८०० + २०० + ७०० + २० + २ + ३० = १९५७

८—जोड़ कला—तिथिसार में जो जोड़ अक्षर होते हैं, उनमें जो अमूल अक्षर जुड़े होते हैं, उन्हीं के अंक लेते हैं, और मूल अक्षरों को छोड़ देते हैं। उदाहरण—

इस पुस्तक की मान था, जोड़ कला सुन साल।
रङ्गी विद्या कर्म्म पढ़, स्वामी ने दी शाल॥
स० १९७३ वि० (अ० ब०)

तीसरा और चौथा चरण तिथिसार है। ङ्ग में ग, द्य में द, र्म्म में म और र, स्व में स, ये ५ जुड़े हुए अमूल अक्षर हैं। इन्हीं के अंक लिए गए हैं।

जाँच रूप

संयुक्त अक्षर, ङ्ग, द्य, र्म्म, स्व,
अमूल अक्षर, ग, द, म, र, स,

३ + ७० + ४०० + ६०० + ९०० = १९७३.

९—गुप्त गणित कला—तिथिसार के अक्षरों के अंक, अक्षरों में लिखते हैं, और उन अक्षरों के अंक जोड़ते हैं। ऐसे अंकवाले अक्षरों का कोष्टक देखिए।

गुप्त गणित कोष्टक

क २	ख ७०	ग ५५	घ ६०६	ङ ९६	च ७	छ ९५०
ज २१	झ २०५	ट ९७०	ठ ११००	ड ९५०	ढ १६०६	त ९९६
थ ९२०	द १५५०	ध ९०१	प २०५	फ ९०२	ब ९७०	भ ९५५
म १५०६	य ९९६	र ९०७	ल १८५०	श ९०१	स ११०५	ह १६१०

हर स्वर अक्षर का २ अंक, और समान अक्षर का उसके समान अक्षर के बराबर अंक लिया जाता है। यदि फ का २ कम अर्थात् केवल ९०० और ह का २ कम, अर्थात् केवल १६०८ अंक भी किसी स्थान पर जोड़े, तो चिन्ता नहीं, क्योंकि सौ एक ही सौ, और हजार एक ही हजार जाना जाता है। किन्तु भर सक संदेहवाली हर क्रिया से बचे। उदाहरण—

> इस पोथी के मुद्रिती, सन् का ये है सार।
> छींका छों में सोच लो, गुप्त गणित के द्वार॥
> सं० १९७९. वि० (अ. ब.)

अर्थात् "छींका छों" में "सांच" बढ़ा लो। इस प्रकार—"छीं-का छों सांच" तिथिसार हुआ।

जाँच रूप

छ, क, छ, स, घ,
सात, एक, सात, दो, छः
स, त, ए, क, स, त, द, छ,
९००+५०+१+१+९००+५०+७०+७=१९७९.

१०—टूक कला—तिथिसार कोई ऐसा अंक हो जिसके बराबर के टुकड़े हो सकें। जिस अक्षर के अंक को तिथिसार मानते हैं, उस अंक का आधा भाग उसके पूर्व लिखते हैं; फिर उसका आधा भाग उसके पूर्व लिखते हैं; और फिर उसका आधा भाग उसके पूर्व लिखते हैं। जैसे ४ का आधा २; २ का आधा १ हुआ। अब ४ को एकाई की जगह, २ को दहाई की जगह और १ को सैकड़े की जगह लिखते हैं। इस कला में हर एक तिथि नहीं लिखी जा सकती। जो हो सकने योग्य होती है, वही लिखी जा सकती है। उदाहरण—

वैद्य अटारी से गिरो, ले लीन्हों जम प्राण।
जम के सीस त्रिकूट में, हिजरी वर्ष प्रमाण॥
सन् १२४८ हि० (अ. व.)

"जम का सीस" में "ज" तिथिसार है। ज के ८ अंक है। ८ एकाई, आठ का आधा ४ दहाई, चार का आधा २ सैकड़ा, दो का आधा १ हजार; १२४८ हो गए। लखनऊ में एक हकीम अटारी से गिरते ही मर गया। उस समय मान्यवर कवि "नासिख" ने यह अपराध किया कि उसी मरे हुए हकीम का सिर काटकर उसके टुकड़े कर डाले। अर्थात् उन्होंने हकीम का सिर अर्थात् ह अक्षर लिया, जिसके फारसी में ८ अंक होते हैं। उसी आठ अंकों के टुकड़े कर के तिथि लिखी। मैंने उस हकीम के जान लेने

वाले जमराज के सिर के टुकड़े किए। जमराज का सिर अर्थात् प्रथम अक्षर ज लिया, जिसके ८ अंक होते हैं। विद्वान् न्यायदृष्टि से देखें कि नासिख की मूल तिथि से इस हिन्दी उल्था तिथि की मर्यादा कितनी बढ़ी है।

११—प्रावेशिका प्रस्थान कला—तिथिसार में सरल रीति से कोई शब्द मिलाते हैं। फिर कोई शब्द निकाल लेते हैं; और तब तिथि पूरी होती है। उदाहरण—

फसली काल प्रधान जी, आहार जाहर भूत।
आय सभा में जब गुणी, उड़े सभा से ऊत॥
सन् ११५७ फ० (अ. ब.)

"सभा" शब्द तिथिसार है। सभा के अंक में गुणी के अंक मिलाते हैं; और ऊत के अंक निकाल देते हैं।

जाँच रूप

स, भ,
९०० + ३०० = १२००
ग, ण,
३ + ५ = ८ + उक्त १२०० = १२०८
उ, त,
१ + ५० = ५१
अब उक्त १२०८—५१ = ११५७.
(आहर जाहर, अर्थात् प्रवेश, प्रस्थान।)

१२—आन्तरिक निरान्तरिक कला—तिथिसार के शब्दों से जितने अंक प्रकट हों, उतने ही अंक अक्षरों के अंक से भी प्रकट हों। उदाहरण—

गद्य

बीस सौ = २०००

जाँच रूप

य, स, स,
२०० + ९०० + ९०० = २०००

पुस्तक मुद्रित साल का, दोऊ फल मजमून।
त्वं, उन्नासी ओगणि सौ, केन्द्री दृष्टि जून॥
सं० १९७९ वि० (अ० व०)

तीसरा और चौथा चरण, त्वंछोड़कर, तिथिसार है। ओगणि गुजराती शब्द ओगणिश का संक्षिप्त रूप है।

जाँच रूप

उ, न, स, अ, ग, ण, स, क, द, द, ट, ज,
१ + ५ + ९०० + १ + ३ + ५ + ९०० + १ + ७० + ७० + १० + ८
न,
+ ५ = १९७९

१३—निरान्तरिक महा जोड़ कला—तिथिसार के शब्दों से संवत् के जितने अंक प्रकट होते हों, महाजोड़ नियम से उनका एक अंक बना ले। फिर तिथिसार के अक्षरों के अंको को भी महाजोड़ नियम से जोड़कर एक अंक बना ले। दोनों अंक बराबर हो, घटबढ़ न रहे। इनके हिन्दी और फारसी, दो उदाहरण यहाँ दिये जाते हैं।

सम्वत् सोरह सौ असी, असी बरुण के तीर।
श्रावण शुक्ला सप्तमी, तुलसी तजे शरीर॥
सं० १६८० वि० (महात्मा तुलसीदास)

"सम्वन् सोरह सौ असी" तिथिसार है।

जाँच रूप

१६८० = ० = ८ = ६ + १ = १५ = ५ + १ = ६
स, व, त, स, र, ह, स, अ, स,
९ + २ + ५ + ९ + ६ + १ + ९ + १ + ९ = ५१ = १ + ५ =

सम्पूर्ण दोहे का जोड़ भी संवत् के जोड़ से मिलता है। दोनों का ६ अंक है।

जाँच रूप

१६८० = ० + ८ + ६ + १ = १५ = ५ + १ = ६

स, व, त, स, र, ह, स, अ, स,
९ + २ + ५ + ९ + ६ + १ + ९ + १ + ९ +
अ, स, व, र, ण, क, त, र,
१ + ९ + २ + ६ + ५ + १ + ५ + ६ +
श, व, ण, श, क, स, प, म,
८ + २ + ५ + ८ + १ + ९ + ९ + ४ +
त, ल, स, त, ज, श, र, र,
५ + ७ + ९ + ५ + ८ + ८ + ६ + ६ = १८६
१८६ = ६ + ८ + १ = १५ = ५ + १ = ६

और यदि संख्यासूचक अक्षर प्राचीन न होते, तो गोसाईं जी इस कला में तिथि कैसे लिखते? श्रीधर भाषा कोष के अन्त में कवियों के जीवन चरित्र में भी यह दोहा इसी प्रकार लिखा है। और यह भी लिखा है कि तुलसीदासजी को यह ज्ञात हो गया था कि मैं अमुक दिन इस संसार से चलूँगा। तब यह दोहा लिखकर अपने मित्रों को दिखलाया। उनके लिखने के अनुसार ही उनका संवत् १६८० में देहान्त हुआ। उनके उत्पन्न होने का संवत् १६०१ लिखा है। साहित्य रत्नाकर के अन्त में कवि परिचय में लिखा है कि तुलसीदास संवत् १५८७ में उत्पन्न हुए, और संवत् १६४० में उनका देहान्त हुआ। फिर यही ऊपरवाला दोहा लिखकर कहा है कि उनके देहान्त के बाद किसी कवि ने यह दोहा कहा है। यह बात कभी मानने योग्य नहीं। न जाने लेखक ने किससे सुनकर

लिख दिया। इतिहास की कई पुस्तकें देखीं, किन्तु किसी पुस्तक में ऐसा लिखा हुआ मेरे देखने में नहीं आया।

अब फारसी उदाहरण लीजिए।

यह गुलिस्ताँ नामक पुस्तक के समाप्त होने की तिथि है।

दराँ मुद्दत के मारा वक्ते ख़ुश बूद।
जे हिजरत शश सदो पिंजाहो शश बूद॥
सन् ६५६ हि० (महात्मा शेख़ सादी)

'शश सदो पिंजाहो शश' तिथिसार है। इस पद्य में फारसीवाले पि के बिन्दु को नून, अर्थात् न, जा-वाली अ की मात्रा को अलिफ़ अर्थात् अ, दो और हो-वाले ओ की मात्रा को वाव, अर्थात् व मानते हैं।

जाँच रूप

फ़ारसी अक्षर, फ़ारसी अंक, महाजोड़ नियमानुसार।
६५६ = ६ + ५ + ६ = १७ = ७ + १ = ८
श, श, स, द, व, प, न ज,
३ + ३ + ९ + ४ + ६ + २ + ५ + ३ +
अ, ह, व, श, श,
१ + ५ + ६ + ३ + ३ = ५३ = ३ + ५ = ८

तुलसीदास जी चित्रकूट के निकट राजापूर गाँव में विक्रम संवत् १६०१ में उत्पन्न हुए थे और संवत् १६८० को श्री काशी जी में असी संगम घाट पर उनका देहान्त हुआ। उन सच्चे राम-भक्त को अपना मृत्यु समय ज्ञात हो गया था। उन्होंने मरण काल से पहले मृत्यु तिथि का जो दोहा लिखकर अपने मित्रों को सुनाया, वही ऊपर लिखा गया है। "तुलसी तजे शरीर" सुनकर एक साधु ने कहा कि बाबाजी, क्या आपका देहान्त ? गुसाईं जी ने उत्तर दिया "हाँ, राम-सेवक तुलसीदास का देहान्त"। फिर यह दोहा पढ़ा—

तुलसी जगमें आगमन, गमन निरन्तर एक।
चरण गहे रघुबीर के, उपज्यो सर्व विवेक॥

यह दोहा सुनकर साधु ने पूछा-सो कैसे ? गुसाईं जी ने कहा-जैसे श्रीरामचन्द्र जी के चरण कमल में शरन मिलने, परम गति प्राप्त होने से योगी का मरण और जीवन एक हो जाता है, वैसे ही मेरे उत्पन्न होने और गत होने की तिथि एक ही है। फिर साधु ने प्रश्न किया कि महाराज, उत्पन्न होने की तिथि क्या है ? उत्तर मिला—"सोलह सौ एक"। साधु ने गुसाईं जी के वचन लिख लिए। अद्वैतगणित नियम से जोड़कर देखा तो जोड़ एक ही निकला। इसका प्रस्तार रूप देखिए—

उत्पन्न होने की तिथि, सोलह सौ एक।

जाँच रूप,

स, ल, ह, स, ए, क,
९+७+१+९+१+१=२८=८+२=१

देहान्त की तिथि

राम सेवक तुलसीदास का देहान्त,

र, म, स, व, क, त, ल, स, द, स,
६+४+९+२+१+५+७+९+७+९+
क, द, ह, त,
१+७+१+५=७३=३+७=१

महात्मा तुलसीदास के नाम का भी एक ही अंक है—

तुलसीदास,

त, ल, स, द, स,
५+७+९+७+९=३७=७+३=१

यह पिछली कथा मैंने बाल्य अवस्था में जौनपुर के रहनेवाले एक बाबा जी से काशी जी मे सुनी थी। किसी ऐतिहासिक पुस्तक में लिखी नहीं देखी। किन्तु बात मानने योग्य जैसी है।

१४—आक्षरिक कला—चरणों के अन्त में बिना शब्द बनाए कई अक्षर लिखते हैं; उनके अर्थ से मतलब नहीं रखते। उन्हीं अक्षरों के अंक जोड़ने से सन् प्रकट होता है। उदाहरण—

बह्र यह, फएलातुन, मफ़ाएलुन फ़एलुन,

बनो मन्दिर नवो, क, खा घा, या ।
सबै आनन्द मय, ज, झा, फा, ला ॥
सुनो सम्बत् कथन, ग, घा, डा, बा ।
पढ़ो अक्षर मला, च, छा, ना, मा ॥

सं० १९७९ वि० (अ. ब.)

जाँच रूप

क, ख, ष, य, ज, झ, फ, ल, ग, घ, ड,
१ + २ + ४ + ५०० + ८ + ९ + १०० + ७०० + ३ + ४ + ३० +
ब, च, छ, न, म,
२०० + ६ + ७ + ५ + ४०० = १९७९

१५—महादो-रसी कला—तिथिसार के हिन्दी संख्या-सूचक शब्दों और फ़ारसी संख्यासूचक अक्षरों से नियमानुसार कई सन् प्रकट हों। उदाहरण—

दिग कुल्लियात मुनीर शर—रहत शत्रु मनहार।
वत्सर, रस, गुण, ग्रह, शशिन—रस, नव, रवि, शत, धार॥
सन् फ़सली, शाकी, भरा—वत्सर द्वादश युक्त।
होत ईसवी अतित में—हिजरी पाँचो उक्त॥

(पं० बैजनाथ, मालिक समर हिन्द प्रेस, लखनऊ)

"दिगकुल्लियात मुनीरशर" यह पहला तिथिसार है। फ़ारसी में ल्लय, के दो ल को १ ल और अ की मात्रा को अलिफ़ अर्थात् अ, और नी-वाली ई की मात्रा को य मानते हैं।

जाँच रूप

फ़ारसी अक्षर, फ़ारसी अंक के नियमानुसार,

द, ग, के, ले, य, अ, त, म

४ + २० + २० + ३० + १० + १ + ४०० + ४० +

न, य, र, श, र,

५० + १० + २०० + ३०० + २०० = सन् १२८१-फ़ु०

"रहत शत्रु मनहार" यह दूसरा तिथिसार है। फ़ारसी में हा वाली अ की मात्रा को अलिफ अर्थात् अ मानते हैं।

जाँच रूप

फ़ारसी अक्षर, फ़ारसी अंक के नियमानुसार,

र, ह, त, श, त, र, म, न,

२०० + ५ + ४०० + ३०० + ४०० + २०० + ४० + ५० +

ह, अ, र,

५ + १ + २०० = सं० १८०१ शाके

"रस, गुण, ग्रह, शशिन" तीसरा तिथिसार है।

जाँच रूप

संख्या सूचक शब्दानुसार,

शशिन, ग्रह, गुण, रस,

१ ९ ३ ६ = सं० १९३६ वि०

"वत्सर रस गुण ग्रह शशिन" चौथा प्रवेशन्वला तिथिसार है। यह वही तीसरा तिथिसार है। इसमें वत्सर अधिक है। वत्सर का अर्थ है संवत्। फारसी नियमानुसार इसके अक्षरों के अंक जोड़ने से जो सन् प्रकट होता है, उसमें १२ अंक घटते हैं। दूसरे दोहे के दूसरे द्वादश, अर्थात् १२ अंक इसमें मिलाने की युक्ति बताई है।

जाँच रूप

फ़ारसी अक्षर, फ़ारसी अंक के नियमानुसार, द्वादश के अंक मिलाने पड़ेंगे।

ब, त, स, र, र, स, ग, ग़,
२ + ४०० + ६० + २०० + २०० + ६० + २० + ५० +
ग, र, ह, श, श, न,
२० + २०० + ५ + ३०० + ३०० + ५० = १८६७ + १२ =
सन् १८७९ ई०

"रस, नव, रवि शत" यह पाँचवाँ तिथिसार है।

जाँच रूप

संख्यासूचक शब्दानुसार,

रविशत, नव, रस /
१२ ९ ६ सन् १२९६ हि०

यह तिथिकुल्लियात मुनीर के उपरान्त, "मुलख्खस तसलीम" नामक पुस्तक में भी लिखी है। इस कला में यदि फ़ारसी संख्या-सूचक अक्षर के बदले हिन्दी संख्या-सूचक अक्षर क्रिया हो, तो उसे केवल दो-रसी कला कहते हैं; उसमें महा नहीं लगाते।

१६—शृंखल कला—तिथिसार में जो अक्षर होता है, उसका अंक इस नियम से जोड़ते हैं कि हर अक्षर के अंक को १ से लिखना आरंभ करके अक्षर के जितने अंक होते हैं, उतने अक तक लिख जाते हैं। सब अंकों के जोड़ मे जितने अंक होते हैं, उस अक्षर के उतने अंक मानते हैं। इस रीति से क के १, ख के ३ ग के ६, घ के १० अंक होते हैं। इसके जोड़ के अंक मालूम करने का ढंग यह है—

क,	ख,	ग,	घ,
१	१	१	१
	२	२	२
		३	३
			४
१	३	६	१०

कुल २०

कविवरों के सुभीते के लिये उक्त विम्बानुसार क से प तक १८ अक्षरों का जोड़-अंक कोष्ठक मे लिख देता हूँ कि कोष्ठक देखते ही झट मालूम हो जाय कि किस अक्षर का कितना अंक है, और तिथि लिखने या दूसरे की तिथि समझने में कष्ट न उठाना पड़े ।

जोड़ अंक कोष्ठक

क	ख	ग	घ	ङ	च
१	३	६	१०	१५	२१
छ	ज	झ	ट	ठ	ड
२८	३६	४५	५५	२१५	४१५
ढ	त	थ	द	ध	प
८२०	१२७५	१८३०	२४८५	३२४०	४०९५

उदाहरणार्थ—

टाट पाट मठ में दियो, दान राव का देख ।
संवत् जो खेटाट थे, शृंखल कर्म परेख ॥
सं० १९७९ वि० (अ. व.)

"जो खेटाट थे" तिथिसार है ।

जाँच रूप

ज, ' र, ट! ट, थ,

३६ + ३ + ५५ + ५५ + १८३० = १९७९

१७—गणित विधि कला—यह कला संख्यासूचक शब्द की सी है। अन्तर यही है कि उसमें अंक लेने के लिये शब्द बताते हैं, इसमें अक्षर बताते हैं। उदाहरण—

> सम्मत् पुस्तक मुद्रिती, गुणी गणित विधि जान।
> झपट छले झट काव्य के, मस्तक पर कर ध्यान॥
> सं० १९७९ वि० (अ. ब.)

झपट, छले, झट, काव्य—ये चार शब्द तिथिसार हैं। मस्तक याने हर शब्द का प्रथम अक्षर—झपट में, झ, एकाई, छल में, छ, दहाई, झट मे, झ, सैकड़ा, काव्य में क, हजार है।

जाँच रूप

क, झ, छ, झ,

१ ९ ७ ९

१८—शून्य कला—इस कला मे अक्षरों का वह अंक लेते हैं, जिस पर शून्य बढ़ा हो। शून्य बढ़ाने का यह नियम है कि प्रथम व्यंजन अक्षर क का १० अंक मानकर गिनती आरंभ करे। हर अक्षर पर दस दस बढ़ाता जाय। १०० तक पहुँचे तो एक एक सौ बढ़ावे। एक हजार हो जाय तो एक एक हज़ार बढ़ाने लगे। इस प्रकार ह के १०००० हो जायँगे। हर स्वर अक्षर का १० अंक माना जाता है। दूसरा सहज हिसाब यह है कि एकाई हो चाहे दहाई, सैकड़ा, हजार इत्यादि, हर अंक पर एक शून्य बढ़ाकर जोड़े। सुभीते के लिये शून्य कला कोष्ठक लिख देता हूँ।

क,	ख,	ग,	घ,
१	१	१	१
	२	२	२
		३	३
			४
१	३	६	१०

कुल २०

कविवरों के सुभीते के लिये उक्त विम्यानुसार क से प तक १८ अक्षरों का जोड़-अंक कोष्ठक में लिख देता हूँ कि कोष्ठक देखते ही झट मालूम हो जाय कि किस अक्षर का कितना अंक है; और तिथि लिखने या दूसरे की तिथि समझने में कष्ट न उठाना पड़े ।

जोड़ अंक कोष्ठक

क	ख	ग	घ	ङ	च
१	३	६	१०	१५	२१
छ	ज	झ	ट	ठ	ड
२८	३६	४५	५५	२१५	४१५
ढ	त	थ	द	ध	प
८२०	१२७५	१८३०	२४८५	३२४०	४०९५

उदाहरणार्थ—

टाट पाट मठ में दियो, दान राव का देख ।
संवत् जो खेटाट थे, असल कर्म परेख ॥
सं० १९७९ वि० (अ. ब.)

"जो खेटाट थे" तिथिसार है ।

जाँच रूप

फ, प, ह,

१००+४०+५०=१०९०

१९—हिंडोल कला—तिथिसार में अक्षरों के अंक तो वही रहते हैं, जो मंत्र बिम्ब में लिखे हैं; किन्तु हिंडोल कोष्ठक के नियमानुसार हर अक्षर को दूसरे अक्षर से बदलकर अंक लेते हैं। हिंडोल कोष्ठक में नीचे ऊपर १४, १४, अक्षरों की दो पंक्तियाँ होती हैं। तिथिसार में जो अक्षर पहली पंक्ति का होता है, उसे उसके सामनेवाली दूसरी पंक्ति के अक्षर से बदल लेते हैं। और जो अक्षर दूसरी पंक्ति का होता है, उसे उसके सामनेवाली पहली पंक्ति के अक्षर से बदल लेते हैं; और उन्हीं बदले हुए अक्षरों के अंक जोड़ते हैं। फारसीवाले हिंडोल कोष्ठक को "दाए-रए नजीरा" कहते हैं; और "इलमे जफर" वालों का निकाला हुआ बताते हैं। वह कोष्ठक इस प्रकार है—

शून्य कला कोष्ठक

क	ख	ग	घ	ङ	च	छ
१०	२०	३०	४०	५०	६०	७०
ज	झ	ट	ठ	ड	ढ	त
८०	९०	१००	२००	३००	४००	५००
थ	द	ध	प	फ	ब	भ
६००	७००	८००	९००	१०००	२०००	३०००
म	य	र	ल	श	स	ह
४०००	५०००	६०००	७०००	८०००	९०००	१००००

उदाहरणार्थ—

भैरव साव महान ने, रचा कुटी का झुंड ।
शून्य कला का सन् मिला, फसली में फी घुंड ॥

सन् १०९० फ० (अ. य)

फ़ी घुंड तिथिसार है । घुंड, नीमे, बंडी इत्यादि की घुंडी, और फ़ी फ़ारसी शब्द है, जिसका अर्थ हर, या प्रति होता है । अर्थात् घंडीदार वस्त्र पहननेवाले के लिये एक कुटी ।

जाँच रूप

फ, ध, ड,

१००+४०+५०=१०९०

१९—हिंडोल कला—तिथिसार में अक्षरों के अंक तो वही रहते हैं, जो मंत्र बिम्ब में लिखे हैं; किन्तु हिंडोल कोष्ठक के नियमानुसार हर अक्षर को दूसरे अक्षर से बदलकर अंक लेते हैं। हिंडोल कोष्ठक में नीचे ऊपर १४, १४, अक्षरों की दो पंक्तियाँ होती हैं। तिथिसार में जो अक्षर पहली पंक्ति का होता है, उसे उसके सामनेवाली दूसरी पंक्ति के अक्षर से बदल लेते हैं। और जो अक्षर दूसरी पंक्ति का होता है, उसे उसके सामनेवाली पहली पंक्ति के अक्षर से बदल लेते हैं; और उन्हीं बदले हुए अक्षरों के अंक जोड़ते हैं। फारसीवाले हिंडोल कोष्ठक को "दाए-रए नजीरा" कहते हैं; और "इलमे जफर" वालों का निकाला हुआ बताते हैं। वह कोष्ठक इस प्रकार है—

चौथा चरण तिथिसार है। मात्राओं में हेर फेर करके पढ़ें तो सन् प्रकट होता है।

जाँच रूप

सुनता रहै सुवैस

सन् तेरह सौ बीस

२२—हेर फेर कला—तिथिसार में अक्षरों के अंक दहाई, सैकड़ा इत्यादि जो चाहे हों, सब को एकाई मानते हैं। उनके स्थान में हेर फेर करने से सन् प्रकट होता है। स्थान में हेर फेर करने का वर्णन काव्य में कर देते हैं। उदाहरणार्थ—

"द्वैतटीप" इस व्याह का, हेर फेर है साल।
एक, दो, दो, एक भयो, तीन चार की चाल॥
सं० १९७५ वि० (श्र० व०)

जाँच रूप

१	२	३	४
द,	त,	ट,	प,
७०	५०	१०	९०
२	१	४	३

पिछली पंक्तिवाला १, तिथि का प्रथम अंक, ऊपरवाला दो ५ एकाई बन गया। २, दूसरा अंक, ऊपरवाला एक, ७, दहाई बन गया। तीन तीसरा अंक, ऊपरवाला चार, ९ सैकड़ा बन गया। ४ चौथा अंक, ऊपर वाला तीन, १ हजार बन गया। केवल ऊपरवाले नम्बरों से भी काम चल सकता है।

२३—द्विगुण कला—तिथिसारवाले एक अक्षर या कई अक्षरों के अंक को जितने बार दुगना करने से सन् प्रकट हो, उतने बार दूना करते हैं; और उसका वर्णन काव्य में भी कर देते हैं। उदाहरणार्थ—

नाम ऊँच जग में कियो, सरजू ताल सुदाय।
संवत् "ऊंच" तबै भयो, आठ बेर दुगनाथ॥
सं० १७९२ वि० (अ० घ०)

'ऊंच' तिथिसार है।

जाँच रूप

ऊ, च,

१ + ६ = ७

७, १४, २८, ५६, ११२, २२४, ४४८, ८९६, १७९२,

२४—प्रकाश्य कला—किसी कहावत, गद्य, पद्य, या किसी श्लोक के अक्षरों का अंक जोड़ने से संवत् प्रकट हो। उदाहरणार्थ—

गद्य कहावत

सूखे धानों पानी पड़ा

सन् १२०२ फा० (अ. व.)

जाँच रूप

स, ख, ध, न, प, न, प, ड़

९००+२+८०+५+९०+५+९०+३०=१२०२

२५—एकत्र कला—यह कला अनेक प्रकार की होती है। काव्य के हर चरण का प्रथम, या अन्तिम, या दोनों अक्षर एकत्र करने से एक या कई सन् प्रकट होते हैं। उदाहरणार्थ—

जगमूल दूल्हा बनें, देखे सब जन ब्याह।
साल एकत्रित आदिकल, हेरो हो उत्साह॥
सं० १९७८ वि० (अ. व.)

हर चरण का पहला अक्षर तिथिसार है।

जाँच रूप

ज, द, स, ह,
८+७०+९००+१०००=१९७८

वर्ष वृत्तान्त

भारत में अनेक सन् लिखे जाते हैं। उनमें से कई पचांग (जंत्री) और पुस्तकों में देखकर २६ सन् तिथि, मास, वार, सहित नीचे लिख देता हूँ। जिस सन् के अन्त में ऐसा चिन्ह * न लिखा हो, जानना चाहिए कि वह सन् किसी पुस्तक में कुछ लिखा है, किसी में कुछ ऐसे सन्दिग्ध सन् के लिखने का काम पड़े तो, पुस्तकों में देखकर, जानने-वालों से पूछकर निश्चय कर ले, तब लिखे। कई सनों में राशियों—मेष, वृष, मिथुन, इत्यादि—के अरबी नाम, हमल, सौर, जौजा, इत्यादि कुछ महीनों के नाम होते हैं। कई सनों में, फरवरदीन, उरदी बिहिश्त, खुरदाद, इत्यादि फारसी महीनों के नाम लिखे जाते हैं। किन्तु सब का हिसाब अलग अलग है। हर सन् के महीनों का कभी मेल नहीं मिलता; इसी से पहली जनवरी सन् १९२२ ईसवी को सन् फसली इलाही के बहमन महीने की तारीख २८, और सन् नवरोज जमशेदी के तीर महीने की तारीख २४ लिखी है। तीर चौथा महीना और बहमन फारसी का ग्यारहवाँ महीना है। दोनों महीनों में छः महीने का अन्तर है। हर सन् पहली जनवरी सन् १९२२ ईसवी के मुताबिक़ करके लिखा जाता है; और उसके बाद यह भी लिख दिया जाता है कि छब्बीसो सन किस महीने की किस तारीख से आरंभ हुआ करते हैं।

तारीख	वार	महीना	सन्
१	रविवार	जनवरी	१९२२ *ईसवी
२८	,,	बहमन	१३३१ *फसली इलाही (फ़ारसी)
१७	,,	क़ौस (पूस)	४२१८ तुर्की

तारीख	वार	महीना	सन्
१७	रवि	कौस (पूस)	५०२४ *नूही
१२	,,	किसलू	५६८२ *मूसवी
सुदी ३	,,	पूस	१९७८ *विक्रमी
१७	,,	क़ौस	१८५००१ नुजूम
सु० ३	,,	पूस	५०२४ *कलि
२४	,,	तीर	१८४४ नवरोज (जमशेदी)
१७	,,	पूस	१३२९ *फसली (अकबरी)
१८	,,	बहमन	३६९ इलाही (अकबरी)
२	,,	जमादिउल अव्वल	१०८४ *महदवी
१७	,,	तिशरीन आखिर	२२३३ *रूमी
२	,,	जमादिउल अव्वल	१३४० *हिजरी
१७	,,	क़ौस	७२६५ *आदम
,,	,,	पूस	५०२३ *युधिष्ठिर
,,	,,	,,	१८४४ *शाका (शक) शालिवाहन
,,	,,	,,	१८४३ *शाका (दुंदुभि)
,,	,,	कौस	२६७१ *बख़्त नसर
११	,,	जद्य	१३५० *मुहम्मदी
२४	,,	तीर	१२९१ *फारसी शहनशाही यज्दजर्दी
१७	,,	पूस	२४४८ *वीर संवत् (जैनी)
१९	,,	अमरदाद	१२९१ *क़दीमी नौरोज पारसी
१७	,,	पूस	१९७८ *प्रोसठ
,,	,,	,,	१३२८ *बँगला
,,	,,	,,	१९५५८८५०२३ *ब्रह्मांडी

नीचे लिखे हुए १८ सन् भी १ जनवरी सन् १९२२ ई० के अनुसार हैं—

१६३८० *मिसरी २५८२ *चीनी

१०९७ ❀मलबारी	४२०७ ❀इबराहीमी
१३२३ ❀शाहोरी	३६३९ ❀दाऊदी
५६८३ ❀इबरी	८४७ ❀जलाली (मलिक-शाही)
१२८३ ❀बरमी	६०१❀प्रतापी (प्रताप रुद्रराजा वरंगल)
३०५४ ❀धर्मराजवी (तिलंगी)	२१३३ ❀अरशमीदुसी (यूनानीहकीम)
२४९६ ❀बुद्धवी	२२६१ ❀कैखुसरवी
१८९८९२ ❀फ़ारसी ईरानी	१८६४ ❀राजा भोजवी
१०९७ ❀तम्मली (अरबी)	१९६४ ❀शङ्कराचार्य्यवी

सनों के आरंभ होने की तिथि

संख्या संवत्

१—ईसवी सन् आदि जनवरी से आरंभ होता है ।

२—फ़सली इलाही (फारसी) सन् आदि आजर से आरंभ होता है । आजर, अर्थात् कातिक । राशि, तुला ।

३—तुर्की सन्, आदि दल्व से आरंभ होता है । दल्व, अर्थात् फागुन; राशि कुंभ ।

४—नूही सन् आदि हमल से आरंभ होता है । हमल, अर्थात् चैशाख; राशि, मेष । यह सन् कलि सन् के बराबर है ।

५—मूसवी सन् आदि तिशरी से आरंभ होता है ।

६—विक्रमी सन् चैत वदी परिवा से आरंभ होता है। जरतुश्ती और दक्षिणी कार्तिकी पंचांगों में ये सन् चैत के छः मास बाद कातिक वदी परिवा से आरभ होता है; इसी से ६ मास छोटा है। इस सन् को संवत् या संवत् कहते हैं ।

७—नुजूमी सन् आदि हमल से आरभ होता है ।

८—कलि सन् माघ वदी अमावस से आरंभ होता है ।

९—नवरोज (जमशेदी) सन् १६ उरदी बिहिश्त, मुताबिक २१ मार्च से आरंभ होता है । किसी किसी पंचांग में आदि हमल से इसका आरंभ लिखा है ।

१०—फ़सली अकबरी सन् आसिन (क्वार) बदी परिवा से आरंभ होता है।

११—इलाही अकबरी सन् आदि फ़रवरदीन से आरंभ होता है।

१२—महदवी सन १४ शावान से आरंभ होता है।

१३—रूमी सन् आदि मेहजान से आरंभ होता है। मेहजान, अर्थात् कातिक। यह सिकंदर बादशाह का निकाला हुआ सन् है।

१४—हिजरी सन् आदि मुहर्रम से आरंभ होता है।

१५—आदम सन् आदि हमल से आरंभ होता है।

१६—युधिष्ठिर सन् आदि चैत्र से आरंभ होता है।

१७—शाका (शक) शालिवाहन सन् आदि चैत से आरंभ होता है।

१८—शाका (दुंदुभी) सन् आदि चैत से आरंभ होता है।

१९—बख़्त नसर सन् आदि हमल से आरंभ होता है।

२०—मुहम्मदी सन् आदि हमल से आरंभ होता है।

२१—फ़ारसी (शहनशाही यज़्दज़र्दी) सन् आदि फ़रवरदीन, रोज, हुरमुज्द (होरमज़्द) से आरंभ होता है।

२२—वीर संवत् (महावीर निर्वाण संवत्) जैनी सन कार्तिक बदी परिवा से आरंभ होता है ।

२३—क़दीमी नवरोज़ पारसी सन् आदि फ़रवरदीन से आरंभ होता है।

२४—ग्रोसठ सन् वैशाख बदी परिवा से आरंभ होता है।

२५—बँगला सन् जेठ बदी परिवा से आरंभ होता है।

२६—ब्रह्माण्डी सन् आदि हमल अर्थात् वैशाख बदी परिवा राशि, मेष, से आरंभ होता है।

सनों का विस्तारपूर्वक हाल जानना हो, तो फ़ारसी पुस्तक आईने अकबरी देखिये; और यदि तिथि कला के भेदों के जानने की इच्छा हो, तो फ़ारसी, उर्दू पुस्तकें, मुलख़्ख़से तसलीम, मुरोदे ग़ैबी, इत्यादि देखिये।

(१६) कवि राजशेखर का समय

[लेखक—राय बहादुर गौरीशंकर हीराचंद ओझा, अजमेर।]

प्रसिद्ध संस्कृत कवि राजशेखर की जाति के संबंध का एक लेख मैंने इसी वर्ष की नागरीप्रचारिणी पत्रिका (अंक २, पृ० १९२-२०९) में प्रकाशित किया है। इस लेख के द्वारा इस पत्रिका के पाठकों के सन्मुख उक्त कवि के समय-निर्णय की चर्चा की जाती है। प्राचीन काल के भारतीय विद्वानों का लक्ष्य निवृत्ति मार्ग की ओर होने से उनमें से बहुत ही कम ने अपने ग्रन्थों में अपना तथा अपने वंश आदि का परिचय दिया है; और अपने ग्रन्थों की रचना का समय तो और भी कम विद्वानों ने अंकित किया है, जिससे अनेक विद्वानों का ठीक ठीक समय निर्णय करना एक कठिन समस्या हो गई है। ऐसी दशा में उनके समय निर्णय के लिये उनके ग्रंथों में दी हुई कुछ बातें ही कभी कभी सहायक होती हैं, जिससे उनका समय निर्णय करने का यत्न करनेवाले विद्वानों में बहुधा मतभेद हुआ करता है। राजशेखर के समय के संबंध में भी ऐसा ही हुआ है। अब तक हिंदी साहित्य में प्राचीन भारतीय कवियों एवं विद्वानों के समय-निर्णय के संबंध में बहुत ही कम लिखा गया है। अतएव यदि कभी कभी इस विषय की चर्चा होती रहे, तो हिंदी साहित्य के ऐतिहासिक अंश की अणु मात्र वृद्धि होने के अतिरिक्त हिन्दी के अनुरागियों को अपने यहाँ के प्राचीन काल के प्रसिद्ध विद्वानों की जीवन-लीला व ठीक समय जानने का कुछ कुछ साधन भी उपलब्ध हो जाय।

भिन्न भिन्न विद्वानों ने काव्यमीमांसा, कर्पूरमंजरी, बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभंजिका आदि ग्रंथों के कर्ता प्रसिद्ध कवि

राजशेखर का समय भिन्न भिन्न माना है, जिसका परिचय नीचे दिया जाता है।

(अ) प्रोफेसर मैक्समूलर ने ईसवी १४वीं शताब्दी में राजशेखर का होना माना है *।

संस्कृत लेखकों में राजशेखर नाम के एक से अधिक विद्वान् हुए हैं, जिनमें से चतुर्विंशतिप्रबंध के कर्ता जैन राजशेखर † ने अपना ग्रंथ वि० सं० १४०५ (ई० स० १३४८) में समाप्त किया, यह उक्त ग्रंथ के अंत में दिए हुए संवत् से ज्ञात होता है ‡। इसी से प्रोफेसर मैक्समूलर ने जैन राजशेखर को तथा कर्पूरमंजरी आदि के इस नामवाले कर्ता को एक मानकर हमारे लेख के नायक का समय भी ईसवी १४ वीं शताब्दी स्थिर किया, जो किसी प्रकार माननीय नहीं हो सकता; क्योंकि उन दोनों के बीच में कई शताब्दियों का अंतर है। इतना ही नहीं, किंतु दोनों की भाषा में भी कोई समानता नहीं है। जैन राजशेखर की भाषा वैसी परिमार्जित और सरस नहीं है, जैसी कर्पूरमंजरी आदि के कर्ता की है।

(आ) हेमन हेरिसे विल्सन ने उक्त कवि का जीवन काल ईसवी ११ वीं शताब्दी के अंत या १२ वीं के प्रारंभ में स्थिर किया है +।

(इ) डॉक्टर रामकृष्ण गोपाल भांडारकर ने ईसवी १० वीं

---

* मैक्समूलर, 'इण्डिआ, व्हॉट कैन इट टीच अस् ?' पृ० ३२८।

† जैन राजशेखर प्रश्नवाहन कुल के कोटिकगण के मध्यम शाखान्तर्गत हर्षपुरीयगच्छ के अभयदेवसूरि (मलधारी) की शिष्यपरंपरागत तिलकसूरि का शिष्य था। उसने दिल्ली में रहकर जगसिंह के पुत्र साह महणसिंह की प्रेरणा से वि० स० १४०५ में चतुर्विंशति प्रबंध (प्रबंधकोष) की रचना की थी।

‡ शरगगनमुनिमिताब्दे (१४०५) ज्येष्ठामूलीय धवलसप्तम्या निष्पन्नमिदं शास्त्र श्रोतृश्रेयो सुख तयात् ॥

(चतुर्विंशति प्रबंध के अंत में।)

\+ विल्सन्, 'हिंदू थियेटर,' जि० २, पृ० ३६२।

शताब्दी में*, प्रोफेसर स्टीन कोनो ने ई० स० ९०० (वि० सं० ९५७) के आसपास †, सी० डी० दलाल ने ई० स० ८८० (वि० सं० ९३७) और ९२० (वि० सं० ९७७) के बीच ‡, और डॉ० कीलहॉर्न ने सीयडोनी =, से मिले हुए शिलालेख का संपादन करते समय प्रसंगवशात् कवि राजशेखर का ईसवी दसवीं शताब्दी के प्रारंभ में होना बतलाया है +।

(ई) राजशेखर ने अपने को भवभूति का अवतार कहा है, जिसके आधार पर वामन शिवराम आपटे ने इन दोनों के बीच अनुमान सौ वर्ष का अंतर होना मानकर राजशेखर का ईसवी ८ वीं शताब्दी के अंत में होना स्वीकार किया है – ।

(च) राजशेखर के शिष्य महोदय (कन्नौज) के राजा महेंद्रपाल के दिघ्वादुबौली ×, गाँव से मिले हुए वि० सं० ९००, ५०, ५ (९५५) के दानपत्र का संपादन करते समय डॉ० फ्लीट ने उसके संवत् को, जो प्राचीन शैली के अनुसार अक्षर संकेत से दिया हुआ था, १००, ५०, ५ (१५५) पढ़ा; और उक्त संवत् को हर्ष संवत् मानकर राजा महेंद्रपाल का ई० स० ७६१ (वि० सं० ८१८) में होना स्थिर किया ॥

---

* डा० रामकृष्ण गोपाल भांडारकर; 'हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों की खोज का ई० स० १८८२-८३ की अंग्रेजी रिपोर्ट' पृ० ४४ ।

† स्टीन कोनो, हार्वर्ड ओरिएंटल सीरीज़ में संपादित कर्पूरमंजरी, पृ० १७६ ।

‡ सी० डी० दलाल, 'गायकवाड़ ओरिएंटल् सीरीज़ में मुद्रित काव्यमीमांसा की अंग्रेजी भूमिका,' पृ० १५ ।

= सीयडोनी (सीरोन खुर्द) गाँव संयुक्त प्रदेश के ललितपुर जिले में ललितपुर नगर से दस मील उत्तर पश्चिम की ओर है ।

+ 'एपिग्राफिया इंडिका,' जि० १, पृ० १७१ ।

– वामन शिवराम आपटे, 'राजशेखर, हिज़ लाइफ ऍण्ड राइटिंग्ज़,' पृ० ४ ।

× दिघ्वादुबौली गाँव बिहार प्रांत के सारन जिले के गोपालगंज विभाग के गोपालगंज नगर से पचास मील अग्निकोण में है ।

‖ 'इंडियन् ऍटिक्वेरी' जि० १५, पृ० ११० और ११२-१३ ।

डॉ० फ्लीट के इस अशुद्ध पढ़े हुए संवत् के आधार पर प्रोफेसर पीटर्सन और महामहोपाध्याय पंडित दुर्गाप्रसाद जी (काव्यमाला के संपादक) ने वल्लभदेव की सुभाषितावली की अंग्रेजी भूमिका में राजशेखर का ई० स० ७६१ (वि० सं० ८१८) के लगभग विद्यमान होना अनुमान किया है *।

(ऊ) ए० बोरुहा ने ईसवी ७ वीं शताब्दी में उक्त † कवि का अस्तित्व माना है।

इस प्रकार भिन्न भिन्न विद्वानों ने अपनी अपनी गवेषणा के अनुसार ईसवी ७ वीं शताब्दी से लेकर १४ वीं तक के भिन्न भिन्न समय उक्त कवि के लिये स्थिर किए हैं। अतएव हमें यह निर्णय करना आवश्यक है कि वास्तव में राजशेखर कब हुआ।

उक्त कवि ने अपने ग्रंथों में से किसी में भी उसकी रचना का संवत् नहीं दिया। तो भी उनमें मिलनेवाले आभ्यंतरिक प्रमाण उसका समय निर्णय करने में अवश्य सहायक होते हैं।

कर्पूरमंजरी की प्रस्तावना में वह अपने को महोदय (कन्नौज) के राजा रघुकुल-चूड़ामणि महेंद्रपाल का, जिसका उपनाम निर्भयनरेंद्र था, गुरु या उपाध्याय बतलाता है ‡, और बालभारत की प्रस्तावना में आर्यावर्त के महाराजाधिराज, रघुवंश मुक्तामणि एवं निर्भयनरेंद्र के पुत्र महीपाल के समय उसकी राजधानी महोदय (कन्नौज) नगर में अपनी विद्धशालभंजिका नाटिका का अभिनय होना सूचित करता है +।

महेंद्रपाल (निर्भयनरेंद्र) और उसका पुत्र महीपाल दोनों कन्नौज के प्रतिहार (पड़िहार) वंशी सार्वभौम राजा थे, जिनके दरबार में राजशेखर

---

* सुभाषितावलि की अंग्रेजी भूमिका, पृ० १०१.

† भवभूति एण्ड हिज़ प्लेस इन संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ १०

‡ नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, पृष्ठ २०५ के टिप्पण *।

+ वही भाग ६, पृष्ठ २०६ के टिप्पण +।

विद्यमान था *। अतएव यदि इन दोनो राजाओं के समय का ठीक ठीक निर्णय हो जाय, तो राजशेखर का ठीक समय भी निश्चित हो जायगा।

अनेक पुरातत्ववेत्ताओं के श्रम से असख्य प्राचीन शिलालेख, दानपत्र आदि प्रसिद्धि मे आए हैं, जो भारतवर्ष के भिन्न भिन्न विभागो पर राज्य करनेवाले अनेक राजवशों के अंधकार मे पडे हुए प्राचीन इतिहास पर बहुत कुछ प्रकाश डालते हैं। इतना ही नहीं, किंतु कई राजाओं, कवियों आदि के निश्चित समय भी उनसे ज्ञात हो जाते हैं।

कन्नौज का प्रतिहार वंशी राजा महेंद्रपाल, राजा भोजदेव (आदि वराह मिहिर) का पुत्र (उत्तराधिकारी) था। उक्त भोजदेव के पाँच लेख अब तक उपलब्ध हुए हैं, जिनमें सब से प्रथम दौलतपुरा (जोधपुर राज्य) से मिला हुआ वि० स० ९०० फाल्गुन सुदी १३ का दानपत्र है, जो राजपूताना म्यूजियम (अजमेर) मे सुरक्षित है। उसका सब से पिछला शिलालेख पेहोआ से मिला है जो हर्ष सवत् २७६ (वि० सं० ९३८) वैशाख सुदी ७ का है †। इन दोनों से निश्चित है कि वि० स० ९०० से ९३८ तक तो कन्नौज का स्वामी भोजदेव था, और सम्भव है कि वि० सं० ९३८ के पीछे भी कुछ वर्षों तक जीवित रहा हो।

भोजदेव के पीछे उसका पुत्र महेंद्रपाल कन्नौज के राज सिंहासन पर बैठा, जिसका गुरु (उपाध्याय) राजशेखर था। उसके समय के दो शिलालेख और तीन ताम्रपत्र मिले हैं, जो वि० स० ९५०–९६४ तक के हैं। उनमे सब से पहला वल्लभी सवत् ५७४ (वि० सं० ९५०) का ऊना (काठियावाड के जूनागढ़ राज्य में) गाँव से मिला हुआ दानपत्र और सब से पिछला वि० सं० ९६४ का सीयडोनी का शिलालेख

---

* राजपूताने का इतिहास, पहला खंड, पृ० ६२ ६३ और १६७

† वही, भाग [illegible], पृष्ठ [illegible], टिप्पणी १।

है *। महेन्द्रपाल के पीछे उसका पुत्र महीपाल (क्षितिपाल) कन्नौज के राज-सिंहासन पर बैठा। उसके समय में भी राजशेखर कन्नौज में ही रहता था। महिपाल के समय का एक दानपत्र शक सं० ८३६ (वि० सं० ९७१) का † हड्डाला गाँव (काठियावाड़) और एक शिलालेख वि० सं० ९७४ का ‡ असनी गाँव से मिला है।

कन्नौज के इन तीन राजाओं के शिलालेखों और दानपत्रों के आधार पर हम यह कह सकते हैं कि राजशेखर वि० सं० ९५० के लगभग से लेकर ९७० के लगभग तक कन्नौज में रहा था, और यही उसका कविता-काल भी स्थिर किया जा सकता है।

हमारे इस कथन की पुष्टि राजशेखर की 'विद्धशालभंजिका' नाटिका से भी होती है। उसकी प्रस्तावना से पाया जाता है कि उसका अभिनय श्रीयुवराजदेव की राजसभा में हुआ था +। प्रो० विल्सन ने श्रीयुवराजदेव शब्द का अर्थ राजा का ज्येष्ठ पुत्र माना है, जो ठीक नहीं है, क्योंकि प्रारंभ का 'श्री' और अंत का 'देव' अंश उसका राजा होना बतलाता है, न कि राजकुमार। वास्तव में युवराजदेव त्रिपुरी (चेदी देश की राजधानी) के हैहय (कलचुरी, कल्चुलि) वंशी राजा का नाम है =। उक्त वंश में युवराजदेव नाम के दो राजा हुए, जिनमें से विद्धशालभंजिका का युवराजदेव इस नाम

---

* वही, पृष्ठ १६२, टिप्पणी २.

† वही, पृष्ठ १६३, टिप्पणी २.

‡ वही, पृष्ठ १६३, टिप्पणी ३.

+ सूत्रधार—(आकर्ण्य), अये! यायावरेण दौहिकिना कविराजशेखरेण विरचितायां विद्धशालभञ्जिका नाम नाटिकायां वरनृपत्वेशो गीयते (विमृश्य) तन्मध्ये तदभिनये श्रीयुवराजदेवस्य परिषदाज्ञा। तदहमपि मन्त्रिणो भागुरायणस्य मनोकहस्या शिरीषविहितचारनाम्नोऽन्ते वासिनो हरदासस्य भूमिकां सम्पादयामि।

= युवराजदेव के लिये देखो—खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर, का छपा हुआ, हिन्दी टॉड राजस्थान, प्रथम खंड, पृष्ठ ४६४–६७, जहाँ मैंने उसके वंश की पूरी वंशावली दी है।

का पहला राजा था, जिसका उपनाम केयूरवर्ष (कर्पूरवर्ष) * भी मिलता है। विद्धशालभंजिका की प्रस्तावना से पाया जाता है कि युवराजदेव का मंत्री भागुरायण था। उसी नाटिका के चौथे अंक में कुरङ्गक नाम का एक पुरुष राजा के सेनापति श्रीवत्स का पत्र लाकर राजा कर्पूरवर्ष (केयूरवर्ष) के सामने रखता है और मंत्री भागुरायण उसे लेकर पढ़ता है। पत्र लम्बा चौड़ा है; जिसमें सेनापति की विजय आदि का वृत्तान्त है। उसके प्रारंभ में ही सेनापति ने नर्मदा (तुहिन-करसुता) के तट-स्थित त्रिपुरी के राजा कर्पूरवर्ष (केयूरवर्ष) को प्रणाम लिखा है और आगे इसको करचुली (कलचुरि) तिलक कहा है †। नर्मदा तट पर की नगरी त्रिपुरी हैहय (कलचुरी, करचुली) वंशी राजाओं की राजधानी थी। विद्धशालभंजिका से निश्चित है कि युवराजदेव (प्रथम) और कर्पूरवर्ष (केयूरवर्ष) एक ही राजा के

---

* शिलालेखों में युवराजदेव का उपनाम (खिताब) केयूरवर्ष मिलता है; परंतु कलकत्ते की छपी हुई विद्धशालभंजिका में कर्पूरवर्ष पाठ है, जो शायद केयूरवर्ष का ही बिगड़ा हुआ रूप हो। शुद्ध पाठ केयूरवर्ष ही होना चाहिए।

† ततः प्रविशति कुरङ्गक. । (प्रणम्य) जेदु जेदु भट्टा, (लेखं प्रक्षिपति)
भागुरायण । गृहीत्वा वाचयति
स्वस्ति श्रीमत्त्रिपुर्यां तुहिनकरसुतावीचिवाचालितायां
देवं कर्पूरवर्षं विनयनतशिरा सर्वसेनाधिनाथः ।
श्रीवत्सोवत्सलत्वान्मुरलजनवधूलोचनैरर्च्यमाने
पादद्वन्द्वारविन्दे प्रणममिरचयत्यञ्जलिं मूर्ध्नि भक्त्या"॥ १६ ॥

श्रेयोन्यत् कार्यं च लिख्यते । करचुलितिलकस्य पार्थिवस्य तव प्रतापेन महामन्त्रि भागुरायणस्य मतिविशेषेण मादृशानां च पदातिलवानामादेशनिर्वहणेन प्राचीप्रतीच्युदीची दिग्विभागे सर्व एव राजानश्चण्डवृत्तयो दण्डोपनताः स्थिताः केवलमवाचीक्षितिपतयो दृश्यन्ते स्म ।

विद्धशालभंजिका (कलकत्ता संस्करण) पृष्ठ १४५-४६.

कलकत्ते के उक्त संस्करण में त्रिपुर्यां के स्थान में नूपुर्यां छपा है, जो अशुद्ध पाठ है, क्योंकि नर्मदा तट पर की कलचुरियों की राजधानी का नाम शिलालेखों में त्रिपुरी मिलता है, न कि नूपुरी।

नाम और उपनाम हैं। अतएव राजशेखर का त्रिपुरी के राजा युवराजदेव (प्रथम) का समकालीन होना भी निश्चित है।

युवराजदेव (प्रथम) के समय का कोई शिलालेख या दानपत्र अब तक नहीं मिला, जिससे उसका ठीक ठीक समय निर्णय किया जा सके। परन्तु बिल्हारी से मिली हुई युवराजदेव (दूसरे) के समय की बड़ी प्रशस्ति से पाया जाता है कि युवराजदेव (प्रथम) के प्रपितामह कोकल्लदेव ने उत्तर (कन्नौज) में भोजदेव और दक्षिण में कृष्णराज (राठौड़) रूपी दो कीर्तिस्तंभ स्थापित किए थे *। अर्थात् कोकल्लदेव, कन्नौज के प्रतिहार भोजदेव और दक्षिण के राठौड़ कृष्णराज का समकालीन था। भोजदेव कन्नौज के प्रतिहार वंशी राजा महीपाल (क्षितिपाल) का दादा और महेन्द्रपाल का पिता था, जैसा कि ऊपर बतलाया गया है। अतएव कन्नौज का महीपाल और त्रिपुरी का युवराजदेव (प्रथम) ये दोनों भी समकालीन होने चाहिएँ। इन दोनों के यहाँ राजशेखर रहा था, ऐसी दशा में हमारा ऊपर निर्णय किया हुआ राजशेखर का समय अयुक्त नहीं है।

उपर्युक्त दोनों प्रकार के प्रमाणों के अतिरिक्त बाह्य प्रमाण भी हमारे कथन की पुष्टि करते हैं। राजशेखर काव्यमीमांसा में वाक्पतिराज †, उद्भट ‡ और आनंद (आनंदवर्धन) + के मत उद्धृत करता

---

* जित्वा कृत्स्नां येन पृथ्वीमपूर्व-
कीर्तिस्तम्भद्वन्द्वमारोप्यते स्म।
कौम्भोद्भव्यां दिश्यसौ कृष्णराज
कौबेर्यां च श्रीनिधिर्भोजदेवः ॥१७॥
एपिग्राफिया इंडिका, जिल्द १, पृष्ठ २५६.

† "पुराणकविक्षुण्णे वर्त्मनि दुरापमस्पृष्टं वस्तु तदपि तदेव संस्कर्तुं प्रयतेत" इति आचार्याः।
"न" इति वाक्पतिराजः काव्यमीमांसा, पृष्ठ ६२,

‡ पदानामभिधित्सितार्थग्रन्थनाकरः सन्दर्भो वाक्यम्। "तस्य च त्रिधाभिधाव्यापार" इत्यौद्भटाः। काव्यमीमांसा, पृष्ठ २२.

\+ "प्रतिभाव्युत्पत्ती प्रतिभा श्रेयसी" इत्यानन्दः। काव्यमीमांसा, पृष्ठ १६.

है। गउडवहो का कर्ता वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मा के

काशी नागरी प्रचारिणी सभा का

आय	संवत् १९८२ का अनुमान	३० चैत्र १९८२ तक की आय	संवत् १९८३ का अनुमान
गत वर्ष की बचत	३८१॥)४	३८१॥)४	५१॥।-)७
सभासदों का चन्दा	१२५०)	१५४८॥)	१६००)
पुस्तकों की खोज	३०००)	२०००)	२०००)
पुस्तकालय	६००)	५८४॥)	१०००)
विशेष आय	१२००)	१२३२॥=)।	१२००)
पुरस्कार	२०६)	१८७)॥।	२००)
नागरी प्रचार	८४०)	१२७॥-)	५०)
फुटकर	२००)	१८४॥=)॥।	२००)
स्थाई कोश (भवन निर्माण)	२७५००)	३१७६॥)	२५०००)
पुस्तकों की बिक्री	६०००)	६१५६।-)॥।	६०००)
हिन्दीशब्द सागर	८०००)	४६१२)	८०००)
मनोरंजन पुस्तकमाला	५०००)	३६६१≡)	५०००)
देवीप्रसाद् ऐतिहासिक पुस्तकमाला	१५००)	११४८)॥।	१५००)
सूर्य कुमारी पुस्तकमाला	२०००)	८६४≡)	१५००)
बालाबक्स रा. चा. पुस्तकमाला	५००)	५२४॥।-)	५००)

काशी नागरीप्रचारिणी सभा क

पद	अवधि	वर्तमान अधिकारी वा सभासद
सभापति	एक वर्ष	राय बहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०
१ उपसभापति	"	रायबहादुर पंडित गौरीशंकर हीराचन्द ओझा
२ उपसभापति	"	पंडित अयोध्या सिंह उपाध्याय
प्रधान मंत्री	"	बाबू श्यामसुन्दर दास बी० ए०
प्रचार मंत्री	"	बाबू माधव प्रसाद
अर्थ मंत्री	"	पंडित बलराम उपाध्याय एम० ए०, एल० एल० बी०
प्रकाशन मंत्री	"	बाबू रामचन्द्र वर्मा
हिसाब जाचनेवाले	"	पंडित चन्द्रशेखर वाजपेयी एम० ए०
	तीन वर्ष	बाबू व्रजरत्नदास
प्रबन्ध समिति के सदस्य	"	लाला भगवान दीन
	"	पंडित चंद्र मौलि शुक्ल
	"	पंडित केशव प्रसाद मिश्र
	"	कुंमर पृथ्वीसिंह
	"	बाबू जगन्नाथदास रत्नाकर बी० ए०
	"	पंडित नवाल गिरिधर शर्मा

(१) प्रबन्ध समिति ने निर्वाचन के लिये जो प्रस्ताव किए हैं वे

(२) ऊपर छठे कोष्ठ में मैंने जो नए प्रस्ताव किए हैं उनके १ उनकी अनुमति मैंने ले ली है।

स्थान.....................................

मिती.....................................

श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस, बनारस।

हैं। गउडवहो का कर्ता वाक्पतिराज कन्नौज के राजा यशोवर्मा के (जिसको कश्मीर के राजा ललितादित्य ने परास्त किया था) समय अर्थात् विक्रमी ८ वीं शताब्दी में हुआ। उद्भट कश्मीर के राजा जयापीड़ (वि० सं० ८०८—३९ के लगभग) का सभापति था और आनंद (आनंदवर्धन) कश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (वि० सं० ९१२—४० के लगभग) के समय विद्यमान था। अतएव राजशेखर का इन तीनों के पीछे होना निश्चित है।

अब यह भी देखना चाहिए कि राजशेखर का उल्लेख उसके पिछले निकटवर्ती ग्रन्थकारों में से किस किसने किया है। सोमदेव के शक संवत् ८८१ (वि० सं० १०१७) के बने हुए यशस्तिलक-चम्पू* में, तथा वि० सं० १०४७ के लगभग की बनी हुई सोड्ढल कवि की उदयसुन्दरी कथा † में राजशेखर का उल्लेख मिलता है। अतएव

---

* प्रोफेसर पीटर्सन की संस्कृत पुस्तकों की खोज की दूसरी रिपोर्ट, पृष्ठ ४५.

† यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञै-

राशंसितः सूरिसमाजवर्यैः ।

नृत्यत्युदारं भणिते गुणस्था

नटीव यस्योदरसा पदश्रीः ॥

उदयसुन्दरी कथा, पृष्ठ १५४. (गायकवाड़ ओरिएंटल सीरीज़, ग्रंथ संख्या ११).

सोड्ढल ने अनेक नाटकों के प्रसिद्ध लेखक राजशेखर की प्रशंसा करते हुए राजशेखर का नाम न देकर उसको यायावर ही कहा है, जिसका कारण यह है कि राजशेखर यायावर नाम से ही अधिक प्रसिद्ध था। वह अपनी काव्यमीमांसा के प्रारंभ ही अनेक नामों के साथ यायावरीय शब्द जोड़कर अपना परिचय देता है—

यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरम्।

व्याकरोत्काव्यमीमांसां कविभ्यो राजशेखरः॥

काव्यमीमांसा, पृष्ठ २.

और आगे अनेक स्थलों में जहाँ जहाँ अपना मत प्रकट करता है, वहाँ वहाँ 'इति यायावरीयः' (यह मेरा मत है) ही कहता है, अपना नाम नहीं देता।

राजशेखर का वि० सं० १०१७ के पूर्व होना भी निश्चित है। इनसे पीछे के तो अनेक विद्वानों ने राजशेखर की काव्यमीमांसा से अपने ग्रंथों में कुछ कुछ अंश उद्धृत किए हैं, जिनके उल्लेख की हमें आवश्यकता नहीं। इन सब प्रमाणों को देखते हुए राजशेखर का कविता-काल वि० सं० ९५० और ९७० के लगभग माना जा सकता है।

प्रेमनिधि

[लेखक—पंडित नारायण शास्त्री खिस्ते, साहित्याचार्य, काशी ।]

उपोद्घात

इस शीर्षक को देखकर सम्भवतः पाठकगण कल्पना करेंगे कि मैं कोई प्रेम-कथा लिख रहा हूँ। परन्तु यदि वे ऐसी आशा करके इस लेख को पढ़ेंगे, तो उनको निराश ही होना पड़ेगा; क्योंकि ये एक प्राचीन तान्त्रिक पण्डित थे। तन्त्र ग्रन्थों में इतस्ततः कई जगह इनका नामोल्लेख देखकर मुझे इनके विषय में विशेष जानने की इच्छा हुई। तदनुसार मैंने गवर्नमेंट संस्कृत लाइब्रेरी (सरस्वती भवन) में की प्राचीन हस्तलिखित पुस्तकों के आधार पर यह जीवनी संगृहीत की है। आशा है कि इतिहास-प्रेमी पाठकगण इसे देखकर सन्तुष्ट होंगे।

वंश-परिचय

पं० प्रेमनिधि पन्थ कूर्माचलीय पर्वतीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम उमापति और माता का नाम उद्योतमती था। कूर्माचल जन्म भूमि, तथा काशी निवासस्थान था। महाकवि श्रीहर्ष ने जिस प्रकार अपने नैषध काव्य के प्रत्येक सर्ग के अन्त में अपने माता पिता का नामोल्लेख किया है, उसी प्रकार इन्होंने भी ग्रन्थों के प्रकरणों के अन्त में अपने माता पिता का नामोल्लेख किया है। उदाहरणार्थ अपनी बनाई हुई तन्त्रराज टीका 'सुदर्शन' के अन्त में ये कहते हैं—

"जिसकी सती गुणवती उद्योतमती माता है, पिता उमापति हैं, जिसका नाम प्रेमनिधि है, उत्तर दिशा में कूर्माचल जिसका जन्मस्थान

है, उपास्य देवता श्रीकार्तवीर्यार्जुन तथा काशी निवासस्थान है, उससे यह तन्त्रराज टीका स्वरूपी सुदर्शन उत्पन्न हुआ" *। प्रकृत ग्रन्थकार कार्तवीर्यार्जुन के परम भक्त थे, यह बात इनके बनाए हुए प्रत्येक ग्रन्थ के आद्यन्त मङ्गलाचरणों से स्पष्ट है। इनकी बनाई हुई जो 'मल्लादर्श' नाम की 'शिवताण्डव' तन्त्र टीका सरस्वती भवन में है, उसके आदि तथा अन्त के श्लोकों से मालूम होता है कि प्रकृत ग्रन्थकार मलैवर्मा (मलयवर्मा) राजा के आश्रित थे। इस राजा के बारे में इन्होंने जो कुछ लिखा है, उसका अनुवाद यह है—

"उत्तरदिशा में 'ताकसा' नाम का एक पर्वत गण्डकी नदी के समीप है। वहाँ पर 'शाहमल्ल' नाम का राजा हुआ जिसको देखकर बहुविध लोग भी कल्पतरु सूर्य और चन्द्र का सन्देह करते थे ॥१॥ अमृत समुद्र के गर्भ से जिस प्रकार चन्द्र उत्पन्न हुआ, उसी प्रकार उस राजा से घनश्याम का भक्त घनश्याम नाम का राजा उत्पन्न हुआ, जिसका यश चन्द्र के समान उज्ज्वल होने के कारण चन्द्र की स्थिति निष्फल थी और जिसके याचकगण अभीष्ट सम्पत्ति पाकर सन्तुष्ट रहते थे ॥२॥ उसका पुत्र 'मलैवर्मा' (मलयवर्मा) नाम का राजा निज कुल में अलंकार स्वरूप उत्पन्न हुआ, जिस श्रेष्ठ राजा को सज्जन चाहते हैं और याचकगण जिसके आयुष्य की वृद्धि मनाते हैं ॥३॥ उस राजा ने लोगों के नाना प्रकार के कर्म-जनित दुःखों को दूर करने के लिये दुर्ज्ञेय यन्त्रों को प्रकट करने की

पद्यों की नीलकंठ चतुर्धरी ने व्याख्या की है, तथापि इतने व्याख्यान से साधारण लोगों को मूल ग्रन्थ समझने में कठिनाई पड़ती हुई देखकर श्रीमहाराजाधिराज मलैवर्म (मलयवर्म) प्रभु की आज्ञा से काशीवासी कूर्माचल में कुल-परंपरा से रहनेवाले पंन्थोपनामक प्रेमनिधि नामक द्विज फिर भी अङ्कावली को विशद करते हैं *।

उपरिनिर्दिष्ट अवतरणिकाओं से यह सिद्ध होता है कि प्रकृत ग्रन्थकार-प्रेमनिधि मलयवर्मा राजा के आश्रित थे, जो कि उत्तर दिशा में ताकसा नाम के पार्वतीय प्रदेश का राजा था। इस राजा के पितामह शाहमल्ल तथा पि।ा घनश्याम थे। शिवताण्डव तंत्र की टीका इसी राजा की आज्ञा से बनाई गई थी।

---

* कौवेर्यां दिशि ताकसेत्यभिधया ख्यातो हि कश्चिद्गिरि-
गण्डवया: सविधेऽस्ति, तत्र नृपतिः श्रीशाहमल्लोऽभवत्।
यं प्राप्य त्रिदिवाधिनाथतरुणा चन्द्रत्वतिग्मांशुता-
सन्देहं बहुवेदिनोऽपि मनुजा अत्यन्तमापेदिरे ॥१॥
तस्माचन्द्र [द] वाऽमृताब्धिजठराच्छ्रीमद्घनश्यामनो-
मत्या तन्मथनां गतोह्यभिधयाऽपि श्रीघनश्यामताम्।
यातो निष्कलता गृहीकृतविधुभाव्यं यशो यस्य तं
संसेव्याऽर्थिजनोऽखिलोऽपि भवति रमाऽभीष्ट सम्पत्तिभाक् ॥२॥
तदीय. सुतः श्रीमलैवर्मनामा नृपालः स्ववंशावतंसःमिव [न्य]।
वरेण्यं यमिच्छन्ति सन्तोऽप्यमीशो जयत्यर्थिनार्थार्थितायुष्यवृद्धिः ॥३॥

× × × × ×—समुद्धावि ज्ञानोद्भवजनितदु सव्ययह्ने दुरूहं यन्त्रौर्न प्रकटयितुमाशायते च ॥६॥

श्रीमन्मलैवर्म धरासुरेन्द्राज्ञया द्विजः प्रेमनिधिस्तु कश्चित्।
यन्त्रावली श्रीशिवताण्डवीया करोति बालैरपि लभ्यमाराम्।

× × × × तत्र दुरूहतमपद्यानि कतिपय यद्यपि चौधरि नीलकण्ठप्रभृतिसूरिभिर्व्याख्यानानि एव, तथाऽपि तावता दुर्बोधतरयन्त्रावलीगारं नाल्पज्ञानां हृदयसरणिमधिरोढुमर्हतीति श्रीमहाराजाधिराजमलैवर्मदेवैराज्ञः श्रीकाशीपुरवासी कूर्माचलाभिजनकुल-परम्परागतः पन्थोपनामकः प्रेमनिधिनामा कश्चिद् द्विजः पुनरङ्कावली विशदीकरोति।

समय-निर्णय

अब यह विचारणीय है कि पं० प्रेमनिधि का समय क्या है। इन्होंने 'मल्लादर्श' (शिवताण्डवतन्त्रटीका) की अवतरणिका में 'चौधरी नीलकण्ठ' का उल्लेख किया है। इससे यह स्पष्ट है कि ये उनके बाद हुए। चौधरी नीलकंठ का समय १६०० शक है। 'हकूपूर्णादृष्टिसमे शकेन्द्र समये' इस प्रकार शिवताण्डव टीका 'अनूपाराम' में नीलकण्ठ चौधरी ने अपने ग्रंथ-निर्माण का समय लिखा है। प्रेमनिधि ने 'मल्लादर्श' के अन्त में 'तेनाष्टाब्धि षडिन्दुशक गमितान्योर्जावविष्यर्क + + + + श्रीशिवताण्डवस्य विहितं सटिप्पणंसत्वरम्'। इस प्रकार उन्होंने १६४८ शक सं० अपना ग्रंथ-निर्माण-समय लिखा है। इस हिसाब से प्रकृत ग्रंथ का निर्माणकाल १७२६ ईसवी हुआ। इसी ग्रंथकार का बनाया हुआ शब्दप्रकाश (दीपप्रकाश टिप्पण) नाम का ग्रंथ एशियाटिक सोसाइटी बंगाल में है। उसके विषय में स्वर्गीय राजेन्द्रलाल मित्र के सूचीपत्र के भाग ६, पृ० १२४ में ग्रंथकार ने प्रकृत ग्रंथ के निर्माण का समय 'नगजलधिरसक्ष्मा-शके माघमासे' इस प्रकार दिया है। यह भी १६४८ शक अर्थात् १७२६ ईसवी होता है। इससे पूर्वोक्त समय ही निश्चित होता है। स्टाइन साहब ने अपने काश्मीर पुस्तक-सूचीपत्र के पृ० २३७ में प्रकृत ग्रंथकार के बनाए हुए 'शब्दार्थ चिन्तामणि' (शारदा तिलक टीका) का निर्माण काल शक सं० १६५८ लिखा है। मैंने सरस्वती भवन में शब्दार्थ चिन्तामणि की सम्पूर्ण पुस्तक देखी है। उसमें ग्रंथकार ने कहीं भी समय का उल्लेख नहीं किया है। स्टाइन साहब ने किस आधार पर यह बात लिखी है, यह कहना कठिन है। परन्तु यह संभव है कि 'मल्लादर्श' और 'दीपप्रकाश' 'शब्दप्रकाश' आदि ग्रंथों का निर्माण करने के दस वर्ष बाद शब्दार्थ चिन्तामणि लिखा गया हो। तब स्टाइन साहब का निर्दिष्ट समय ठीक हो सकता है। परन्तु इस विषय में कुछ विशेष प्रमाण

उपलब्ध नहीं है। जो कुछ हो, हम इतना निःसंदेह कह सकते हैं कि ईस्वी १७०० प्रकृत ग्रंथकार का समय है जो कि वर्तमान समय से सवा दो सौ वर्ष पूर्व है।

हम ऊपर लिख चुके हैं कि प्रेमनिधि मलयवर्मा राजा के आश्रय में काशीवास करते थे। यही बात शब्दप्रकाश के अंत में ग्रन्थकार ने स्वयं ही स्पष्ट कही है *।

प्रेमनिधि के गुरु का परिचय

प्रेमनिधि पंथ के गुरु का नाम दिनकर था। 'सुदर्शन' टीका के आरम्भ में प्रकृत ग्रंथकार ने उनके विषय में इतना ही कहा है—"न्याय-शास्त्र रूपी समुद्र के पान करने में अगस्त्य स्वरूप श्री दिनकर गुरु की कृपारूपी नौकाओं के द्वारा सर्व कलाओं से विकल और खल स्वभाव (मैं ग्रंथकार) श्रीतंत्ररूपी समुद्र के पर तीर को प्राप्त हो गया हूँ" †। संम्भवतः ये दिनकर प्रसिद्ध भारद्वाज कुलोत्पन्न दिनकर ही हों, जिनका मुक्तावली प्रकाश (दिनकरी) ग्रंथ प्रसिद्ध है। परन्तु इस विषय में विशेष प्रमाण उपलब्ध न होने से निश्चयपूर्वक कुछ नहीं कहा जा सकता।

प्रेमनिधि के स्त्री पुत्र तथा श्वसुर-कुल का परिचय

सुदर्शन टीका के आरंभ के पंचम और षष्ठ श्लोक से मालूम होता है कि यह ग्रंथ प्रेमनिधि की स्त्री प्राणमंजरी ने अपने सुदर्शन नाम के पुत्र

---

* अस्ति हि उत्तरस्यां दिशि मुक्तिक्षेत्रसविधे ता···सेति प्रसिद्ध पर्वत देशानामधिपति. श्री मलैवर्मदेव लाटीयकुलजातभूमिपतिप्रदानप्रयत्नादि सौहार्दपूर्वकं काश्यां निवसनेति चतुर्नार्थ.। तथा च जन्मस्थानं भिन्नं, निवासस्थानं भिन्नं, वृत्तिस्थानं च भिन्नम्।

(राजेन्द्रलाल मित्र का सूचीपत्र भाग ६, पृ० १२३.)

† न्यायागमाब्धिचुलुकीकरणागस्तेः,
श्रीमद्गुरो दिनकरस्य कृपातरीभि ।
श्रीतन्त्रराजजलधेः सुतरापारं
मायापराधिमकलाविकलः खलोऽपि ॥

की मृत्यु हो जाने पर उसके स्मारक रूप में बनाया। परन्तु इसी ग्रन्थ का अन्तिम भाग देखने से मालूम पड़ता है कि यह प्रेमनिधि का ही बनाया हुआ है। इन परस्पर विरोधी अवतरणिकाओं से हम अनुमान करते हैं कि स्वयं प्रेमनिधि ने ही आरंभ में अपने स्त्री के नाम से ग्रन्थ का उपोद्घात किया। पर अन्त में ग्रन्थ बहुत बड़ा होने से उनका वह खयाल उतर गया और वे अपने मामूली ढंग से अपना ही नाम लिख गये।

अपना ग्रन्थ स्त्री के नाम से प्रसिद्ध करने का दूसरा उदाहरण बालं भट्ट पायगुंडे का भी है। इन्होंने भी याज्ञवल्क्य स्मृति टीका की मिताक्षरा की टीका 'लक्ष्मी' तथा कालमाधव टीका 'लक्ष्मी' भी अपनी स्त्री के नाम से ही लिखी है। अस्तु। सुदर्शन टीका के आरम्भ में इनकी पत्नी का उल्लेख इस प्रकार है—"रुधिर, मांस मज्जामय सुदर्शन नामक पुत्र के मुक्ति पाने पर पूर्ण भगवान् श्रीसुदर्शनवतार श्री कार्तवीर्यार्जुन के प्रेम माहात्म्य से विद्वानों के मानस रूपी मानस सरोवर में राजहंस अक्षर स्वरूप श्रीतन्त्रार्थ प्रकाशक द्वितीय नवीन सुदर्शन को पति-प्रेम के कारण करती हूँ।" 'जिसके हर्ष देव पण्डित पिता तथा हर्षमती माता और उत्तर दिशा में कूर्मांचल जन्मस्थान है, वह पण्डित प्रेमनिधि की तृतीय पत्नी 'प्राणमञ्जरी' गुप्त तन्त्रराज के विषमार्थ की व्याख्या करती है *।"

ऊपर के श्लोकों से यह बात मालूम होती है कि प्रेमनिधि के

---

* या ने मुक्तिरं सुदर्शनसुतेऽसृङमांसमेदोमये
पूर्णे श्रीसुदर्शनावतारपादप्रेममाहात्म्यत ।
विद्वन्मानससारहंसमक्षरं श्रीमत्पतिप्रेमत-
श्रीतन्त्रार्थसुदर्शनं नवमहं कुर्वेऽक्षरानीमयम् ॥१॥
यस्या कोविद हर्षदेवविबुधस्तात प्रसूः श्रीमती
स्यात् हर्षमती तिवन्दिगित कूर्माचलो जन्मभू ।
विद्वत्प्रेमनिधेस्तृतीयवनिता श्रीप्राणमञ्जर्यहं
कुर्वे गोपिततन्त्रराजविषमपदार्थमाशु स्फुटम् ॥ २
([illegible])

श्वशुर हर्षदेव तथा श्वश्रू हर्षमती थी; और इनकी तृतीय पत्नी का नाम प्राणमंजरी था। इनका सुदर्शन नाम का पुत्र मर गया था; उसी के स्मारक रूप में इन्होंने तन्त्रराज पर सुदर्शन नाम की टीका लिखी।

प्रेमनिधि के बनाए हुए ग्रन्थों की सूची ओफ़्रेक्ट साहब के सूचीपत्र के अनुसार इस प्रकार है—

१ अन्तर्यागरत्न।
२ काम्यदीपदान पद्धति।
३ घृतदान पद्धति।
४ दीपदानरत्न।
५ दीपप्रकाश, और उसकी टीका शब्दप्रकाश।
६ प्रयोगरत्न।
७ प्रयोगरत्न क्रोड।
८ प्रयोगरत्न संस्कार।
९ प्रयोगरत्नाकर।
१० बहिर्यागरत्न।
११ भक्तव्रातसन्तोषक।
१२ भक्तितरंगिणी।
१३ मूलप्रकाश।
१४ लवणदानरत्न।
१५ शक्तिसंगम तन्त्र टीका।
१६ महादर्श (शिवताण्डव टीका)
१७ शब्दार्थचिंतामणि (शारदा तिलक टीका)
१८ सुदर्शन (तंत्रराज टीका)

इस सूची में अनेक ऐसे रत्न, जैसे अतर्यागरत्न, बहिर्यागरत्न आदि हैं, जिनका इनके बनाए हुए 'प्रयोग रत्नाकर' के भिन्न भिन्न प्रकरण होना

संभव मालूम पड़ता है। सम्भवतः औफ़ेरट् साहब ने गलती से इन्हें अलग अलग ग्रंथ बताया है; क्योंकि इन्होंने अपने शब्दार्थ चिन्तामणि नामक ग्रंथ के अन्त में अपने बनाए हुए ग्रंथों के नाम उल्लिखित किए हैं। उन में प्रयोग रत्नाकर का नाम है; पर इन छोटे मोटे रत्नों का नाम नहीं है *।

उक्त सूची में से केवल तीन ग्रंथ सरस्वती भवन में सुरक्षित हैं— महादर्श (शिवताण्डव टीका), शब्दार्थ चिंतामणि (शारदा तिलक टीका) और सुदर्शन (तन्त्रराज टीका)। बाकी ग्रंथों का हाल भिन्न भिन्न सूचियों से लिया गया है।

उपसंहार

जैसा कि साधारण नियम है, तदनुसार इस ग्रंथकार का भी अपनी जीवितावस्था में विशेष आदर नहीं होता था, ऐसा मालूम होता है। जिस प्रकार भवभूति ने मालती माधव में कहा है, उसी प्रकार और प्रायः उन्हीं शब्दों में प्रकृत ग्रंथकार भी अपनी कृति में कहते हैं— "देश देश में मात्सर्य दोष-रहित पंडितों के रहते हुए कतिपय लोगों के अनादर से तू क्यों खिन्न होती है ? क्योंकि यह पृथ्वी विशाल है; समय भी अनंत है। तब इसमें असंभव ही क्या है ?†"

काशी में ये मणिकर्णिका घाट पर गौमठ के समीप रहते थे, ऐसी

---

* आस्ते भक्तितरङ्गिणी च भगिनी दीपप्रकाशोऽप्यत्र
प्रायश्चित्तविधिप्रदीप इतरः शब्दप्रकाशोऽपि च ।
महादर्श इति प्रयोगपदपूर्वाख्यश्च रत्नाकरो
यस्यामी खि (?) रिवाभवो विनयता शब्दार्थचिन्तामणि ॥

† देशे देशे बुधाना निवसति निवहे त्यक्तमात्सर्यदोषे-
ऽकस्माद् कस्मात् कृते मे निगनिदित पदार्था [भि] संशोधनार्थम् ।
खिन्नासित्व विमूढे कतिपयमनुजैः सन्दर नैचिनेति
लोपीपृष्ठेऽभिदर्ने निरवधि समये कि न सम्भावित स्यात् ॥

किंवदन्ती है। इनके ग्रन्थों को देखने से तन्त्र शास्त्र में तो इनका प्रगाढ़ पाण्डित्य मालूम पड़ता ही है, साथ ही साथ शास्त्रान्तरों का भी पूर्ण परिचय देख पड़ता है।

मैं आशा करता हूँ कि इतने विवरण से इतिहास-प्रेमियों को इनके विषय में बहुत कुछ विदित हो जायगा और संभवतः कुछ मनोरञ्ज भी होगा।

---

(१८) उद्भट भट्ट

उनका परिचय तथा अलंकार-सिद्धान्त

[लेखक—पंडित बटुकनाथ शर्म्मा एम० ए०, काशी ।]

प्रसिद्धि

संस्कृत अलंकार-शास्त्र के आचार्यों में उद्भट भट्ट का भी स्थान बड़ा ऊँचा है। पीछे के बड़े बड़े शास्त्रकारों ने बड़े आदर के साथ उनका और उनके मत का उल्लेख किया है। जो उनका मत नहीं भी मानते, बहुत बातों में उनके पूरे विरोधी हैं, वे भी जब उनका नाम अपने ग्रन्थों में लेते हैं, उनके प्रति पूरा सम्मान दिखाने का प्रयत्न करते हैं। ध्वन्यालोक के रचनेवाले आनन्दवर्द्धनाचार्य कितने बड़े पंडित थे, यह तो बताने की आवश्यकता ही नहीं है। वे भी अपने ग्रन्थ में एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अन्यत्र वाच्यत्वेन प्रसिद्धो यो रूपकादिरलङ्कारः सोऽन्यत्र प्रतीयमानतया बाहुल्येन प्रदर्शितस्तत्रभवद्भिर्भट्टोद्भटादिभिः"*। रुय्यक का अलङ्कारसर्वस्व प्रसिद्ध ही है †। उसी के आधार पर अप्पय दीक्षित ने अपने अलङ्कार ग्रन्थों में बहुत कुछ लिखा है। इसमें भी भट्ट उद्भट का नाम आया है। बल्कि यह कहना चाहिए कि भामह और इनके नाम से ही ग्रन्थ प्रारंभ होता है—"इहहि तावद् भामहोद्भट प्रभृतयश्चिरन्तनालङ्कारकाराः ‡" इत्यादि। यही रुय्यक जब व्यक्तिविवेक ऐसे बड़े महत्व के ग्रन्थ की टीका लिखने बैठे, तब भी उद्भट भट्ट को न भूले थे। वहाँ वे यों लिखते हैं—"इहहि चिरन्तनैरलङ्कारतन्त्र

---

* ध्वन्यालोक, पृ० १०८. (निर्णयसागर)।

† दक्षिण के टीकाकार समुद्रबन्ध का कहना है कि रुय्यक ने केवल सूत्र ही लिखा। उन सूत्रों की वृत्ति का ही नाम अलङ्कार सर्वस्व है, जो उनके शिष्य मंखुक ने लिखी। किन्तु यह मत कई कारणों से ठीक नहीं ठहरता।

‡ अलङ्कार सर्वस्व, पृ० ३. (निर्णयसागर)।

प्रजापतिभिर्भट्टोद्भटप्रभृतिभिः शब्दधर्मा एवालङ्काराः प्रतिपादिता नाभिधाधर्मा।"* इन प्राचीनों की बात ही क्या है; पीछे के जो उद्धत से उद्धत भी नवीन आचार्य हुए हैं, उन को भी भट्ट उद्भट के सामने सिर नवाना ही पड़ा है। जिसने रसगङ्गाधर एक बार भी पढ़ा है, वह अच्छी तरह जानता है कि पण्डितराज जगन्नाथ कैसे थे। किसकी उन्होंने खबर न ली! अप्पय दीक्षित के धुर्रे उड़ा दिए; विमर्शिणीकार के छक्के छुड़ा दिए। पर वे भी जहाँ कहीं उद्भट का नाम लेते हैं, आदर ही दिखाते हैं। कहीं उनके ग्रन्थ के लगाने का प्रयत्न किया, कहीं उन पर किए गए आक्षेपों का उत्तर दिया, और कहीं अपने कथन के समर्थन में उनका उल्लेख किया। एक स्थान में लिए हुए वाक्य को नमूने के तौर पर देखिए— "अत्राहुरुद्भटाचार्याः। येन नाप्राप्ते य आरभ्यते स तस्य बाधक इति न्यायेनालङ्कारान्तर विषय एवायमारभ्यमाणोऽलङ्कारान्तरं बाधते" † इत्यादि। और कहाँ तक कहें; भट्ट उद्भट की प्रसिद्धि इतनी जोरों की हुई कि बेचारे भामह सब से प्राचीन आचार्य कोसों दूर पड़े रह गए। इनके आगे वे फीके से जँचने लगे। यही कारण है कि भामह के काव्यालङ्कार की पुस्तक तक नहीं मिलती।

देश और समय

"उद्भट" नाम सुनते ही कौन न कह बैठेगा कि ये काश्मीरी होंगे। पुराने काश्मीरियों के नाम गजब के होते थे। इस समय के लोग तो उन्हें सुनते ही फड़क उठते हैं। भला कहिए, कैयट, जैयट, वैयट, मम्मट, अल्लट, भल्लट, कल्लट सरीखे नाम और किस देश में निकलेंगे! ये जो नाम मैंने ऊपर दिए हैं, वे सब एक से एक बढ़े चढ़े आचार्यों के

---

* व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ३ (अनन्तशयन)।

† रसगङ्गाधर, पृ० १२३ (काशी)।

है। अब "उद्भट" नाम को इन सब के बगल में रखिए और देखिए कि यह किस नाम से कम उद्भट है।

केवल नाम ही की बात नहीं; और भी दूसरे विश्वासार्ह प्रमाण हैं, जिनसे उनका काश्मीर का होना अच्छी तरह सिद्ध होता है।

राजतरङ्गिणी में कल्हण किसी एक भट्ट उद्भट को महाराज जयापीड़ का सभापति बतलाते हैं। महाराज जयापीड़ का वर्णन करते हुए वे लिखते हैं—

"विद्वान् दीनारलक्षेण प्रत्यहं कृतवेतनः।
भट्टोऽभूदुद्भटस्तस्य भूमिभर्तुः सभापतिः"॥–४.४९५.

उस राजा के सभापति विद्वान् उद्भट भट्ट थे, जिनका दैनिक वेतन एक लाख दीनार था। यह उद्भट, जिनके संरक्षक महाराज जयापीड थे, और वे जिनका उल्लेख हम ऊपर कर आए हैं, जहाँ तक पता लगा है, दोनों एक ही थे। इन दोनों का एक व्यक्ति होना डॉ० व्यूलर (Buhler) की काश्मीर-रिपोर्ट में बहुत प्रमाणों से सिद्ध किया गया है *। डॉ० व्यूलर ने ही पहले पहल काश्मीर जाकर अन्य ग्रन्थों के साथ भट्ट उद्भट के अलंकारसार-संग्रह का पता लगाया था।

महाराज जयापीड़ वै० सं० ८३६ से ८७० तक राज्य करते रहे। अपने राज्य के अंतिम काल में ये कुछ बदनाम से हो गए थे। इनसे प्रजाओं को पीड़ा होते देखकर ब्राह्मणों ने सब संबंध छोड़ दिया था। इसी कारण डॉ० याकोबी (Jacobi) भट्ट उद्भट को इनके राज्य के पहले भाग में रखना अधिक उचित समझते हैं। यही समय इनका दूसरी तरह से भी प्रमाणित होता है। ध्वन्यालोक के रचयिता आनंद-

---

* Dr G. Buhler's Detailed Report of a Tour In Search of Sanskrit MSS made in Kashmir etc. Extra number of the J. B. R. A. S., 1877.

वर्द्धनाचार्य ने इनका नाम कई बार लिया है *। आनन्दवर्द्धनाचाय का भी नाम राजतरंगिणी में आया है—

"मुक्ताकण. शिवस्वामी कविरानन्दवर्द्धन. ।
प्रथां रत्नाकरश्चागान् साम्राज्येऽवन्तिवर्मणः ॥ ५-३४.

मुक्ताकण, शिवस्वामी, कवि आनन्दवर्द्धन तथा रत्नाकर ये सब अवंति वर्मा के राज्य-काल में प्रसिद्ध हुए। महाराज अवन्तिवर्मा वै० स० ९१२ से ९४५ तक काश्मीर का शासन करते रहे। आनन्दवर्द्धन का भी, पूर्वोक्त श्लोक के अनुसार, यही समय मानना चाहिए। इसलिये इस बात से भी भट्ट उद्भट का पूर्वोक्त समय ही ठीक प्रमाणित होता है। एक दूसरी बात भी यहाँ ध्यान रखने योग्य है। वह यह कि भट्ट उद्भट ने कहीं आनन्दवर्द्धनाचार्य का क्या, ध्वनि-मत का भी अच्छी तरह उल्लेख नहीं किया है। इससे यही अनुमान किया जा सकता है कि उनके समय तक ध्वनिमत की पूर्ण रूप से स्थापना नहीं हुई थी। ऐसा ही पता प्रतिहारेन्दुराज की टीका से तथा अन्य ग्रन्थों से भी चलता है †। इन सब बातों का विचार करने से यही सिद्ध होता है कि भट्ट उद्भट वै० नवम शतक के पूर्वार्द्ध में अवश्य विद्यमान थे ‡।

ग्रंथ

अभी तक भट्ट उद्भट के तीन ग्रन्थों का पता लगा है। वे ये हैं—

(१) भामह विवरण, (२) कुमारसभव काव्य और (३) अलंकारसार सग्रह।

---

* ध्वन्यालोक, पृ० १६ और १०८ (निर्णयसागर)।

† अलंकारसार लघु विवृति, पृ० १६—"कैश्चित् सहृदयैर्ध्वनिर्नाम व्यञ्जकत्वभेदात्मा काव्यधर्मोऽभिहित । स कस्मादिह नोपदिष्ट । उच्यते । एष्वलंकारेष्वन्तर्भावात् ।" अलंकार सर्वस्व टीका (अलंकार विमर्शिनी) पृ० ३ (निर्णयसागर)—"ध्वनिकारमतमेभिर्नदृष्टमितिभाव ।"

‡ Wintunitz Geschichte der Indischen Literatur, Vo IIII. p. 17, Dr S K De, History of Sanskrit Poetics, Vol I p 75, P. V. Kane, Introd to साहित्यदर्पण p XLV

भामह-विवरण

भामह विवरण का केवल नाम ही नाम मिला है, पुस्तक कहीं नहीं मिली है। प्रतिहारेन्दुराज अलंकारसार संग्रह की लघु विवृति नाम की टीका में एक स्थल पर यों लिखते हैं—"विशेषोक्ति लक्षणे च भामह विवरणे भट्टोद्भटेन एकदेशशब्द एवं व्याख्यातो यथेतास्माभिर्निरूपितः" *। इस कथन से स्पष्ट ही प्रतीत होता है कि भामह-विवरण नाम का ग्रंथ भट्ट उद्भट ने लिखा था। इस कथन की पुष्टि अभिनव गुप्ताचार्य भी कई स्थलों पर करते हैं †। एक स्थल पर वे यों लिखते हैं—"भामहोक्तं 'शब्दछन्दोभिधानार्थं' इत्यभिधानस्य शब्दाद्भेदं व्याख्यातुं भट्टोद्भटो बभाषे ‡।" इससे तो साफ ही निकलता है कि भट्ट उद्भट ने भामह के ग्रंथ पर व्याख्या लिखी थी। अन्य स्थलों से भी यही सिद्ध होता है। हेमचंद्र भी अपने काव्यानुशासन की अलंकार-चूड़ामणि नाम की टीका में भट्ट उद्भट कृत भामह विवरण का कई बार उल्लेख करते हैं +। रुय्यक अपने अलङ्कारसर्वस्व में इस भामह विवरण का 'भामहीय उद्भट लक्षण' कहकर उल्लेख करते हैं ÷। इसी अलंकार सर्वस्व की टीका में समुद्रबंध इसको काव्यालंकार विवृत्ति कहते हैं ×। भट्ट उद्भट के अलंकार-सार-संग्रह से पता चलता है कि इन्होंने भामह के अलंकार लक्षणों को बहुत स्थलों पर वैसे का वैसा ही उठा लिया है। इससे भी यही मालूम होता है कि इनका भामह के साथ घनिष्ठ संबंध था।

---

* पृ० १३.

† ध्वन्यालोकलोचन (निर्णयसागर) पृ० १०.

‡ ,, ,, पृ० ४०, १५६,

\+ काव्यानुशासन टीका (निर्णयसागर) पृ० १७, ११०.

÷ अलङ्कारसर्वस्व पृ० १८३.

× अलंकारसर्वस्व टीका (त्रिवेन्द्रम) पृ० ८६.

कुमारसंभव काव्य

भट्ट उद्भट के दूसरे ग्रंथ की भी यही दशा है। इस ग्रंथ का नाम था कुमारसंभव काव्य। प्रतिहारेन्दुराज के कथन से उसके अस्तित्व का पता चलता है; तथा यह मालूम होता है कि अलंकारसारसंग्रह में आए हुए उदाहरण बहुत करके उसी काव्य से लिए गए हैं। प्रतिहारेन्दुराज अपनी लघु विवृति में एक स्थान पर यों लिखते हैं—"अनेन ग्रन्थकृता स्वोपरचितकुमारसंभवैकदेशोऽत्रोदाहरणत्वेन उपन्यस्तः *।" जैसा कि काणे महाशय कहते हैं †, इन श्लोकों को देखने से स्पष्ट यही प्रतीत होता है कि मानों कालिदास के कुमारसंभव की नकल की गई हो। यह सादृश्य केवल शब्द और अर्थ ही का नहीं है, बल्कि घटनोल्लेख का भी है। यहाँ एक दो उदाहरण दिखाना अप्रासङ्गिक न होगा।

उद्भट का श्लोक—प्रच्छन्ना शस्यते वृत्तिः स्त्रीणां भावपरीक्षणे।
प्रतस्थे धूर्जटिरतस्तनुं स्वीकृत्य वाटवीम्॥
(२. १०) ‡

कालिदास का श्लोक—विवेश कश्चिज्जटिलस्तपोवनं
शरीरबद्धः प्रथमाश्रमो यथा। इत्यादि।
(२. १२)

उद्भट का श्लोक—अपश्यच्चातिकष्टानि तप्यमानां तपांस्युमाम्।
असंभाव्यपतीच्छानां कन्यानां का परागतिः॥
(२. १२) +

---

* अलङ्कारसारसंग्रह लघुविवृति, पृ० १३ (निर्णयसागर)।
† Introduction to his साहित्यदर्पण p. XLV
‡ अलङ्कारसारसंग्रह लघुविवृति पृ० ३३.
+ " पृ० ३४

कालिदास का श्लोक—इयेष सा कर्तुमवन्ध्यरूपतां
समाधिमास्थाय तपोभिरात्मनः ।
अवाप्यते वा कथमीदृशं द्वयं
तथाविधं प्रेमपतिश्च तादृशः ॥
(५. २)

उद्भट का श्लोक—शीर्णपर्णाम्बुवाताशकष्टेऽपि तपसि स्थिताम् ।
(२. १)*

कालिदास का श्लोक—स्वयं विशीर्णद्रुमपर्णवृत्तिता
पराहि काष्ठा तपसस्तया पुनः । इत्यादि ।
(५. २८)

अलङ्कारसार संग्रह

भट्ट उद्भट का तीसरा ग्रंथ है अलङ्कारसार संग्रह । इस समय एक यही साधन है, जिससे भट्ट उद्भट की विद्वत्ता का पता चल सकता है। इसका पहले पहल पता डा० व्यूलर ने काश्मीर में लगाया था और इसका पूरा विवरण अपनी रिपोर्ट में दिया था । इसका अनुवाद कर्नल जेकब ने निकाला था । पर ग्रंथ जब तक निर्णयसागर में न छपा, तब तक सर्व साधारण के लिये दुर्लभ ही था । वै० सं० १९७२ में पंडित मंगेश रामकृष्ण तैलंग ने प्रतिहारेन्दुराज की लघु विवृति नाम की टीका के साथ इसका संपादन कर इसे प्रकाशित किया ।

यह ग्रंथ छः वर्गों में विभक्त है । इसमें लगभग ७९ कारिकाओं द्वारा ४१ अलङ्कारों के लक्षण दिए गए हैं । इनके उदाहरण की तरह लगभग १०० श्लोक अपने कुमारसंभव काव्य से (जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है) दिए हैं ।

* अलंकारसार संग्रह लघु विवृति पृ० ३७.

जिन अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण इसमें दिए गए हैं, उनके नाम वर्गक्रम से नीचे दिए जाते हैं।

प्रथम वर्ग—(१) पुनरुक्तवदाभास, (२) छेकानुप्रास, (३) त्रिविध अनुप्रास (परुषा, उपनागरिका, ग्राम्या या कोमला), (४) लाटानुप्रास, (५) रूपक, (६) उपमा, (७) दीपक, (आदि, मध्य, अन्त), (८) प्रतिवस्तूपमा।

द्वितीय वर्ग—(१) आक्षेप, (२) अर्थान्तरन्यास, (३) व्यतिरेक, (४) विभावना, (५) समासोक्ति, (६) अतिशयोक्ति।

तृतीय वर्ग—(१) यथासंख्य, (२) उत्प्रेक्षा, (३) स्वभावोक्ति।

चतुर्थ वर्ग—(१) प्रेय, (२) रसवत्, (३) उर्जस्वि, (४) पर्यायोक्त, (५) समाहित, (६) उदात्त (द्विविध), (७) श्लिष्ट।

पञ्चम वर्ग—(१) अपह्नुति, (२) विशेषोक्ति, (३) विरोध, (४) तुल्ययोगिता, (५) अप्रस्तुत प्रशंसा, (६) व्याजस्तुति, (७) विदर्शना, (८) उपमेयोपमा, (९) सहोक्ति, (१०) सङ्कर (चतुर्विध), (११) परिवृत्ति।

षष्ठ वर्ग—(१) अनन्वय, (२) ससंदेह, (३) संसृष्टि, (४) भाविक, (५) काव्यलिंग, (६) दृष्टांत।

भामह से सम्बन्ध

(१) सादृश्य

ऊपर एक स्थान पर कहा जा चुका है कि भट्ट उद्भट भामह के बड़े भक्त थे। उन्होंने भामह के काव्यालङ्कार पर भामह-विवरण नाम की टीका लिखी। इतना ही नहीं, उसी ग्रन्थ का बहुत कुछ सहारा लेकर उन्होंने अपना अलङ्कारसारसंग्रह लिखा। अब यहाँ यह देखना भी उचित होगा कि उन्होंने इस ग्रन्थ के बनाने में कहाँ तक भामह का अनुकरण किया और कहाँ तक अपनी बुद्धि लगाई। पहली बात जो देखते ही दृष्टिगत

होती है, वह यह है कि अलङ्कारों के लक्षण और उदाहरण जिस क्रम से भामह के काव्यालङ्कार में कहे गए हैं, उसी क्रम से यहाँ भी दिए गए हैं। दोनों के लक्षणों को मिलाने से पता लगता है कि आक्षेप, विभावना, अतिशयोक्ति, यथासंख्य, पर्यायोक्त, अपह्नुति, विरोध. अप्रस्तुत प्रशंसा, सहोक्ति, ससन्देह और अनन्वय के लक्षण हूबहू वही के वही हैं। कुछ और दूसरे अलङ्कार जैसे अनुप्रास, उत्प्रेक्षा, रसवत्, भाविक आदि ऐसे हैं, जिनके लक्षण बिलकुल वही के वही तो नहीं है, पर तो भी दोनों में बहुत कुछ सादृश्य अवश्य है। यह तो हुई ऊपरी समता। भीतरी मत भी भामह और भट्ट उद्भट का करीब करीब एक सा था। दोनों अलङ्कार-मत के माननेवाले थे।

(२) विलक्षणता

इतना सादृश्य होने पर भी भट्ट उद्भट बिलकुल ही अनुकरण करनेवाले न थे। उन्होंने भामह के कहे हुए कितने ही अलङ्कारों के नाम तक नहीं लिए हैं; और कितने ही भामह के न कहे हुए अलङ्कारों को अपने ग्रंथ में स्थान दिया है। यमक, उपमारूपक, उत्प्रेक्षावयव भामह के काव्यालङ्कार में आए हैं, पर उद्भट के अलङ्कारसार-संग्रह में उनका कहीं नाम भी नहीं मिलता। इसी तरह पुनरुक्तवदाभास, सङ्कर, काव्यलिङ्ग और दृष्टान्त भामह के ग्रन्थ में न आने पर भी भट्ट उद्भट के ग्रन्थ में मिलते हैं। निदर्शना को उद्भट विदर्शना कहते हैं; पर बहुत संभव है कि यह लिखने की ही भूल हो।

इसके अतिरिक्त और भी कई बातें हैं, जिनमें इनका मत भामह के मत से नहीं मिलता। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थान पर कहते हैं—"भामहो हि ग्राम्योपनागरिकावृत्तिभेदेन द्विप्रकारमेवानुप्रासं व्याख्यातवान्। तथा रूपकस्य ये चत्वारो भेदा वक्ष्यन्ते तन्मध्यादाद्यमेव

भेदद्वितयं प्रादर्शयन् *।" भामह ने ग्राम्या वृत्ति और उपनागरिका वृत्ति यही दो प्रकार के अनुप्रास माने हैं। रूपक के भी उन्होंने दो ही भेद दिखाए हैं। इसके विरुद्ध उद्भट भट्ट ने अनुप्रास तीन तरह के माने हैं। इन्होंने एक परुषा वृत्ति और जोड़ दी है। इसी तरह रूपक के भी इन्होंने दो भेद और जोड़कर चार भेद कर दिए हैं। प्रतिहारेन्दुराज फिर एक दूसरे स्थान पर कहते हैं—"भामहो हि 'तत्सहोक्त्युमाहेतु निर्देशात्रिविधं यथा। इति श्लिष्टस्य त्रैविध्यमाह"†। भामह ने श्लेष के तीन भेद माने हैं; पर उद्भट दो ही भेद मानते हैं।

संस्कृत अलङ्कार शास्त्र में बहुत से भिन्न भिन्न मत हो चुके हैं। अलङ्कार सर्वस्व की टीका में समुद्रबन्ध उन मतों के यों विभाग करते हैं—"विशिष्टौ शब्दार्थौ काव्यम। तद्वैशिष्ट्यं धर्ममुखेन, व्यापारमुखेन, व्यंग्यमुखेन च"‡। विशिष्ट शब्द-अर्थ को काव्य कहते हैं। इस विशिष्टता का प्रकाश तीन तरह से होता है—धर्म से, व्यापार से और व्यंग्य से। धर्म के दो भेद होते हैं—स्थायिधर्म अर्थात् गुण; और अस्थायिधर्म अर्थात् अलङ्कार। जो लोग अलङ्कार ही को काव्य में सब से प्रधान समझते हैं, उनका मत अलङ्कार मत कहा जाता है। इस मत के माननेवाले उद्भट को छोड़कर भामह, दण्डी, रुद्रट, प्रतिहारेन्दु-राज आदि कहे जा सकते हैं।

विशेषताएँ

उद्भट के मत से कई बातें सबसे विलक्षण हैं। यहाँ उनका संग्रह कर देना अनुचित न होगा। प्रतिहारेन्दुराज एक स्थान पर कहते हैं—"अर्थभेदेन तावच्छब्दा भिद्यन्ते इति भट्टोद्भटस्य सिद्धान्तः" +। अर्थभेद

* अलङ्कारसार लघुवृत्ति, पृ० १.
† " " पृ० ४७.
‡ अलङ्कारसर्वस्व टीका (अनन्तशयन), पृ० ४.
+ अलङ्कारसार लघुवृत्ति, पृ० ५५.

से शब्दों का भेद होता है, यह भट्टोद्भट का सिद्धान्त है। ये दो तरह का श्लेप मानते हैं—शब्दश्लेष और अर्थश्लेष; और दोनों को अर्थालङ्कार ही मानते हैं *। श्लेष को यह प्रधान अलङ्कार मानते हैं और सब अलङ्कारों का बाधक समझते हैं †। ये साफ ही कहते हैं—"अलङ्कारान्तरगतां प्रतिभां जनयत्पदैः"। ये अभिधा व्यापार तीन तरह का मानते थे ‡। अर्थ ये दो तरह का मानते थे—अविचारित सुस्थ और विचारितरमणीय +। गुणों को ये संघटना के धर्म मानते थे ÷। व्याकरण के विचार पर जो बहुत से उपमा के भेद पाए जाते हैं, वे सब बहुत करके उद्भट के ही निकाले हुए हैं ×।

इतना कहने के बाद अब यह फिर दोहराने की आवश्यकता नहीं कि भट्ट उद्भट बड़े भारी विद्वान् और धुरंधर आलंकारिक थे। जिस किसी बड़े अलङ्कार ग्रन्थ को उठाकर देखिए, कहीं न कहीं भट्ट उद्भट का नाम अवश्य देखने मे आवेगा। इनका मत पीछे से उड़ सा गया। जब लोग व्यंग्य ही को काव्य का आत्मा मानने लगे, तब अलङ्कारों का बाहरी उपकरण ठहराया जाना कोई आश्चर्य की बात नहीं है। इतना होने पर भी उनकी कीर्ति अक्षुण्ण बनी रही, यह क्या बहुत बड़ी बात नहीं है?

---

* काव्यप्रकाश, ९ उल्लास.

† ध्वन्यालोक, पृ० ९६.

‡ काव्यमीमांसा, पृ० २२.

+ काव्यमीमांसा, पृ० ४४, व्यक्तिविवेक टीका, पृ० ४.

÷ ध्वन्यालोकलोचन, पृ० १३४.

× P. V. Kane, Introd. to साहित्यदर्पण, p.XLIV.

(१९) चिरञ्जीव भट्टाचार्य

[लेखक—पंडित जगन्नाथ शास्त्री होशिंग, साहित्योपाध्याय, काशी ।]

प्राचीन संस्कृत कवियों और शास्त्रकारों के विषय में इतना कम पता लगा है कि कहीं कहीं वह नहीं के बराबर है। भारतीयों में इतिहास-प्रणयन की प्रवृत्ति ही नहीं थी, इस तरह का जो प्रबल प्रवाद फैला हुआ है, वह इस बात से भी कभी कभी पुष्टि पाने लगता है। कितने ग्रन्थकारों के ग्रन्थों के लुप्त हो जाने से उनका नाम निशान भी कहीं रहने न पाया। जिनके कुछ ग्रन्थ मिलते हैं, उनके नाम का तो बहुत करके पता चल जाता है; पर वे कौन थे, और उन्होंने कौन कौन ग्रन्थ लिखे, इत्यादि प्रश्नों का उत्तर मिलना कठिन हो जाता है। कहीं कुछ पता चला भी, तो बाकी अधूरा ही रह जाता है। यदि प्राचीनों की ऐसी दशा होती, तो खेद का विषय चाहे भले ही होता, पर आश्चर्य का विषय इतना न होता। यहाँ तो नवीनों की भी बहुत करके ऐसी ही दशा है। कुछ ग्रन्थ मिले, उनसे नाम का पता लगा, उनके अन्य ग्रन्थों के भी नाम मिले। पर जब उन ग्रन्थों की खोज की जाने लगी, तब उनका पता लगना दुष्कर हो गया। पुराने ग्रन्थकारों की तरह समय आदि के निरूपण के लिये अनुमान को उतना न सही, पर कुछ न कुछ तो अवश्य काम में लाना ही पड़ता है।

आज ऐसे ही एक नवीन ग्रन्थकार के संबंध में यहाँ कुछ कहना है। इनका नाम है चिरञ्जीव भट्टाचार्य। इनको हुए अभी ढाई सौ वर्ष भी नहीं हुए हैं। इनके एक दो ग्रन्थ तो अच्छी तरह प्रसिद्ध हो चुके हैं; पर दूसरों में कुछ का तो पता ही नहीं, और जिनका कुछ पता चला भी है, वे इस समय अप्राप्य हैं। इनका 'काव्यविलास' अभी काशी-

रथ राजकीय सरस्वती भवन ग्रन्थमाला में निकला है। यह ग्रन्थ पण्डितों को इतना अच्छा लगा था कि इसकी हस्तलिखित पुस्तकें करीब करीब भारत के हर एक प्रान्त में पाई गई हैं। हस्तलिखित पुस्तकों के सूचीपत्रों में इसका नाम और वर्णन कितने ही विद्वानों ने दिया है। यही हाल इनकी अन्य प्राप्य पुस्तकों का भी है। इस बात से इनकी विद्वत्ता का महत्त्व स्पष्ट प्रमाणित होता है।

वंश-वर्णन

इन्होंने अपनी 'विद्वन्मोदतरंगिणी' की प्रथम तरङ्ग में अपने वंश का परिचय दिया है। वह अंश अतिशय महत्व का है; इसलिये मैंने उसका आधार लिया है। वंश का पता इस प्रकार लगता है—इनके मूल पुरुष दक्ष* नामक एक पुरुष हुए, जिन्होंने अपने तपोबल तथा बुद्धि द्वारा उस समय लोकोपद्रव से गौड़ देश की रक्षा की और वहाँ के राजा के यज्ञस्तंभ-विस्तार में सहायता दी। ये राढ़ापुर† (बङ्गाल) में रहते थे और इनका यश चारों तरफ गौड़ देश में व्याप्त हुआ था। और ये स्वयं ‡ काश्यप गोत्री ब्राह्मण थे। उस समय गौड़ देश में प्रायः उस दक्ष की ही सन्तति कुलीन घरानों में अग्रसर हुई थीं; और साथ ही साथ उसने अच्छा विस्तार भी पाया था। आगे चलकर उसी वंश में

---

* दक्षो दक्षोपमेत्र. समजनि जनित[illegible]

रक्षोऽवक्षोभभीतिप्रथितजनपदो रक्षितो येन गौड़. ।

यत्याशीर्वाददूर्वादलकलितशिखो भूपतेर्यज्ञयूप'

संघातोऽनेकशाखः स्फुटमिव निगमो व्याप्तो व्याप्तमात. ॥

† क्रियाद्भुतस्य दक्षस्य राढ़ापुरनिवासिन ।

सौजन्यजनिना कीर्तिर्गौडदेशमपूरयत् ॥

‡ तस्य काश्यपगोत्रस्य काश्यपस्येव सन्तति ।

[illegible] गौडदेशीया कुलीनाग्रगताऽभवत् ॥

गोब्राह्मणभक्त और कुलदीपक काशीनाथ नामक एक विद्वान् हुए *। वे रोगियों के रोग हरने में तथा सन्तानेच्छुओं को अपनी विभूति और आशीर्वाद द्वारा सन्तति-लाभ करा देने में सिद्धहस्त थे। राजाओं को देखते ही वे उनका भूत, भविष्य और वर्तमान फल कह दिया करते थे; क्योंकि वे सामुद्रिक विद्या अच्छी तरह जानते थे। अतएव वे 'सामुद्रिकाचार्य' नाम से विख्यात हुए †। उनके क्रम से राजेन्द्र, राघवेन्द्र तथा महेन्द्र नाम के तीन पुत्र हुए, जो पितृ-भक्ति-परायण थे ‡। उनमें मध्यम पुत्र राघवेन्द्र अपने गुणों से सर्वश्रेष्ठ हुए और वे अपने सोलहवें वर्ष में ही संपूर्ण विद्याओं में पारंगत हुए। अतएव उन्हें 'भट्टाचार्य-शतावधान' की पदवी प्राप्त हुई +। प्रसिद्ध पंडित श्रीयुत भवानन्द सिद्धान्तवागीश से इन्होंने अध्ययन किया। और ये समस्त शास्त्रों के अद्वितीय विद्वान् होते हुए भी कविता करने में तथा वाद-विवाद (शास्त्रार्थ) करने में अत्यन्त निपुण हुए ÷। इनमें एक यह अद्भुत शक्ति थी कि चाहे किसी

---

* ब्राह्मण्याचारधाराचरणरसवशो हंसरूपोऽस्य वंशे
काशीनाथाभिधानः समजनि विनतो गोषु च ब्राह्मणेषु।
येनानीय प्रयत्नाद् द्विजचरणरजो मूर्ध्नि विन्यस्तमात्रं
पुत्रादेरत्र सिद्धौषधमिव सहसाऽनेकरोगाञ्जहार॥

† सामुद्रके सोऽथ समुद्रकल्पः सामुद्रकाचार्य इति प्रसिद्धिम्।
लेभे नृणामाकृतिदर्शनेन फलं वदन् भूतभविष्यदादि॥

‡ अथ तस्य त्रयः पुत्रा जाताः पितृपरायणाः।
राजेन्द्रो राघवेन्द्रश्च महेन्द्रश्चेति ते क्रमात्॥

+ तेषामेव गुणोत्तरः समजनि श्रीराघवेन्द्रः कृती
बाल्ये यं समुदीक्ष्य लक्षणयुतं तातोऽनुरक्तोऽभवत्।
लेभे षोडशवार्षिकः कृतिमतामानन्दवृन्दाङ्कुरो
भट्टाचार्यशतावधानपदवीं यस्तीर्णविद्यार्णवः॥

÷ यस्येऽधीत्य समस्तशास्त्रमभितः सिद्धान्तवागीशतो
वागीशप्रतिमो बभूव विजयी वादेषु विद्यावताम्।
यस्यामात्य सरस्वती रससुधाधारैकधारा गिरो
मूर्धान्दोलनशालिनो हि कवयो गायन्ति नित्यं यशः॥

कविओं की किसी कविता से कोई अक्षर उलटा पुलटा लेकर शीघ्र ही स्वयं उस पर शतक का शतक निर्माण कर डालते थे †। इसी प्रकार इतर कवियों के पदों अथवा पादों को समस्या रूप से स्वीकृत कर कुछ मन में सोचकर उनकी पूर्ति भी शतक रूप से कर दिया करते थे। अतएव ये विद्वत्समाज में आदर पाते हुए अपनी अद्भुत शक्ति से 'शतावधान' नाम से प्रसिद्ध हुए ‡। इन्होंने वैदिक क्रिया-कलाप के संबंध में 'मन्त्रार्थ दीप' + नामक एक ग्रन्थ तथा दूसरा कालनिर्णय पर 'राम प्रकाश' ÷ नामक ग्रन्थ लिखा।

ग्रन्थकार

ये ग्रंथकार महोदय उन्हीं महापुरुष राघवेंद्र भट्टाचार्य के पुत्र थे ×। इनका वास्तविक नाम रामदेव या वामदेव था =। परंतु इनके बड़े

---

* एकैकमेकैककविप्रयुक्तं श्लोकस्थितं वर्णमपव्ययवस्थम्।
आकर्ण्य तत्सङ्ख्यमथ प्रयुंक्ते स्वयंकृतश्लोकशतं च वर्णम्॥

† रीत्याऽनया श्लोकशतं कवीना शतस्य निर्वक्त्यवधार्य चित्वा॥
समस्यया पूर्तिमतीमथैना स्वयङ्कृतश्लोकशतीं तथैव॥

‡ अतोऽभिधानेन शतावधानो बभूव लोके विदितप्रभावः।
अनन्यसाधारणशक्तिशाली इत्थं सदा संसदि माननीयः॥

\+ श्रुत्यर्थसार्थानवबोधहेतोर्गाढान्धकारे पततां चिराय।
मन्त्रार्थहेतोर्विविधक्रियार्थे मंत्रार्थदीपं कृतवान् कृती यः॥

÷ नानाव्यवस्थाश्रमवन्तमन्तर्विद्वद्विचारोच्छ्लदुत्तमागम्।
यः कालतत्त्वार्णवमुत्तरीतुं रामप्रकाशं निरबंध सेतुम्॥

× तस्मादहं समुत्पन्नो महापुरुषतः पुमान्।
धामैकनिधिनः सूर्यात्किरणैककणो यथा॥
द्वैताद्वैतमतादिनिर्णयविधिप्रोद्बुद्धबुद्धिश्रुतो
भट्टाचार्यशतावधान इति यो गौडोद्भवोऽभूत्कविः।
ग्रंथे वाग्यविलाससंज्ञिनि चिरञ्जीवेन तज्जन्मना-
ऽलङ्कारैरियमादिनो हृदि सता सद्भाव भक्तिः कृता॥

= विचार्य तारकं चक्रं पिता मे करुणाकरः।
मन्नाम वामदेवेति कृतवान्नामकर्मणि।

चाचा का प्यार से रखा हुआ "चिरञ्जीव"* नाम ही अधिक प्रसिद्ध हुआ। इन्होंने प्रायः अपने पिता से ही पढ़ा † और उस समय ये प्रायः काशी में ही रहते थे; क्योंकि उन्हीं के इस लेख से कि—'पिताजी का काशी में देहान्त होने पर उन्हीं की कृपा से मैं पढ़े और नहीं पढ़े हुए सभी शास्त्र विचारपूर्वक पढ़ाता हूँ' यह पता चलता है। इन्होंने संभवतः रघुदेव न्यायालङ्कार से काव्यालंकार विषयक ग्रन्थ पढ़े; क्योंकि काव्यविलास की प्रथम भङ्गि में दिए हुए गुरु विषयक रतिभाव के 'इमौ भट्टाचार्य' ‡ इस श्लोक से ऐसा ही प्रतीत होता है। इन्होंने न्यायादि शास्त्रों + में और साहित्य में भी उन उन शास्त्रों के विद्वानों के संतोषार्थ अनेक ग्रन्थों का निर्माण किया। इनमें साहित्य विषयक ग्रन्थों का तो कुछ कुछ पता लगता है; परंतु न्यायादि शास्त्रों के ग्रंथों का कुछ भी पता नहीं चलता। श्रीमान् सतीशचन्द्र विद्याभूषण ने इनकी गणना नैयायिकों में की है; परंतु उन्हें भी इनके न्यायविषयक ग्रन्थों का पता नहीं लगा ÷। इनकी जीवनी के संबंध में विशेष उल्लेखनीय बातों का कुछ भी ठीक ठीक पता अभी तक नहीं लगा। बंगाल प्रान्त के अधिकारी शुजाउद्दौला के ढाका के नायब दीवान यशवन्तसिंह की प्रशंसा में इनकी बहुत सी कविताएँ काव्य-

---

* नाम्नैव सम्बोध्य जनः कथाया यदेतमाकारयिता तदाशी।
तातानुजो मामतिवत्सल वाञ्चिरं चिरञ्जीवतया जुहाव ॥

† सोऽहं पुरा समधिगत्य पितुः प्रसादं भक्तोकृता गतवतः शिवराजधान्याम्।
यस्मादधीतमनधीतमथापि शास्त्रमध्यापयामि निखिलं निपुणं विचार्य ॥

‡ इमौ भट्टाचार्यप्रवररघुदेवस्य चरणौ
शरण्यौ विद्यान्धेर्निरवधि विधाय स्थितवतः।
किमन्यैर्वाग्देवीप्रमुखमखभाजां प्रभजनैः
परिस्फूर्ये वाचामभृतलहरीनिर्भरजुषाम् ॥

+ न्यायादिशास्त्रेषु मया कृता ये काव्येषु ये वा रुचिराः प्रबन्धाः।
भवन्ति विद्वत्सु च येषु येषु ये ये सुधास्वादपि पेपरान्ते ॥

÷ देखिए—सतीशचन्द्र विद्याभूषण की History of Indian Logic पृ० ४८१.

विलास में मिलती हैं *। इसके सिवा वृत्तरत्नावली के सभी उदाहरण उन्हीं की प्रशंसा में हैं; और यह ग्रन्थ भी उन्हीं यशवन्तसिंह को समर्पित है। इससे यह अनुमान होता है कि इनका उनसे अवश्य ही कोई न कोई संबंध होगा। ये अपने पिता को शिव स्वरूप मानते थे†।

समय

चिरञ्जीव भट्टाचार्य का समय निर्णय करना केवल अनुमान ही पर निर्भर है; क्योंकि समय का उल्लेख इन्होंने कहीं नहीं किया है। यद्यपि इनके जन्म तथा मृत्यु का ठीक ठीक समय निर्धारित नहीं हो सकता, तथापि इतर कई आधारों से इनके अस्तित्व काल का पता कुछ न कुछ निकल ही आता है। इनके पिता राघवेन्द्र मुगल सम्राट् जहाँगीर तथा शाहजहाँ के प्रीतिपात्र कृपाराम के समकालिक थे। अतएव यह कहा जा सकता है कि राघवेन्द्र १७ वीं शताब्दी के मध्य में थे। और ये तत्त्वचिन्तामणिदीधिति प्रकाशिका अर्थात् भवानन्दी प्रभृति ग्रन्थों के रचयिता भवानन्द सिद्धान्तवागीश के शिष्य थे। सिद्धान्तवागीशजी का समय करीब करीब १६२५ ईसवी है। इस प्रमाण से भी १७ वीं शताब्दी सिद्ध होती है। अर्थात् १७ वीं शताब्दी के मध्य भाग से आगे हमारे ग्रन्थकार का समय आता है। ग्रन्थकार रघुदेव भट्टाचार्य के शिष्य थे। संभवतः ये रघुदेव भट्टाचार्य हरिराम तर्कवागीश के शिष्य तथा तत्त्वचिन्तामणिगूढार्थ दीपिका, नवीननिर्माण प्रभृति ग्रन्थों के रचयिता रघुदेव न्यायालङ्कार ही हैं। यशोविजयगणि ने अपने अष्टसाहस्री-विवरण में रघुदेव का उल्लेख किया है। इससे यह अनुमान होता है कि रघुदेव उनसे पूर्व समय के हैं। यशोविजयगणि का देहावसान १६८८ ईसवी में हुआ। अतएव यह भी प्रमाणित हुआ कि रघुदेव १७ वीं

---

* गौडश्रीयशवन्तसिंहनृपतेः पश्याद्य दानोत्सवे इत्यादि।

† जाने कदाचिदपि नैव शिवस्वरूपात्तातात्परं परमदैवतमन्यदत्र। इत्यादि।

शताब्दी के मध्य तक वर्तमान थे। तब इनके शिष्य का अस्तित्व तदुपरान्त होना स्वाभाविक ही है। चिरञ्जीव भट्टाचार्य ने छन्द शास्त्र पर वृत्तरत्नावली नामक एक ग्रन्थ निर्माण किया था। इसमें बंगाल के शासक शुजाउद्दौला के अधीनस्थ ढाका के नायब दीवान यशवंतसिंह के गुणवर्णनात्मक अनेक पद्य हैं, जो करीब करीब शक स० १६५२ अर्थात् सन् १७३१ ईसवी में शासन करता था*। ग्रन्थकार चिरञ्जीव ने काव्यविलास ग्रन्थ सन् १७०३ ईसवी में बनाया †। काव्यविलास में इन्होंने अपने बनाए हुए अनेक ग्रन्थों की कविताएँ उदाहरण में दी हैं। इससे यह ज्ञात होता है कि सन् १७०३ ईसवी के पूर्व ही वे ग्रन्थ बनाए गए थे। साराश यह कि इनका समय उपरिनिर्दिष्ट अनेक प्रमाणों से इस तरह अनुमित होता है कि ये सत्रहवीं शताब्दी के अनन्तर से अट्ठारहवीं शताब्दी के मध्य भाग तक के समय में थे।

ग्रन्थ

चिरञ्जीव भट्टाचार्य के बनाए हुए ग्रन्थों का जो कुछ पता लगा है, उससे केवल सात ही ग्रन्थ इस समय तक विदित हुए हैं। यहाँ उनका क्रमशः कुछ विचार किया जाता है।

(१) काव्यविलास—यह अलंकार ग्रन्थ है। इसमें भङ्गि नाम से दो भाग किए हैं। पहले भाग में काव्य स्वरूप का विचार और तत्पोषक रूप से रस का अवान्तर भेद सहित निरूपण थोड़े में अच्छी तरह से किया है। नौ रसों के अतिरिक्त माया नामक दशम रस को उपस्थित कर उसका खण्डन भी कर डाला है। द्वितीय भाग में

---

* देखिए हरप्रसाद शास्त्री की Notices of Sanskrit Mss Vol III नं २८०।

† डा० दे महाशय की History of Hindu Poetics Vol II पृ० २८४ और सतीशचन्द्र विद्याभूषण की History of Indian Logic पृ० ४८३.

अलङ्कारों का लक्षण उदाहरण सहित मथन किया है। शब्द और अर्थ इन भेदों से उसमें दो प्रकार मानकर ८९ अर्थालंकार और ४ मुख्य शब्दालंकार दिए हैं। उदाहरण के सब श्लोक प्रायः सर्वत्र स्वनिर्मित ग्रन्थों से ही दिए हैं। यह पण्डितराज जगन्नाथ के रसगंगाधर का ही अनुकरण मालुम पड़ता है। साथ ही शायद इसी बहाने से अपने ग्रन्थों का उल्लेख एक ग्रंथ में करना भी मानसिक भाव हो। कविता प्रायः मधुर, प्रौढ़ तथा हृदयग्राहिणी है। यह ग्रंथ काशीस्थ राजकीय सरस्वती भवन पुस्तकालय की ग्रन्थमाला में हाल में ही प्रकाशित हुआ है।

(२) विद्वन्मोदतरंगिणी—यह चंपू के ढंग का ग्रंथ होते हुए भी प्रवेश इत्यादि के कारण कुछ नाटक की भी झलक दिखाता है। इसमें सरल भाषा में शास्त्रीय विषयों का ही प्रतिपादन किया है। यह ग्रंथ आठ तरंगों में विभक्त है। पहली तरङ्ग में अपने वंश का परिचय, ग्रंथ का उद्देश्य तथा विद्वानों से उसे अपनाने के लिये प्रार्थना है। द्वितीय तरङ्ग में राजदरबार दिखाकर राजा के संमुख विद्वानों का क्रमशः प्रवेश, एक व्यक्ति द्वारा उनका परिचय तथा राजा को अपने अपने सिद्धान्तानुसार विद्वानों का आशीर्वाद देना वर्णित है। अन्त में नास्तिक का प्रवेश, लोगों द्वारा उसकी हँसी, उसका रुष्ट होकर पशु हिंसा पर आक्षेप करना, मीमांसक के साथ शास्त्रार्थ, मीमांसक का पराजित होना, फिर वेदांती से वादविवाद, उसकी युक्तियों से वेदान्ती का चुप होना और सभी का नैयायिक के मुख की ओर देखना ही इस तरङ्ग में है। तृतीय तरङ्ग में नैयायिक और नास्तिक का घोर शास्त्रार्थ होना तथा नास्तिक का पराजय पाना लिखा है। चतुर्थ तरङ्ग में राजा की आज्ञा से नैयायिक स्व-सिद्धांतों को अच्छी तरह बतलाता है। पञ्चम तरङ्ग में राजा की आज्ञा से मीमांसक का स्वमत प्रतिपादन करना, बीच में ही नैयायिक की युक्तियों से उसका पराजित

होना, अनन्तर वेदांती का मुकाबला करना और उससे हारना वर्णित है। षष्ठ तरङ्ग में राजाज्ञा से सांख्य के विद्वान् का स्वमत प्रतिपादन करना, नैयायिक का तर्क उठाकर उसको चुप करा देना दिया हुआ है। सप्तम तरङ्ग में योगशास्त्र का पंडित राना की आज्ञा पाकर प्रक्रिया को कहते हुए स्पष्ट रूप से योग सिद्धान्त सुनाता है। अष्टम तरङ्ग में योगलक्ष्य शिव का नाम सुनकर वैष्णव योगी से शास्त्रार्थ के लिये उद्यत होता है; परंतु बीच ही में शैव उसका उत्तर देता है। इस पर रामोपासक, कृष्णोपासक तथा राधिकोपासक अपनी अपनी खिचड़ी पकाते हैं; किंतु वैष्णव समझाता है। बाद को वैष्णव और शैव के वाद से सभा व्यग्र होती है। इतने में सर्व शास्त्रज्ञ एक बड़े विद्वान् आते हैं और प्रकृत समझकर राजा की प्रार्थना से सब के सामने हरिहराद्वैत का सिद्धान्त स्थापित कर कोलाहल को शांत करते हुए समस्त सभा को संतुष्ट करते हैं और सभी के आदर के पात्र होते हैं। यहीं पर ग्रन्थ भी समाप्त होता है। यह ग्रन्थ पं० जीवानन्द विद्यासागर द्वारा कलकत्ते में तथा वेंकटेश्वर प्रेस बंबई में छप चुका है।

(३) माधव चंपू—यह चंपू ग्रंथ है। इसका कथानक तथा कवि की लेखशैली उत्तम है। काव्यविलास में कई बार इसका उल्लेख आया है। इसे पं० जीवानन्द विद्यासागर ने कलकत्ते में छपवाया था।

(४) वृत्तरत्नावली—यह छन्दःशास्त्र का ग्रन्थ है। इसमें कवि ने लक्षण देकर उदाहरण में यशवंतसिंह की प्रशंसापूर्ण कविताएँ रचकर दी हैं। वृत्त सौ से ऊपर हैं। दोहे, कवित्त वगैरह के भी लक्षण और उदाहरण दिए हैं, यह इसमें विशेषता है। यह अभी तक छपा नहीं है। इसकी लिखित प्रतियों का उल्लेख अनेक सूचीपत्रों में पाया जाता है। सरस्वती भवन पुस्तकालय में भी इसकी कई प्रतियाँ हैं।

(५) शृङ्गार तटिनी—यह काव्य-ग्रन्थ है। काव्यविलास में आई हुई कविताओं से भी इसकी कविता उत्तम है, ऐसा मालूम होता है।

इसकी एक हस्तलिखित प्रति भाण्डारकर ओरिएंटल रिसर्च इन्स्टिच्यूट पूना में है; और उसका उल्लेख वहाँ के सूचीपत्र में है।

(६) कल्पलता तथा (७) शिवस्तोत्र इन दो ग्रन्थों का उल्लेख काव्य विलास में आया है। कल्पलता काव्य है, और शिवस्तोत्र एक स्तोत्र ग्रन्थ है।

उपसंहार

इनके संबंध में जितनी बातें मालूम हुईं, उनका वर्णन इस छोटे से लेख में किया गया। इतिहास प्रेमी पाठक इस समय इतने ही से संतोष करेंगे। यदि कदाचित् कालान्तर में कुछ और बातें मालूम होंगी, तो उनका विचार फिर कभी किया जायगा।

आशाधर भट्ट

[लेखक—पंडित बलदेव उपाध्याय एम० ए०, काशी ।]

संस्कृत साहित्य के किसी प्राचीन कवि या लेखक का ऐतिहासिक विवरण देने में अनेक कठिनाइयों का सामना करना पड़ता है। ऐसी अनेक समस्याएँ आकर उपस्थित हो जाती हैं जिनके सुलझाए बिना सच्चा विवरण मिलना अत्यन्त कठिन हो जाता है। कारण यह है कि प्राचीन गण्यमान्य लेखकों ने अपने जीवन चरित के विषय में अधिकतर मौन व्रत का ही अवलम्बन करना उचित समझा है। कभी कभी ग्रंथ के आरम्भ या अन्त में वे अपने आश्रयदाता के नाम, वंश तथा गुणों का संकेत मात्र कर देते हैं, अथवा कभी कभी अपने पिता या गुरु का नामोल्लेख कर दिया करते हैं। तथापि उनके जीवन की अधिकांश घटनाएँ—प्रधानतः उनका आविर्भाव-काल—ऐसे दुरूह अज्ञानान्धकार में छिपा रहता है कि नवीन आविष्कार के सतत प्रयत्न करने पर भी वह गाढ़ तम पूर्णतया तिरोहित नहीं होता। हाँ, उसका कोई अंश भले ही दूर हो जाय, फिर भी जैसा चाहिए, वैसे सच्चे इतिहास की उपलब्धि नहीं होती। समय निरूपण करने की यह समस्या उस समय और भी जटिल बन जाती है, जब उसी नाम के अन्य भी कई लेखकों के ग्रन्थों की प्राप्ति होने लगती है। एक नाम धारण करनेवाले लेखकों में पार्थक्य है या नहीं, यह बतलाना—खास कर जब उनमें से बहुतों के ग्रन्थ प्रकाशित होकर सर्व साधारण के सामने नहीं आए हैं—बहुत ही कष्टसाध्य—कभी कभी तो बिल्कुल असम्भव भी—हो जाता है।

दो आशाधर—उनकी एकता मानने में भ्रान्ति

हमें इन कठिनाइयों का सामना इस लेख के चरितनायक आशाधर भट्ट का जीवन चरित लिखते समय अधिक मात्रा में करना पड़ा है। संस्कृत अलङ्कार-साहित्य में आशाधर नामवाले दो व्यक्तियों का पता लगता है। इनमें से प्रथम आशाधर का पता डाक्टर पीटरसन (Dr. Peterson) ने १८८३ ईसवी में लगाया था; और दूसरे आशाधर के ग्रन्थ का पता डाक्टर बूलर (Dr. Bubler) के अनुग्रह से १८७१ ईसवी में लगा। इस नाम-सादृश्य के कारण अनेक लेखकों को इनके पार्थक्य के विषय में सन्देह उत्पन्न हो गया है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने दोनों आशाधरों का साथ ही साथ उल्लेख किया है अवश्य, परन्तु फिर भी उनके एक व्यक्ति मानने में उन्होंने सन्देह प्रकट किया है। आश्चर्य तो यह है कि औफ्रेक्ट के बहुत वर्षों के अनन्तर जब संस्कृत साहित्य के विषय में अनेक प्रामाणिक सिद्धान्तों की उद्भावना हो गई है तथा अनेक नवीन आविष्कार हो चुके हैं, डाक्टर हरिचन्द शास्त्री ने भी इन दोनों लेखकों की एकता स्वीकृत की है। यदि इन दोनों लेखकों के चरित तथा ग्रन्थों का कुछ भी अध्ययन किया जाय, तो स्पष्ट प्रतीत होगा कि नाम-सादृश्य के अतिरिक्त इनको एक व्यक्ति मानने का और कोई यथार्थ प्रमाण या कारण नहीं है।

प्राचीन आशाधर का संक्षिप्त परिचय

प्राचीन आशाधर जैन थे। व्याघ्रेरवाल वंश में इनका जन्म हुआ था। इनके पिता का नाम सल्लक्षण था। अजमेर प्रदेश में इनका जन्म हुआ। अनन्तर किसी कारण से ये मालवा की प्रधान नगरी धारा में आकर रहने लग गए थे। इन्होंने बहुत से ग्रन्थ बनाए थे। इनके 'त्रिषष्टि स्मृति चन्द्रिका' नामक ग्रन्थ के बनने का समय ईसवी सन् १२३६ दिया

हुआ है, जिससे इनका तेरहवीं सदी में होना सिद्ध होता है। अनेक जैन ग्रंथों के अतिरिक्त इस आशाधर ने 'रुद्रट' के 'काव्यालङ्कार' पर एक टीका का भी निर्माण किया है। यह तो हुई प्राचीन आशाधर के समय की चर्चा। परन्तु वे आशाधर भट्ट जिनके चरित तथा ग्रंथों का संक्षिप्त विवरण इस लेख का मुख्य उद्देश्य है, जैन आशाधर से बहुत पीछे के हैं—लगभग चार सौ वर्ष पीछे के हैं। इसका यथेष्ट प्रमाण आगे चलकर दिया जायगा।

जीवन-चरित

ऊपर कहा जा चुका है कि आशाधर भट्ट के वंश, देश, समय आदि ऐतिहासिक विवरण के उपयुक्त बातों का पता अभी तक नहीं चला है। इनके ग्रन्थ में सौभाग्यवश इनके पिता तथा गुरु के नाम उल्लिखित हैं *। इनके पिता का नाम 'रामजी भट्ट' तथा गुरु का 'धरणीधर' था। इन्होंने अपने पिता को 'पद वाक्य प्रमाण पारावारीण' लिखा है, जिससे प्रतीत होता है कि रामजी भट्ट व्याकरण, न्याय तथा मीमांसा के उत्कृष्ट पण्डित थे। आशाधर ने यद्यपि अपने को 'कवि' कहा है, तथापि व्याकरणादि इतर शास्त्रों में इनकी व्युत्पत्ति खूब अच्छी थी। त्रिवेणिका में वैयाकरणों तथा तार्किकों के शब्द-शक्ति विषयक मत का उल्लेख बड़ी खूबी से संक्षेप में दिया गया है। संभवतः इन विषयों का अध्ययन इन्होंने अपने पिता से किया था तथा अलङ्कारादि विषयों का अपने गुरु धरणीधर से। अनुमान है कि ये गुजरात प्रान्त के निवासी

---

* शिवयोस्तनयं नत्वा गुरुं च धरणीधरम्।
आशाधरेण कविना रामजी भट्टसूनुना।

—अलंकारदीपिका; पृ० १.

धरणीं धरणादाम्नमारामादिरसूने. ।
आशाधरस्य वाणीय तनोतु विदुषां मुदम्।

—अलंकारदीपि, पृ० ६४.

'सिद्ध साधन' से लाभ ही क्या होता? अतः कहना पड़ता है कि नागोजी के मत का आशाधर को कुछ भी पता नहीं था। नागेश का समय १७ वीं सदी का अन्त तथा १८ वीं का आरम्भ माना गया है। अतः हम कह सकते हैं कि कोण्ड भट्ट और नागोजी भट्ट के समय के बीच में आशाधर उत्पन्न हुए थे; अर्थात् आशाधर का समय अनुमानतः १७ वीं सदी का उत्तरार्द्ध सिद्ध होता है।

आशाधर के ग्रंथ

पूर्वोक्त समय-निरूपण के अनन्तर इनके ग्रन्थों का संक्षिप्त विवरण दिया जाता है। इनके निम्नलिखित प्रकाशित या अप्रकाशित ग्रंथों का उल्लेख पाया जाता है—

(१) कोविदानन्द
(२) त्रिवेणिका
(३) अलङ्कारदीपिका
(४) अद्वैतविवेक
(५) प्रमापटल

(१) कोविदानन्द

इस ग्रन्थ का उल्लेख 'त्रिवेणिका' में अनेक स्थलो पर आया है, जिससे ज्ञात होता है कि कोविदानन्द में 'वृत्ति' का विवेचन बड़े विस्तार के साथ किया गया था। त्रिवेणिका के पहले ही श्लोक के 'पुनः' *शब्द से जान पड़ता है कि कोविदानन्द में वृत्तियों का ही विशिष्ट वर्णन था, जिसका एक प्रकार का सारांश 'त्रिवेणिका' में उपस्थित किया गया है। इस अनुमान की पुष्टि भी यथेष्ट रीति से हो सकती है। डाक्टर भांडारकर ने 'कोविन्दानन्द' नामक एक हस्तलिखित ग्रंथ

---

* प्रणम्य पार्वतीपुत्रं कोविदानन्दकारिणा।
आशाधरेण क्रियते पुनर्वृत्तिविवेचना॥

का नामोल्लेख किया है ❀। उसके नीचे लिखे श्लोक से उपर्युक्त अनुमान की सर्वथा पुष्टि होती है—

प्राचां वाचा विचारेण शब्दव्यापारनिर्णयम् ।
करोमि कोविदानन्दलक्ष्यलक्षणसंयुतम् ॥

भाण्डारकर ने यह भी पता दिया है कि ग्रन्थकार की लिखी हुई 'कादम्बिनी' नाम की एक टीका भी इस पर है। यदि यह सटीक ग्रन्थ प्रकाशित हो जाय, तो सम्भवतः 'शब्दवृत्ति' विषयक ग्रन्थों में अत्युत्तम होगा† ।

(२) त्रिवेणिका

त्रिवेणिका या शब्द त्रिवेणिका आशाधर की महत्त्वपूर्ण रचना है, जिसका उद्धार प्रिय बन्धुवर प्रोफेसर प० बटुकनाथ शर्मा तथा प० जगन्नाथ शास्त्री होशिंग ने अभी हाल में ही किया है। यह पुस्तक हाल में ही सरस्वती भवन से प्रकाशित होनेवाली Saraswati Bhavan Texts नामक संस्कृत ग्रन्थमाला में प्रकाशित की गई है। प० बटुकनाथजी ने इस ग्रन्थ में एक अत्युत्तम महत्त्वपूर्ण प्रस्तावना भी जोड़ने की दया की है, जिसके कारण इस ग्रन्थ का महत्त्व और भी बढ़ गया है। डाक्टर औफ्रेक्ट ने इसे व्याकरण ग्रन्थ लिखा था, जिससे भ्रम में पड़कर अलङ्कार शास्त्र के इतिहास लिखनेवाले डाक्टर दे (Dr. S K De) तथा श्रीयुत काणे (P. V. Kane) ने इस ग्रन्थ का उल्लेख तक नहीं किया है। परन्तु है यह अलङ्कार-ग्रन्थ, जैसा कि इसके विषय विवरण से स्पष्ट प्रतीत हो जायगा।

इस ग्रन्थ का नाम-करण भी बहुत ही उपयुक्त हुआ है। इसमें शब्द की अभिधा, लक्षणा तथा व्यञ्जना नामक तीनों वृत्तियों का समु-

---

❀ List of Sanskrit Mss Part I 1893 Bombay p 69,

† See Introduction to Trivenika by Batuk Nath Sarma p 17

थे, क्योंकि इनके ग्रन्थों की उपलब्धि अधिकतर इसी प्रान्त में हुई है। 'भट्ट' उपनाम से इनके ब्राह्मण होने की बात स्पष्ट प्रमाणित होती है।

समय

दुर्भाग्यवश आशाधर ने अपने किसी ग्रन्थ में रचना-काल का उल्लेख नहीं किया है। अत इनके समय का निरूपण करने में केवल भीतरी साधनों पर ही सर्वथा अवलम्बित होना पडता है *। आशाधर ने अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' नामक प्रसिद्ध अलकार ग्रथ पर 'अलङ्कारदीपिका' नामक टीका लिखी है। इससे इनका अप्पय दीक्षित के अनन्तर होना प्रमाण-सिद्ध है। सस्कृत साहित्य के प्रेमी पाठक जानते होंगे कि दीक्षित जी दर्शन के प्रचण्ड व्याख्याता थे, तथा इनका समय १६ वीं सदी का उत्तरार्द्ध तथा १७ वीं का आरम्भ माना जाता है। 'त्रिवेणिका' म भट्टोजी दीक्षित का उल्लेख है। सिद्धान्त कौमुदी, मनोरमा आदि व्याकरण ग्रथों के रचयिता भट्टोजी दीक्षित का भी समय १६ वीं सदी का अन्त तथा १७ वीं का प्रारम्भ माना जाता है। सम्भवत आशाधर भट्टोजी दीक्षित के भतीजे कोण्ड भट्ट से भी परिचित थे, क्योंकि 'त्रिवेणिका' में वैयाकरणों के शब्द शक्ति विषयक जिस मत का उल्लेख पाया जाता है, वह कोण्ड भट्ट रचित 'वैयाकरण भूषण' के तद्विषयक मन्तव्य से पूरी तौर से मेल खाता है। कोण्ड भट्ट का काल १७ वीं सदी का मध्य भाग माना जाता है। इन प्रमाणों से सिद्ध हो गया होगा कि आशाधर का समय १७ वीं सदी के पहले कदापि नहीं हो सकता।

---

* अब तक आशाधर का समय निश्चित करने का प्रयत्न बहुत कम पाया जाता है। बटुकर प० बटुकनाथ शर्मा ने इसका विवेचन त्रिवेणिका की भूमिका में उचित रीति से किया है। इस अश के लिये उनके ही तर्कों का उपयोग किया गया है। इसके लिये लेखक उनका बहुत आभार मानता है। जिन्हें आशाधर के विषय में और बातें जानने की इच्छा हो, वे उनका Introduction देखने का कष्ट उठावें।

यह तो हुई ऊपरी सीमा। अब इनके समय की निम्नतम सीमा के विषय में कुछ विचार करना चाहिए। इनके कोविदानन्द नामक ग्रंथ की हस्तलिखित प्रति का काल शक सं० १७८३ (१८६१ ई०) दिया हुआ है। इनकी 'अलङ्कारदीपिका' की प्रति का समय १७७५ शक (१८५३ ई०) लिखा हुआ है, जिससे १९ वीं सदी में इनका प्रसिद्ध होना साफ तौर से जान पड़ता है। किसी लेखक के ग्रन्थों के लोकप्रिय तथा प्रसिद्ध होने में एक शताब्दी या इससे कुछ अधिक समय अनुमान से माना जा सकता है। यदि यही मानें, तो कह सकते हैं कि आशाधर का समय १७ वीं सदी का अन्तिम काल अथवा १८ वीं सदी का आरम्भिक भाग होगा। इस अनुमान के लिये त्रिवेणिका में एक पर्याप्त प्रमाण भी है, जिसका यहाँ उल्लेख करना उचित जान पड़ता है। वैयाकरणों में नागेश भट्ट ने ही स्पष्ट शब्दों में व्यंजना की सत्ता स्वीकार की है*। उनके पहलेवाले वैयाकरण तो उसे अभिधा के दीर्घ व्यापार के अन्तर्गत ही मानते थे। परन्तु नागोजी का कहना है कि निपातों का द्योतकत्व तथा स्फोट का व्यंग्यत्व स्वीकार करनेवाले पतंजलि, भर्तृहरि आदि वैयाकरणों ने भी अस्पष्ट रूप से व्यंजना मानी है। वैयाकरणों के लिये व्यंजना का मानना अत्यावश्यक है—उसके बिना उनका काम चलना कठिन हो जायगा। अतएव नागेश ने स्पष्टतः व्यंजना को वृत्यन्तर माना है। परन्तु आशाधर को इस मत का बिल्कुल पता नहीं। यदि ऐसा होता, तो वैयाकरणों के मत का खण्डन करके व्यंजना सिद्ध करने के लिये वे उद्योग ही न करते†। इस

* अतएव निपातानां द्योतकत्वं स्फोटस्य व्यंग्यता च हर्यादिभिरुक्ता।
द्योतकत्वञ्च स्वसमभिव्याहृतपदनिष्ठशक्तिव्यञ्जकत्वमिति।
वैयाकरणानामप्येतत्स्वीकार आवश्यकः।

—परम लघुमञ्जूषा; पृ० २०.

† त्रिवेणिका; पृ० २८—२८.

चित वर्णन दिया हुआ है। इस ग्रंथ तथा प्रसिद्ध त्रिवेणी के साथ केवल संख्या मात्र की ही समानता नहीं है, वलिक यह सादृश्य कई अंशों में और भी सूक्ष्म है। अभिधा गंगा के समान है। जिस प्रकार प्रयाग में प्रधान स्थान भागीरथी को ही दिया जा सकता है, उसी प्रकार शब्द की वृत्तियों मे अभिधा ही प्रधान है। यमुना जिस तरह गंगा के ही आश्रित रहती है, उसी प्रकार लक्षणा भी अपनी स्थिति के लिये अभिधा ही पर अवलम्बित है। सहृदय हृदय-संवेद्य व्यंग्य अर्थों की प्रतिपादिका व्यञ्जना की समानता गुप्त सरस्वती के सिवा और किसके साथ उचित रीति से की जा सकती है? जिस प्रकार इस पवित्र संगम पर सरस्वती है अवश्य, परन्तु साधारणतया दृष्टिगोचर नहीं होती, उसी प्रकार व्यञ्जना भी रसिक मनुष्यों के द्वारा ही जानी जा सकती है। यह तो इस ग्रंथ के नामकरण के विषय मे हुआ। अब इसके विषय की ओर ध्यान दीजिए।

अपने नाम के अनुसार यह ग्रंथ तीन परिच्छेदों मे बाँटा गया है। प्रथम परिच्छेद मे अभिधा का वर्णन बड़ी विशद रीति से किया गया है। सब से पहले ग्रंथकार ने अर्थज्ञान को चारु, चारुतर तथा चारुतम भाग में विभक्त किया है। अभिधा-जन्य अर्थ चारु, लक्षणा से उत्पन्न चारुतर तथा व्यञ्जनागम्य चारुतम बतलाया गया है। शक्ति का लक्षण लिखकर उसे योग, रूढ़ि तथा योगरूढ़ि इन तीनों विभागों में उदाहरण के साथ विभक्त किया है। इसके अनन्तर उन साधनों का वर्णन किया है, जिनके द्वारा शक्ति का ग्रहण हुआ करता है। आशाधर ने शक्ति-ग्राहक साधनो के व्याकरण, कोश, निरुक्त, मुनिवचन, व्यवहार, व्याख्यान, वाक्यशेष, प्रसिद्ध अर्थवाले पद की सन्निधि तथा उपमान-ये नव विभाग किए हैं। प्रसङ्गवश अनेकार्थक शब्दों का एक अर्थ में नियन्त्रण करनेवाले लिङ्ग, प्रकरण, फल आदि प्रसिद्ध साधनों का भी उल्लेख उचित रीति से किया गया है। उनके छोटे छोटे उदाहरण भी

इतनी कुशलता से समझाए गए हैं कि साधारण बालक भी भली भाँति समझ जाय।

दूसरे परिच्छेद में लक्षणा का विस्तृत विवेचन उपस्थित किया गया है। प्रथमतः लक्षणा का लक्षण किया गया है। इसके अनन्तर समस्त भेदों का उल्लेख एक साथ ही कर दिया गया है। जहल्लक्षणा, अजहल्लक्षणा, जहदजहल्लक्षणा—निरूढ़ा, फलवती—गूढ़, अगूढ़, व्यधिकरणविषया, तथा समानाधिकरण-विषया--गौणी, शुद्धा तथा इनके और भी उपभेदों का सोदाहरण विवेचन बहुत ही सन्तोषजनक है। इस परिच्छेद में प्रसिद्ध काव्य ग्रन्थों से भी उदाहरण दिए गए हैं तथा वामन आदि आचार्यों के मत का भी उचित स्थान पर उल्लेख किया गया है। लक्षणा के प्रयोजक सम्बन्धों की सूक्ष्म विवेचना करके ग्रंथकार ने अपनी सूक्ष्म विषयग्राहिणी बुद्धि का अच्छा परिचय दिया है। यह परिच्छेद अन्य दोनों की अपेक्षा अधिक महत्त्वपूर्ण तथा आकार में भी बड़ा है। अन्त में ग्रंथकार ने इन तीनों वृत्तियों के ग्राहक मनुष्यों में भी क्या ही अच्छा भेद प्रदर्शन कराया है—

शक्तिं भजन्ति सरला लक्षणां चतुरा जनाः।
व्यञ्जनां नर्ममर्मज्ञाः कवयः कमना जनाः।

अन्तिम प्रकरण में व्यंजना का विषय है। व्यंजना के लक्षण के अनन्तर उसके शक्तिमूलक तथा लक्षणामूलक भेदों का विवेचन उदाहरण के साथ उपयुक्त रीति से किया गया है। नैयायिकों ने अनुमान के अन्तर्गत व्यंजना मानने का जो प्रयास किया है, उसकी किंचित् सूचना देकर आशाधर ने इस मत का जो आलंकारिकों की शैली से खण्डन किया है। इसी प्रकार वैयाकरणों के शक्ति के अन्तर्गत व्यंजना मानने के सिद्धान्त का भी खण्डन किया गया है। बस इस प्रकरण का यही सार है। व्यंजना-प्रकरण जितने अच्छे ढंग से होना चाहिए, न तो उतने अच्छे ढंग से दिया गया है, न व्यंजना-स्थापन या व्यंजना के भेद प्रभेदों का ही विशेष

हाल है। सचमुच इस प्रकरण से निराश होना पडता है। सत्र के अन्त में आशाधर ने 'प्रभापटल' से दो पद्य उद्धृत किए हैं, जो उनकी काव्य कला के अच्छे निदर्शन माने जा सकते हैं। वे पद्य नीचे दिए जाते हैं—

यदिह निजतामच्युत्परया पतेद्धु दूषण
निपुणधिपणैरुग्भिरत्वा तत् कृतिर्मम सेव्यताम्।
सरसविमले वावत्क्षिप्त निवार्य तु शैवल
सलिलममृतप्राय प्राय पिबन्ति पिपासव ॥१॥
यदि मम सरस्वत्या कश्चित्कथश्चन दूषण
प्रलपति, तदा प्रौढप्रज्ञै स किं कविभि मम ?।
रघुपतिकुटुम्बिन्या सयामवचमुदाहरन्
हतकरजक साम्य लेभे स किं सह राजभि ॥२।

'त्रिवेणिका' का जो साराश दिया गया है, उससे पाठकों को इसके महत्त्व का पता अवश्य लग गया होगा। शब्दवृत्ति विषयक जितने ग्रथ प्रसिद्ध हैं, उन सब में यह ग्रथ उत्तम है। अलङ्कार शास्त्र पढनेवालो के लिये तो यह और भी उपयुक्त है। यदि आरम्भ में यह पढा दिया जाय, तो काव्यप्रकाश आदि कठिन ग्रथों की सूक्ष्म विवेचना बालकों की समझ में सरलता से आने लगेगी।

(३) अलंकार दीपिका

आशाधर भट्ट का यह तीसरा ग्रथ एक प्रकार से त्रिवेणिका की पूर्ति करता है। इस ग्रथ के विषय विवेचन को ठीक रीति से समझने के लिये इसके आधार-ग्रथ कुवलयानद की सक्षिप्त चर्चा करना अप्रासंगिक न होगा। ईसवी तेरहवीं सदी में जयदेव नामक पण्डित ने अलकार शास्त्रविषयक 'चन्द्रालोक' नामक अत्युत्तम ग्रथ की रचना की। इसमें अल्प परिमाण में ही अलकार शास्त्र की ज्ञातव्य बातें एकत्र कर दी गई हैं। अलकारों के लक्षण तथा उदाहरण देते समय

जयदेव ने एक ही पद्य में दोनों का समावेश कर पाठकों के लिये बहुत ही उपकार किया है। १७ वीं सदी में अप्पय दीक्षित ने इसी ग्रन्थ की सहायता से 'कुवलयानन्द' नामक एक लोकप्रिय ग्रंथ की रचना की, जिसमें अर्थालंकारों के लक्षण तथा उदाहरण एक ही श्लोक में समाविष्ट करने के अतिरिक्त प्राचीन काव्य ग्रंथों से तद्विषयक दृष्टांत भी दिए गए हैं। स्थान स्थान पर प्राचीन सिद्धान्तों का खण्डन मण्डन भी उचित रीति से किया गया है। अपने कथनानुसार ही*, अप्पय दीक्षित ने अनेक अर्थालंकारों को चंद्रालोक से हू बहू अपने ग्रंथ में उद्धृत कर लिया है। भाविकसंधि, उदारसार आदि चंद्रालोक के कतिपय अलंकारों को छोड़ दिया है; तथा बहुत से नवीन अलंकारों की उद्भावना कारिका के रूप में कर दी है। इस प्रकार १०० अलंकारों का वर्णन तो ठीक ढंग पर कारिका के रूप मे किया गया है; परंतु अंत में लगभग २४ अलंकारों का नाम निर्देश किया गया है। प्राचीन ग्रंथों से उदाहरण भी पेश किए गए हैं; परंतु उनके लक्षण तथा दृष्टांत कारिकाओं में नहीं दिए गए हैं।

अब आशाधर के ग्रंथ पर दृष्टिपात कीजिए। यह ग्रंथ तीन प्रकरणों में समाप्त हुआ है। पहले प्रकरण में कुवलयानंद मे लिखित कारिकाओं की सरल रीति से व्याख्या की गई है। मूल ग्रंथ के अलंकार विषयक सूक्ष्म विवेचन बालकों के लिये अनुपयोगी समझकर इसमें छोड़ दिए गए हैं—केवल मूल कारिका पर सरल व्याख्या ही दी गई है। आशाधर ने स्वयं ही इस प्रकरण के अंत में इन कारिकाओं को अप्पय दीक्षित विरचित मूल कारिका बतलाया है।

दूसरे प्रकरण का नाम 'उद्दिष्टालंकार प्रकरण' है। कुवलयानन्द के अन्त में रसवत्, प्रेय आदि जिन अलंकारों के केवल नाम ही गिनाए गए

---

* येषां चंद्रालोके दृश्यन्ते लक्ष्यलक्षणश्लोकाः ।
प्रायस्त एव तेषामितरेषां त्वभिनवा विरच्यन्ते ।

हैं, उन पर आशाधर ने तदनुरूप ही कारिकाएँ बनाई हैं। इस प्रकरण के अन्त में* उन्होंने इसे स्पष्ट प्रकार से अपनी रचना बतलाया है। इन कारिकाओं में ठीक कुवलयानन्द की शैली पर प्रथमार्द्ध में लक्षण तथा उत्तरार्द्ध में दृष्टांत उपस्थित किए गए हैं। पश्चात् इनकी समुचित व्याख्या भी की गई है।

तीसरा 'परिशेष प्रकरण' कहा गया है। इसमें संसृष्टि तथा संकर अलंकार के पाँच प्रकार के भेद सन्निविष्ट किए गए हैं। दूसरे प्रकरण के समान ही इस प्रकरण की भी समग्र कारिकाएँ आशाधर की खास अपनी रचना हैं †। व्याख्या भी उसी रीति से ऐसी सुगमता से की गई है कि साधारण विद्यार्थी भी यथेष्ट लाभ उठा सकता है।

आशाधर ने ग्रंथ का नाम 'कुवलयानन्दकारिका' तथा अपनी टीका का नाम 'अलंकारदीपिका' रखा है। ऊपर के वर्णन से पाठकों ने इसका संक्षिप्त परिचय अवश्य पा लिया होगा। इसमें जितने अलंकार माने गए हैं, उतने सम्भवतः किसी अन्य अलंकार ग्रंथ में नहीं हैं। अलंकारों की संख्या लगभग १२५ के है। अलंकार शास्त्र में प्रवेश करने के लिये–विशेषतः अलंकारों के लक्षण सुगमता से याद करने के लिये–यह ग्रंथ अतीव उपयोगी सिद्ध हो सकता है। परन्तु इसका जितना प्रचार अपेक्षित है, दुर्दैववश उतना इस समय नहीं है।

(४) अद्वैत विवेक

त्रिवेणिका के ११ वें पृष्ठ में इसका उल्लेख पाया जाता है। इस ग्रंथ से एक पद्य भी उद्धृत किया गया है। यह ग्रंथ अभी तक नहीं मिला है। इसके नाम से अनुमान किया जा सकता है कि सम्भवतः यह कोई वेदान्त ग्रंथ होगा।

---

* आशाधरभट्टकृतशुद्धिष्टनामकं द्वितीयं प्रकरणं समाप्तम्।

† इति...आशाधरभट्टविरचितं तृतीयं परिशेषप्रकरणं समाप्तम्।

(५) प्रभापटल

'प्रभापटल' का नाम अभी तक किसी को मालूम नहीं था। जहाँ तक जान पड़ता है, सब से पहले श्रीवटुकनाथजी शर्म्मा ने ही अपनी बृहत् भूमिका में इस ग्रंथ का उल्लेख किया है।

इस ग्रंथ से हरिणी छंद में दो पद्य त्रिवेणिका के अन्त में उद्धृत किए गए हैं। ये दोनों श्लोक इसी लेख में पहले दिए जा चुके है।

उपसंहार

आशाधर के समय और जीवन चरित के विषय में जो कुछ अभी तक ज्ञात हुआ है, वह निवेदन कर दिया गया है। इनके ग्रंथों का भी संक्षिप्त परिचय ऊपर दे दिया गया है, जिससे पाठक इनसे स्थूलतः परिचित हो जायँ। स्पष्ट विदित होता है कि अलंकार शास्त्र को सर्व साधारण के लिये सुगम कर देने के ही विचार से प्रेरित होकर इन्होंने अपने अधिकांश ग्रंथों की रचना की है। ग्रंथों की उपादेयता के विषय में सन्देह करने की तनिक भी जगह नहीं है। जिस उद्देश्य को सामने रखकर इन प्रारम्भिक ग्रंथों की रचना की गई है, लेखक की विनीत सम्मति में उसकी पूर्ति उचित मात्रा में हुई है। इस गए गुजरे समय में, जब कि पाठक प्राचीन आलंकारिकों को यथोचित समझने का कष्ट उठाना नहीं चाहते, इन पुस्तकों के पठन पाठन से उचित लाभ उठाया जा सकता है। यदि इस लेख से पाठकों का चित्त इन ग्रंथों के अध्ययन की ओर तनिक भी लगा, तो लेखक अपना परिश्रम सफल समझेगा।

---

(२१) कलचुरि सम्राट्

[लेखक—राय बहादुर बाबू हीरालाल बी० ए०, जबलपुर ।]

काल की गति विचित्र है। बहुत से लोग मन्दिर, घाट, कुएँ, तालाब इत्यादि बनाते हैं ताकि उनका नाम इस पृथ्वी पर स्थिर रहे। परन्तु जिन्होंने देवालय, विद्यालय और विविध प्रकार के अन्य आलय, हर्म्य, प्रासाद इत्यादि बनवाए, जिन्होंने समस्त भारत को अपने अधीन कर महाराजाधिराज की पदवी प्राप्त की, जिन्होंने अपना संवत् स्थापित किया, जो हज़ार बरस तक चलता रहा, उनका नाम उनकी राजधानी के लोग सात आठ सौ वर्ष के बीच ही भूल जायँ, तो क्या अचरज की बात नहीं है? जबलपुर से छः मील पर एक गाँव है जिसे तेवर* कहते हैं। अब यहाँ केवल एक सहस्र जन रहते हैं। यही प्राचीन "पौरंदरी समान त्रिपुरी" है, जहाँ पर कर्ण समान कलचुरि सम्राट् प्रायः हज़ार वर्ष पूर्व राज्य करते थे। तेवर के लोग यह भी नहीं जानते कि कलचुरि कौन थे। भारतवर्ष में अनेक प्रतापी वंश बतलाए गए हैं और उनकी कीर्ति गाई गई है। परन्तु कलचुरियों का इतना विस्मरण कर दिया गया है कि विन्सेंट स्मिथ के भारतवर्षीय प्राचीन इतिहास में भी इनका नाम छोटे मोटे रजवाड़ों में शामिल कर दो चार पृष्ठों में इनका ज़िक्र भर कर दिया गया है। ग्वालियर के भूतपूर्व चीफ़ जस्टिस श्रीयुत चिन्तामणि वैद्य ने अपने

---

*यह लेख आधा त्रिपुरी से छः मील पूर्व जबलपुर में और आधा उतनी ही दूर पश्चिम में, हीरापुर (बंधा) में बैठकर लिखा गया है। आते जाते त्रिपुरी कई बार बीच में पड़ी। लेखक ने इसी विषय पर जबलपुर, नागपुर और अमरावती में व्याख्यान (Nagpur University Extension Lectures) अंग्रेज़ी में दिए जो डाक्टर डी. आर. भाण्डारकर एम. ए. पीएच. डी. अन्यत्र छपने के लिये ले गए हैं।

भारत के माध्यमिक काल के इतिहास* में यहाँ तक लिख डाला है कि इस वंश में कोई बड़े राजा हुए ही नहीं; इसलिये इसका इतिहास पाठकों के लिये रोचक हो ही नहीं सकता। असल बात यह है कि इस वंश के विषय में यथेष्ट खोज ही नहीं की गई; इसलिये उस ओर ध्यान दिलाने के लिये कुछ चर्चा आवश्यक जान पड़ती है।

हरिवंश पुराण में लिखा है कि जिस समय जरासंध ने मथुरा पर आक्रमण करना चाहा, उस समय श्रीकृष्ण को सलाह दी गई कि वे दक्षिण के चार राज्यों में से किसी राज्य को चले जायँ, जिनकी नींव यदु के चार पुत्रों ने डाली थी। यदु ने नाग बालाओं से विवाह किया था। उनसे चार पुत्र उत्पन्न हुए। एक ने माहिष्मती नगरी को बसाया और उसे अपनी राजधानी बनाया, द्वितीय ने सह्याद्रि पर राज्य जमाया; तीसरे ने वनवासी को बसाया, और चौथे ने समुद्र के किनारे रत्नपुर को श्रेय दिया। वैद्य महाशय उपर्युक्त इतिहास † में लिखते हैं कि नाग वंशी मूल निवासी अर्थात् अनार्य थे; इसलिये दक्षिण के क्षत्रियों को आर्य पिता और अनार्य माताओं की सन्तति समझना चाहिए। परन्तु उनका यह भ्रम है, जिसका कुछ ब्योरेवार विवरण विजयानगरम् कालेज की मेगज़ीन में हाल ही में छपा है। मेजर ओल्डाम ने रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में नाग वंशियों पर एक लेख सन् १८९१ ई० में लिखा था। उसमें उन्होंने बतलाया था कि नागवंशी केवल आर्य नहीं थे, वरन् बोल चाल में संस्कृत भाषा का उपयोग करते थे। पंजाब में अब भी उनके वंशज पाए जाते हैं जो असल क्षत्रिय हैं। प्राचीन ग्रन्थों में अनेक उदाहरण मिलते हैं जिनसे स्पष्ट जान पड़ता है कि क्षत्रिय ही नहीं, वरन ऋषि मुनि भी नागवंशियों से विवाह सम्बन्ध करना गौरव की बात समझते थे। जान पड़ता है कि नाग शब्द से काले का

---

* History of Mediæval Hindu India Vol I, P 147.

† Ibid, p 80

बोध होने के कारण नाग वंशियों की उत्पत्ति अनार्यों या द्रविड़ लोगों से मानली गई है। वैद्य महाशय ने अपने उक्त इतिहास के ८२ वें पृष्ठ में Nagavamsa or the Dravidian race लिखकर नाग वंश को द्रविड़ जाति का पर्य्यायवाची बना डाला है। परन्तु आगे चलकर पृ० ९६ में प्रोफेसर देवदत्त भांडारकर के गूजर उत्पत्ति विषयक लेख की टीका करते हुए उन्हीं ने लिखा है—" मि० भांडारकर स्वीकार करते हैं कि सिंद लोग नागवंशी थे। वे उत्तर से चलकर दक्षिण को गए। यह एक विदेशीय वंश था। भांडारकर का खयाल विदेशीय उत्पत्ति पर इतना गहरा जम गया है कि वे अहिच्छत्र से आए हुए ब्राह्मणों को भी विदेशी अर्थात् भारतवर्ष के बाहरी लोग समझते हैं। यदि चाहुमान, पड़िहार, परमार और चालुक्य अहिच्छत्र से आए हुए बतलाए जाते हैं, तो वे भी उन्हें विदेशी जान पड़ते हैं। अहिच्छत्र आर्यों की एक प्रसिद्ध सभ्य बस्ती थी और किसी समय पान्चालों की राजधानी थी। यदि वहाँ के ब्राह्मण और क्षत्रिय अन्यत्र चले जायँ और अपने को अहिच्छत्र के बतलावें, तो क्या वे विदेशी समझे जा सकते हैं ? " इसी प्रकार वैद्य महोदय से प्रश्न किया जाय कि श्यामतासूचक नाग से उत्पत्ति बतलाने के कारण क्या नाग वंशी अनार्य ठहराए जा सकते हैं ?

श्रीकृष्ण अथवा श्रीरामचन्द्र का भी वर्ण श्याम था। तो क्या वे अनार्य थे ? लक्ष्मण तो शेष नाग के अवतार ही समझे जाते हैं। क्या उनके शरीर में भी अनार्य रक्त बहता था ?

कहने का अर्थ इतना ही है कि यदु ने नागवंशियों से जो विवाह किया, उससे आर्यों का अनार्यों से सम्बन्ध नहीं सूचित होता। अन्य क्षत्रियों के समान नाग वंशी भी शुद्ध क्षत्रिय थे। यही नहीं, वे कदाचित् अन्यों की अपेक्षा विशेष मान्य समझे जाते थे; क्योंकि अनेक आर्य राजवंशावलियों में आदि पुरुष नाग ही माना गया है। यदि यह गौरव की बात न समझी जाती, तो राजा लोग अपनी वंशावलियों में नाग शब्द को स्थान

क्यों देते ? बहुतेरे शिला और ताम्रलेखों में गर्व के साथ अंकित किया गया है कि अमुक पुरुष नाग वंशी कन्या के साथ व्याहा गया था। इसलिये दक्षिण के क्षत्रिय, निदान माहिष्मती के राजा मिश्रित उत्पत्ति के नहीं कहे जा सकते।

खोज करने से सिद्ध हुआ है कि माहिष्मती मध्य प्रदेश के निमाड़ जिले का मान्धाता है। यह एक द्वीप है जो नर्मदा की दो धाराओं के बीच में पड़ गया है। सामने की धारा मूल नर्मदा की धारा समझी जाती है और पीछे की धारा कावेरी कहलाती है। इसी स्थान पर सहस्रार्जुन अथवा कार्त्तवीर्य राज्य करता था। यह हैहय वंश का वही शिर-मौलि है, जिसने एक बार रावण को बाँध रक्खा था। हैहयों का राज्य बड़ा विस्तीर्ण था, जिसका जिक्र महाभारत इत्यादि में पाया जाता है। इन हैहयों की एक शाखा का नाम कलचुरि था, जिसने नर्मदा के ही किनारे त्रिपुरी में आकर अड्डा जमाया था।

कलचुरियों की शाखा किस समय बनी और ये लोग त्रिपुरी में कब आए, इसका निश्चयपूर्वक पता नहीं चलता। परन्तु त्रिपुरी में जो सिक्के मिले हैं, उनमें से कोई कोई सन् ईसवी से पूर्व के हैं। कलचुरियों के कोई चालीस पचास शिला और ताम्रलेख मिले हैं। उनमें दी हुई वंशावली बहुधा कोकल्लदेव के समय से आरम्भ होती है। प्रायः सभी में मूल पुरुष हैहयराज कार्त्तवीर्य का नाम अवश्य आता है। कलचुरियों ने अपना संवत् २४८ ईसवी में चलाया। परन्तु यह ठीक पता नहीं चलता कि वह कौन सा राजा था, जिसने उसका प्रचार किया। न उसके समय से कोकल्लदेव तक कोई शृंखलाबद्ध वंशावली ही मिलती है। कोकल्ल-देव का समय प्रायः ८७५ ईस्वी के आसपास स्थिर किया गया है। सन् २४८ ई० और ८७५ ई० के बीच के कलचुरि राजाओं के दो ही एक नाम उपलब्ध हैं। परन्तु कोकल्लदेव से आगे निदान बारहवीं शताब्दी के अंत तक वंशावली बराबर मिलती है। इसी ऐतिहासिक काल के

मध्य में कलचुरियों ने ऐसा जोर जमाया कि वे भारत के सम्राट् हो गए, जिसका वर्णन आगे किया जायगा।

कुछ दिन हुए, बिलासपुर जिले के अमोदा ग्राम में एक ताम्रपत्र मिला था। उसमें कोकल्लदेव के जीते हुए देशों की नामावली दी है। उसमें लिखा है कि कोकल्ल ने कर्णाटक, बंगाल, गुजरात, कोंकण और शाकम्भरी के राजाओं को तथा तुरुष्कों और रघुवंशियों को पराजित किया। इससे जान पड़ता है कि कोकल्ल ने भारत के पश्चिमीय देशों पर आक्रमण किया था और कदाचित् सिंध के मुसलमानों को भी शिकस्त दी थी। उसने स्पष्टतः गुजरात पर तो आक्रमण किया ही था; वहाँ से सिंध निकट ही है। उस जमाने में तुरुष्क (तुरुक या मुसलमान) वहीं पर राज्य करते थे। जान पड़ता है कि उन्हीं से मुठभेड़ हुई होगी। अरबवालों ने सन् ७१२ ई० में सिंध को अपने अधीन कर लिया था और १०२५ ई० तक राज्य करते रहे। कोकल्ल का समय नवीं शताब्दी में पड़ता है; इसलिये लड़ाई अरबी लोगों ही से ठनी होगी। यह ठीक ठीक नहीं जान पड़ता कि उस समय रघुवंशी कहाँ राज्य करते थे। यदि वे रामचन्द्र के वंशज समझे जायँ तो उनका देश कोशल होना चाहिए। कोकल्लदेव के देश का एक भाग भी कोशल कहलाता था; इसलिये कदाचित् देश का नाम न लिखकर, उस देश की शासक जाति का नाम लिखना बेहतर समझा गया हो। रघुवंशी सूर्यवंशी थे, हैहय चन्द्रवंशी थे। महाभारत में एक जगह लिखा है कि राजा सगर के समय में अवध के सूर्यवंशियों और हैहयों के बीच बड़ा युद्ध हुआ था। इसलिये कहा जा सकता है कि इन दोनों वंशों का वैर वंश परंपरा से चला आ रहा था। अवसर पाकर ये लोग चूकते न रहे होंगे। कदाचित् रघुवंशियों पर आक्रमण करने का यह भी एक कारण रहा हो। कोकल्लदेव की दक्षिण के राष्ट्रकूट (राठौर) और कन्नौज के गुर्जर प्रतिहार (पड़िहार) राजाओं से अच्छी बनती थी। उसने अपनी

लड़कियाँ देकर इन लोगों मे विवाह सम्बन्ध कर लिया था। उसने चित्रकूट के राजा श्रीहर्ष और गोरखपुर ज़िले के कमया के राजा शङ्करगण को सहायता देकर उनसे मैत्री कर ली थी। बुन्देलखण्ड के चन्देले भी उसके सम्बन्धी थे; क्योंकि उसकी रानी नट्टा देवी चन्देलिन राजकुमारी थी। इस प्रकार उसका राज्य चारो ओर के आक्रमणों से सुरक्षित हो गया था।

कोकल्लदेव के १८ पुत्र हुए, जिनमें से बड़े को त्रिपुरी की गद्दी मिली। शेष को एक एक मण्डल परवरिश के लिये दे दिया गया। जान पड़ता है कि उस ज़माने मे तालुक़ा या तहसील को मण्डल कहते थे। मण्डल के अधिकारी माण्डलिक कहलाते थे और वे मूल गद्दी के अधिकारी के अधीन रहते थे। कोकल्ल के उत्तराधिकारी का नाम प्रसिद्धधवल अथवा मुग्धतुङ्ग पाया जाता है। बिलहरी के शिलालेख में उसके विषय में लिखा है—"जब वह दिग्विजय को निकला, तब वह कौन सा देश है जिसको उसने जीता नहीं? उसका चित्त मलय की ओर खिंचा; क्योंकि समुद्र की तरंगें वहीं अपनी कला दिखलाती हैं, वहीं केरल की युवतियाँ क्रीड़ा करती हैं, वहीं भुजङ्ग चन्दन के वृक्षों की सुगन्ध लूटते हैं।" केरल वर्तमान मलाबार को कहते हैं जो मद्रास अहाते में है। क्या मुग्धतुङ्ग उस रेल-विहीन ज़माने मे करेल देश को यात्री बनकर गया था? यह नहीं हो सकता। अवश्य वह दिग्विजय के लिये गया और भारत के दक्षिण कोने को सर कर आया। पुनः उसी लेख में लिखा है कि पूर्वीय समुद्र के किनारे उसने वहाँ के राजा से पाली छीन ली, जिससे स्पष्ट है कि बंगाल की खाड़ी उसके राज्य की पूर्वीय सीमा हो गई।

मुग्धतुङ्ग के पश्चात् उसका पुत्र बालहर्ष राजा हुआ। यह बहुत दिन नहीं जिया; इससे कभी-कभी इसका नाम राजावली में छोड़ दिया जाता है। बालहर्ष के पश्चात् उसका भाई केयूरवर्ष राजा हुआ। इसका

दूसरा नाम युवराजदेव था। यह नृपति युवतिप्रिय जान पड़ता है; क्योंकि इसकी प्रशंसा में यह लिखा मिलता है—"उसने गौड़ देश की युवतियों की मनोकामना पूर्ण की, कर्णाटक की बालाओं के साथ क्रीड़ा की, लाट देश की ललनाओं के ललाट अलंकृत किए, काश्मीर की कामिनियों से काम क्रीड़ा की और कलिङ्ग की स्त्रियों से मनोहर गीत सुने। कैलास से लेकर सेतुबन्ध तक और पश्चिम की ओर समुद्र तक उसके शस्त्रों ने शत्रुओं के हृदय में पीड़ा उत्पन्न कर दी।" इस वर्णन से यही जान पड़ता है कि उसने समस्त भारतवर्ष को अपने अधीन नहीं कर लिया, तो हिला तो अवश्य डाला। खजुराहो के एक लेख से जान पड़ता है कि युवराजदेव एक बार अपने नातेदार चन्देलों से लड़ पड़ा और यशोवर्मन् से हार गया। परन्तु यह घरू झगड़ा था; इससे उसके वैभव में कुछ बाधा नहीं पड़ी। युवराजदेव का विवाह चालुक्य राजा अवन्तिवर्म्मन् की पुत्री नोहला देवी से हुआ। नोहला दान पुण्य बहुत किया करती थी। उसने शिव का एक मंदिर बनवाया, जिसके भोग के लिये सात गाँव लगा दिए। परन्तु युवराजदेव इससे कई गुना बढ़कर दानी निकला। उसने एक मठ के लिये तीन लाख गाँव लगा दिए और इस दान का अपनी प्रशस्तियों में जिक्र तक न करवाया। जिस मठ को यह दान दिया था, वह गोलकी मठ कहलाता था। उसके आचार्य पाशुपत पन्थी शैव थे। दसवीं शताब्दी के लगभग इस पंथ का विशेष प्रचार था और उसकी शाखाएँ मद्रास से लेकर बुंदेलखण्ड तक फैली हुई थीं। मद्रास अहाते में मलकापुरम् नाम का एक ग्राम है। उसमें एक शिलालेख मिला है जिसमें गोलकी मठ के महन्तों की पट्टावली लिखी है। प्रसंगवश उसमें गोलकी मठ का इतिहास लिख दिया गया है। वह इस प्रकार है—"भागीरथी और नर्मदा के बीच डाहलमण्डल नामक देश है। वहाँ दुर्वासा मुनि के चलाए हुए शैव पंथ के महन्त रहते थे। उनमें एक सद्भाव शंभु थे, जिनको डाहल के कलचुरि राजा युवराजदेव ने तीन

लाख गाँवों का एक प्रदेश भिक्षा में दिया। तब सद्भाव शंभु ने गोल मठ की स्थापना की और भिक्षा में पाई हुई जायदाद मठ के खर्च के लिए उसी में लगा दी"। गंगा और नर्मदा के मध्य का प्रांत डाहल देश अवश्य कहलाता था। अरबी यात्री अलबेरुनी जब ग्यारहवीं शताब्दी में यहाँ आया था, तब उसने इस देश का नाम यही लिखा था। उस समय युवराजदेव के नाती का नाती गाङ्गेयदेव राज्य करता था। उसका भी नाम उसने अपने परिभ्रमण की पुस्तक में दर्ज कर लिया था।

मलकापुरम् के लेख से यही झलकता है कि सद्भाव शंभु अवश्य ही त्रिपुरी आए होंगे और यहाँ पर उन्होंने यह बड़ी भारी भिक्षा अपने शिष्य कलचुरि राजा से पाई होगी। और अवश्य त्रिपुरी के निकट ही कहीं पर उन्होंने मठ स्थापित किया होगा, क्योंकि इतने बडे मठ की स्थापना राजधानी के ही निकट समुचित जान पडती है। सद्भाव शंभु पाशुपत पन्थ की कालामुख शाखा के अनुयायी थे। कालामुख शैव मुक्ति के छः मार्ग मानते हैं—(१) खोपडे में भोजन, (२) शव की राख से शरीर लेपन, (३) राख भक्षण, (४) दंड धारण, (४) मदिरा का प्याला और (६) योनिस्थित देव की पूजा। वस्तुतः इस पंथ में शक्ति पूजा का प्राधान्य था। कदाचित् इसी पंथ के कारण चौंसठ जोगिनियों के मन्दिरों का प्रचार हुआ हो। त्रिपुरी के निकट नर्मदा के दूसरे किनारे पर चौंसठ जोगिनियों का एक विशाल गोल मठ बना है, जिसमें जोगिनियाँ पधराई गई हैं। प्रत्येक मूर्ति पर जोगिनी का नाम खुदा है। पुरातत्त्वज्ञ बाबू राखालदास बैनर्जी ने उन अक्षरों की जाँच करके बतलाया है कि वे दसवीं शताब्दी के अक्षर हैं। युवराजदेव भी उसी जमाने में विद्यमान था। इसलिये अनुमान होता है कि कदाचित् यही गोलकी मठ रहा हो। मठ का आकार गोल है, और जिस पहाडी पर वह बना है, वह भी गोलाकार है। मद्रास में गोलकी मठ की शाखाएँ कडापा, करनूल, गुन्तूर और उत्तरीय अरकाट जिलों में पुष्पगिरि, त्रिपु-

रान्तकम्, तिरुपरंकोएड्म् और देवकीपुरम में थी। इन स्थानों मे जो लेख मिले हैं, उनमें कहीं पर गोलकी मठ और कहीं गोलगिरि मठ लिखा मिलता है। इससे जान पड़ता है कि मूल नाम गोलगिरि मठ रहा होगा, जिसका अपभ्रंश कालान्तर मे गोलकी मठ हो गया। गोलाकार गिरि को गोलगिरि कहना बहुत स्वाभाविक बात है; और यदि उस पर कोई मठ बन जाय, तो उसे गोलगिरि मठ कहना भी लोकप्रकृति के अनुकूल ही है। परन्तु एक अड़चन उपस्थित होती है। वह यह है कि रीवाँ से ग्यारह मील पर एक स्थान है, जिसे गोरगी कहते हैं। वहाँ भी इसी सम्प्रदाय की मत्तमयूर नामक शाखा के मठ थे। उनके विस्तीर्ण खँडहर अब भी विद्यमान हैं। वहाँ जो शिलालेख मिले हैं, उनसे उस स्थान का विशेष महत्त्व जान पड़ता है। खँडहरो के पास एक गोल पहाड़ी भी है जो कृत्रिम सी जान पड़ती है। इसको अब गुरगज कहते हैं। इसके ऊपर एक विशाल मंदिर बना था, जिसका फाटक रीवाँ महाराज के महल के दरवाजे में लगा है। इसकी कारीगरी देखते ही बन आती है। शिलालेख से जान पड़ता है कि यह मंदिर युवराजदेव ने बनवाया था और मुनि मनीषी प्रभावशिव को लाकर उनसे अनन्त धन प्रतिष्ठित मठ का आधिपत्य आग्रहपूर्वक स्वीकृत करवाया था। गोरगी शब्द गोलकी का अपभ्रंश हो सकता है, इसलिये यदि गोरगी को गोलकी मठ सिद्ध करने का प्रयत्न किया जाय, तो कदाचित् उतना ही सार्थक प्रमाण उसके लिये मिल सकता है, जितना कि त्रिपुरी के निकटस्थ चौंसठ जोगिनी के मन्दिर के लिये उपलब्ध है। चौसठ जोगिनी मठ में इतनी ही विशेषता है कि वह त्रिपुरी के निकटस्थ है। सभव है, वह प्राचीन काल मे उस पुरी के अन्तर्गत ही रहा हो। तो अब प्रश्न उठता है कि क्या त्रिपुरी और गोरगी के मठों का नाम एक ही था? बात कुछ असंगत नहीं है। यदि युवराजदेव की दी हुई भिक्षा से उसके गुरु ने मठ की स्थापना कर दी, तो क्या अचरज कि राजद्वारा निर्मित मठ

का अभाव देखकर अपने गुरु की देखादेखी राजा ने दूसरा मठ बनवा दिया हो; और ईर्ष्या दोष निवारणार्थ उसका भी वही नाम रख दिया हो जो गुरु ने अपने भिक्षा-मठ का नाम रखा था। गोलकी मठ इतनी प्रभावशाली संस्था हो गई थी कि उसके आचार्य या पुजारी गोलकी मठ-संतान, भिक्षामठ संतान, लक्षाध्यायी संतान या गोलकी वंश के कहलाते थे। ये शब्द मद्रास अहाते के अनेक शिलालेखों में पाए जाते हैं। मध्य भारत में भी अनेक शाखाएँ थीं; जैसे बिलहरी, गोरगी, चँदरेहे, खजुराहो इत्यादि में। यहाँ पर भी चौंसठ जोगिनी के मन्दिर या पाशुपात सम्प्रदाय के मठों के खँडहर हैं।

युवराजदेव का पुत्र लक्ष्मणराज हुआ। पूर्व के राजाओं से उसने भी युद्ध ठाना और उडीसा देश के राजा से कालिया की एक रत्न-जटित मूर्ति छीन ली; और उसे काठियावाड़ के सोमनाथ के मंदिर को समर्पण कर दिया। प्राचीन काल में पराजित राजा का देश बिलकुल छीन नहीं लिया जाता था, इसलिये वे लोग सँभलकर फिर लडने को उद्यत हो जाते थे। इसी कारण से लक्ष्मणराज को बंगाल, पाण्ड्य, लाट और काश्मीर पर पुन. आक्रमण करके वहाँ के राजाओं को पराजित करना पड़ा। पाण्ड्य देश मदुरा (मधुरा) के आसपास था और लाट गुजरात का एक भाग था। लक्ष्मणदेव ने अपने पुत्रों में से एक को गण्डकी नदी के उत्तर के एक प्रान्त का शासक बना दिया था। उसी की सन्तति से रतनपुर की एक शाखा चली, जो आदि में त्रिपुरी के अधीन थी; परंतु जब उसका प्रताप घटा, तब वह स्वतंत्र हो गई। लक्ष्मणराज के दो पुत्र राजा हुए--पहले शङ्करगण और पश्चात् युवराजदेव द्वितीय। इस युवराजदेव को 'चेदीचन्द्र कहते थे; परंतु उसकी ऐसी कोई कृति नहीं पाई जाती जिससे यह पदवी सार्थक कही जाय। युवराजदेव के समय में परमार राजा वाक्पतिमुञ्ज ने त्रिपुरी ही पर धावा कर डाला, और कलचुरि सेनापतियों को मारकर कुछ काल तक त्रिपुरी ही में डेरा डाले

रहा। युवराजदेव को उसके भानजे तैलप द्वितीय ने भी हरा दिया। ये बातें चेदीचन्द्र की यशःचन्द्रिका में कलंक लगानेवाली जान पड़ती हैं। युवराजदेव द्वितीय का लड़का कोकल्ल द्वितीय हुआ। इसके समय में भी कलचुरियों का किसी प्रकार गौरव नहीं बढ़ा। यथार्थ में इन राजाओं के वंश की महिमा बहुत कुछ घट गई थी। परन्तु कोकल्ल का लड़का गांगेय प्रभावशाली निकला। उसने केवल खोई हुई कीर्ति का ही उद्धार नहीं किया, वरन् अपने वंश को गौरव के शिखर पर चढ़ा दिया। उसी ने अपने राज्य को साम्राज्य बना दिया और विश्वविजयी की उपाधि प्राप्त की। उसने चढ़ाई करके प्रायः समस्त उत्तरीय भारत को अपने अधीन कर लिया; कीर अर्थात् काँगड़े के राजा को कैद कर लिया; उड़ीसा और बंगाल के राजाओं को पराजित किया; निज़ाम के हैदराबाद के दक्षिण कोने का देश, जो कुन्तल कहलाता था, जीत लिया; और पश्चात् वहाँ के राजा को बिलकुल निकाल देने के बदले उसे उसका राज्य फेर दिया। उत्तर हिन्दुस्थान का बहुत सा भाग अपने अधीन कर लेने के कारण वह प्रयाग में रहने लगा और वहीं पर अक्षयवट के निकट सन् १०४१ ई० में उसने अपनी सौ रानियों के साथ मोक्ष पाया। गांगेय का लड़का कर्णदेव अपने बाप से भी अधिक प्रतापी निकला। प्रसिद्ध पुरातत्वज्ञ बाबू काशीप्रसाद जायसवाल उसे भारतीय नेपोलियन कहते हैं। उसने भारतवर्ष के सभी राज्यों पर, जो उसके अधीन नहीं थे, धावा कर डाला और उन्हें अपने वश में कर लिया। पाण्ड्य, चोड़, मुरल, कीर, कुङ्ग, वंग, कलिंग, गुर्जर, हूण सभी अपनी हेकड़ी भूल गए और उन्होंने प्रतापशाली कर्ण के चरणों पर माथा नवाया। रासमाला में लिखा है कि १३६ राजा उसके चरण कमलों की पूजा करते थे। इतना होने पर भी कर्ण एक बार अपने पड़ोसी जझौती के राजा से हार गया। उसने चन्देलों को मलियामेट कर डाला था। निराशा से प्रेरित होकर राजा कीर्तिवर्म्मन् ने कुछ ऐसा

उद्योग किया कि कर्ण का सामना करने को उद्यत हो गया। विजय मद से मत्त कलचुरि कदाचित् चंदेलों को तुच्छ समझते थे। उन्होंने यह ध्यान में नहीं रक्खा कि कभी कभी आग की एक छोटी सी चिनगारी भी बड़े भारी ढेर को भस्म कर देती है। कीर्तिवर्म्मन् का सेनापति बड़ा चतुर था। उसने कुछ ऐसा जोड़ तोड़ लगाया कि कर्ण हार गया। फिर क्या था। कीर्तिवर्म्मन् के हर्ष की सीमा न रही। राजकवि कृष्ण-मिश्र ने तुरत सुप्रसिद्ध प्रबोध चन्द्रोदय नाटक रच डाला, जिसमें वेदान्त के व्याज से अजेय कर्ण की हार और कीर्तिवर्म्मन् की विजय कीर्ति दरसाई गई और उस नाटक का अभिनय बड़े समारोह के साथ किया गया। परन्तु कर्ण की इस आकस्मिक हार से उसके राज्य को विशेष धक्का नहीं पहुँचा, जैसा कि दिग्विजयी नेपोलियन को पहुँचा था। नेपोलियन की एक बार की हार ने उसे उच्चतम सिंहासन से गिराकर रसातल को भेज दिया था।

कर्ण देव का राज्याभिषेक दो बार हुआ। पहला सन् १०४१ ई० में जब कि उसके पिता का देहान्त हुआ, और दूसरा सन् १०५१ ई० में जब कि वह समस्त भारत को सर करके सम्राट् बन गया। उस समय से उसके राज्य का अलग संवत्सर वंश परंपरा के संवत्सर के साथ लिखा जाने लगा। यथा, गोहरवा ताम्रशासन में कलचुरि संवत् ८१२ लिखने के पश्चात् "श्रीमत्कर्णप्रकाश व्यवहरणाया नवमे संवत्सरे" अङ्कित मिलता है, जिससे ज्ञात होता है कि कर्ण के प्रवर्द्धमान साम्राज्य का नवाँ वर्ष उसके वंश के ८१२ वें संवत्सर में पड़ा था। अन्यथा यह उसके राजत्व काल का उन्नीसवाँ वर्ष था। इससे यह भी स्पष्ट जान पड़ता है कि कर्णदेव ने राज्य पाते ही दस ग्यारह वर्ष के अंदर ही भारतवर्ष का साम्राज्य प्राप्त कर लिया। उसके जमाने में न रेलें थीं, न तार था, न मोटरें थीं, न वायुयान थे, न सड़कें ही इतनी बहुत थीं कि इन दिनों के समान जल्दी आवागमन हो सकता। जिससे

लड़ाई की जाती है, वह अवश्य शत्रु हो जाता है और हार जाने पर बदला चुकाने की उत्कंठा अधिक पैदा हो जाती है। इस प्रकार दिग्विजयी चारों ओर से शत्रुओं से घिर जाता है। परन्तु इन कठिनाइयों के होते हुए भी कर्ण ने अपनी मनोकामना पूर्ण कर ही डाली, यह कोई छोटी बात नहीं है। सब बातों का मनन करने से कर्ण का कृत्य आश्चर्यजनक जान पड़ता है और उसके साहस तथा शूरता का हृदय पटल पर विचित्र चित्र खिंच जाता है। त्रिपुरी भारतवर्ष के बिलकुल मध्य में पड़ती है। नैपाल से वह उतनी ही दूर पड़ती है, जितनी कन्याकुमारी से। इसी प्रकार उसकी दूरी बंगाल की खाड़ी से भी उतनी ही है, जितनी अरब समुद्र से। इस केन्द्र पर बैठकर कर्ण ने समस्त भारत के राजाओं को नाच नचाया और त्रिपुरी को भारतीय बल का यथार्थ केन्द्र बनाकर दिखला दिया। कर्ण नाम के अनेक राजा हो गए हैं; परन्तु कर्ण डहरिया अर्थात् डाहल का कर्ण अब भी लोकोक्तियों में समाविष्ट है, यद्यपि लोग भूल गए हैं कि कर्ण कहाँ राज्य करता था और डहरिया का अर्थ क्या है। डाहल मण्डल कर्ण का पैतृक देश था। वह चेदि देश के अन्तर्गत था। इसी से ये लोग चेदीश कहलाते थे। चेदीश कर्ण के पूर्वज निस्संदेह चेदि के बाहर दूर दूर के कई देशों में अपने यश का डंका बजा आए थे; परन्तु उनपर अधिराजत्व करना कर्ण ही का काम था। कर्ण शरणागतों का वैसा ही मान करता गया, जैसा कि उसके पूर्वज करते आए थे। परंतु जहाँ ऐंठ दिखाई दी, वहाँ उसने पूर्ण रूप से अपनी पैठ की। जान पड़ता है कि उस ज़माने में त्रिकलिंग देश का कुछ विशेष महत्व था। उस देश को कर्ण ने किसी कारण से अपने बिलकुल अधीन कर लिया और अपने नाम के साथ त्रिकलिंगाधिपति की उपाधि जोड़ ली। त्रिकलिंग उड़ीसा की ओर का देश था और उस जमाने में बड़ा वैभवशाली था। तीरभुक्ति अर्थात् तिरहुत में उसके बाप ने ही अपना झंडा गाड़ दिया था। तभी से इन

लोगों के मन में उत्तरीय प्रान्तों में रहने का विचार उठा था। गांगेयदेव बहुधा प्रयाग में रहा करता था और उसने वहीं अक्षयवट के निकट मुक्ति पाई थी। कर्णदेव की रुचि काशी की ओर झुकी और उसकी प्रबल इच्छा हुई कि उस परमपावनी शिवपुरी को अपनी राजधानी बनाऊँ। इस हेतु से उसने वहाँ एक विशाल मंदिर बनवाया, जो कर्णमेरु के नाम से प्रसिद्ध हुआ। बड़े बड़े राजा सत खंडा महल बनवाया करते थे। प्राचीन काल में कुछ ऐसी धारणा थी कि जहाँ सात खण्डों या मंजिलों की इमारत बनवाई, वहाँ हद हो गई। परन्तु कर्णदेव ने कर्णमेरु को बारहमंजिला बनवाया। वह आकार में षट्कोण था। उसमें चार दरवाजे थे और नाना प्रकार से सुसज्जित अनेक खिड़कियाँ थीं। उसकी समानता का दूसरा शिवालय या प्रासाद नहीं था। वह वरुणा और गंगा के संगम के निकट बनवाया गया था। कर्ण ने सब कुछ किया, परन्तु अन्त में त्रिपुरी से राजधानी हटाने का साहस न कर सका। इसलिये काशी भारत के साम्राज्य का केन्द्र होते होते रह गई।

कलचुरि वंश का मध्याह्न कर्ण ही के समय में समाप्त हुआ। उसके पश्चात् का इतिहास अवसान प्रदर्शक है, यद्यपि पूर्ण अस्त होने के लिये सात आठ सौ वर्ष लगे। त्रिपुरी तो दो तीन सौ वर्ष ही में राजधानी की पदवी से च्युत हो गई। कर्ण का लड़का यश कर्णदेव हुआ। वह पराक्रम-हीन नहीं था। उसने अपनी बपौती की रक्षा के लिये कुछ उठा नहीं रक्खा। परन्तु वह पराजित राजाओं के विद्रोह के प्रवाह को रोक न सका। विद्रोह दक्षिण के आन्ध्र देश से आरम्भ हुआ, और यद्यपि यश कर्ण ने वहाँ के राजाओं को बेतरह पछाड़ा, तथापि वह उत्तर के विद्रोहियों से पार न पा सका। कन्नौज के गहरवारों ने कलचुरियों को काशी और मगध से निकाल बाहर किया। यश कर्ण हिम्मत नहीं हारा। उसने पुन: चढ़ाई करके काशी जीत ली

और चम्पारन को लूट पाटकर मटियामेट कर डाला। परन्तु उसके बुढ़ापे के समय बनारस फिर उसके हाथ से निकल गया और उसकी मृत्यु होते ही मिथिला से सम्बन्ध सदैव के लिये टूट गया।

यश:कर्ण के बाद उसका लड़का गयाकर्णदेव राजा हुआ। इसको राज्य गिरती अवस्था में मिला। इस राजा में पराक्रम भी विशेष नहीं था कि उसे सँभाल लेता। चन्देले कलचुरियो के वैरी थे ही। उनकी क्षीणता देखकर उन्होंने लड़ाई ठान दी। उन्होंने गयाकर्ण को हरा दिया और चेदि राज्य का कुछ भाग हड़प कर गए। गयाकर्ण के मरने पर उसका ज्येष्ठ पुत्र नरसिंहदेव राजा हुआ। उसके पश्चात् उसके छोटे भाई जयसिंह को गद्दी मिली। इन दोनों के समय में राज्य की क्षीणता बढ़ती ही गई और क्रम क्रम से उनका देश संकुचित होता गया। जयसिंह के पश्चात् उसका लड़का विजयसिंह गद्दी पर बैठा। उसके राज्य का पता सन् ११९५ ई० तक लगता है। तब तक कलचुरियो के राज्य का फैलाव रीवाँ और पन्ना तक बना था। इसके थोड़े ही दिन पीछे त्रिपुरी राजधानी न रह गई; और कलचुरि राजवंश की मूल शाखा का क्या हुआ, इसका ठीक ठीक पता ही नहीं लगता।

इस प्रकार बारहवीं शताब्दी के अन्त में त्रिपुरी के कलचुरियो का अन्त हो गया। परंतु हम पहले कह चुके हैं कि इस वंश का क्रम अन्यत्र अनेक वर्षों तक स्थिर रहा। हम यह भी बतला चुके हैं कि गण्डकी नदी पर इनकी एक शाखा राज्य करती थी। वहाँ का एक राजकुमार बिलासपुर ज़िले के तुम्माण नामक स्थान मे जा बसा और त्रिपुरी के अधीन रहकर उस ओर का राजकाज सँभालने लगा। इसी वंश में एक राजा रत्नदेव हुआ, जिसने और आगे बढ़कर अपने नाम पर रत्नपुर बसाया और उसे राजधानी बनाया। जब तक त्रिपुरी का वैभव स्थिर रहा, तब तक यह शाखा उसके अधीन रही। परंतु जब कलचुरि मार्तण्ड का तेज घटने लगा, तब अवसर पाकर वह स्वतन्त्र हो गई। रत्नपुरवालो ने भी अपना खूब विस्तार

किया और कई राजवंशों को अपने अधीन कर लिया। छत्तीसगढ़ * इनके पूर्ण अधिकार में था। आसपास के यथा भण्डारा, लाञ्जी, वैरागढ़, खिमड़ी इत्यादि के राजा उन्हें कर दिया करते थे। अन्त में जब दिल्ली के मुसलमानी घरानों का जोर बढ़ा, तब रत्नपुरवालों को उनका स्वामित्व स्वीकार करना पड़ा। परंतु तब भी उनकी स्वतंत्रता में बहुत भेद नहीं पड़ा। निदान अठारहवीं सदी में जब मराठे उड़ीसा पर चढ़ाई करने को निकले, तब मार्ग में उन्होंने रत्नपुर के किले पर आक्रमण कर दिया। उस समय वहाँ पर रघुनाथसिंह राजा था। वह बहुत वृद्ध था; अतः इस आकस्मिक आक्रमण का सामना न कर सका। मराठों ने उसका राज्य छीन लिया। तिस पर भी रत्नपुर की एक शाखा, जो रायपुर में राज्य करती थी, बच रही। परंतु वह विशेष बलवती नहीं थी; इसलिये मरहठों को उससे राज्य छीनने में देर न लगी। मराठों ने रायपुर के हैहय राजा की परवरिश के लिये गाँव पीछे एक रुपया लगा दिया। पश्चात् जब रुपया उगाहने में अड़चनें पड़ने लगीं, तब उसके बदले में पाँच गाँव लगा दिए गए, जिनका उपभोग कलचुरि राजाओं के प्रतिनिधि अब तक कर रहे हैं। इस प्रकार कलचुरि राज्य का अन्त हुए सौ डेढ़ सौ वर्ष ही हुए हैं। संसार का नियम है कि "जो बढ़ा सो घटा, जो बरा सो बुताना"। अनेक राजवंशों का इतिहास देखने से जान पड़ता है कि उनकी आयु प्रायः दो तीन सौ वर्ष से अधिक नहीं होती। परंतु कलचुरि वंश प्रायः दो हजार वर्षों तक चलता गया।

---

* छत्तीसगढ़ मध्य प्रदेश की एक कमिश्नरी का नाम है, जिसमें रायपुर, बिलासपुर और दुर्ग नाम के तीन जिले शामिल हैं। कुछ काल पूर्व सम्भलपुर जिला भी इसी में सम्मिलित था। लेखक की राय में छत्तीसगढ़ का शुद्ध रूप चेदीशगढ़ था, क्योंकि चेदीश अर्थात् हैहय वंशियों के इस ओर अनेक दुर्ग थे। इसी स्थान में विन्ध्य पर्वत की एक शाखा है, जो मेकल कहलाती है। यहाँ पर प्राचीन काल में मेकल जनपद रहा होगा। महाभारत आदि ग्रन्थों के अनुसार वहाँ हैहय-वंशी ही राज्य करते थे।

इससे बहुत समय में कलचुरियो के वंशजों की विशेष वृद्धि होनी चाहिए थी; परंतु त्रिपुरी में या उसके आसपास या जबलपुर जिले अथवा अन्य निकटवर्ती जिलों में उनका कहीं पता ही नहीं चलता। वे सब लोग कहाँ चले गए ? ऐसा तो हो ही नहीं सकता कि राज्य जाते ही उन सब का एक दम क्षय हो गया हो। चेदि देश में उनके पीछे चदेलो का राज्य हुआ और जाता भी रहा, परतु चंदेलो के सहस्रों घराने अब भी मौजूद हैं। खोज लगाने से पता चलता है कि जबलपुर और आसपास के जिलो में राय वर्ग के कलवार अधिक पाए जाते हैं। उनमें कई बडे बड़े ज़मींनदार और रईस हैं। कलवारों अर्थात् कल्यपालो की उत्पत्ति बतलाते समय महामहोपाध्याय पं० हरिहर कृपालु द्विवेदी, महामहोपाध्याय प० रघुनन्दन त्रिपाठी, साहित्याचार्य पं० रामावतार पांडेय एम० ए०, शास्त्री अनन्तप्रसाद एम० ए० पी-एच० डी० इत्यादि ने लिखा है—"जन्मना शौडिएक कल्यपाला हैहय-राजवंशोद्भवा इति मत्स्याग्निपुराण वचन प्रामाण्यात् सुस्थितम। राज्यं च तेषां विन्ध्य पृष्ठेषु वीतिहोत्र मेकलादि जनपद सान्निध्ये निर्धारितं। महाभारत (अनुशा० ३५।१७।१८) मत्स्यपुराण (११४।५४) गण-रत्नमहोदधिप्रभृतिभिर्ग्रन्थै।"

अर्थात् कल्यपाल हैहयों के वशज हैं। इनका राज्य विन्ध्य पर्वत पर मेकल आदि जनपदों मे था। जबलपुर और आसपास के ज़िले विन्ध्या पर्वत पर ही हैं और उसकी मेकल नामक शाखा भी निकट ही है। इसी पर्वत से नर्मदा का निकास है, जिसके कारण वह मेकलसुता भी कहलाती है। यदि यहाँ के कल्यपाल हैहय वंशज हैं, तो ये अवश्य प्राचीन कलचुरियों के प्रतिनिधि हैं। जब उनका राज्य चला गया, तब पेट पालने के लिये उन्हें कुछ धन्धा करना ही पड़ा होगा। प्राचीन काल में कल्यपाल लोग बहुधा राजघरानों और सरदारो के यहाँ कलेवा अथवा भोजन बनाने का व्यवसाय किया करते थे। उपर्युक्त पंडित वर्ग का

कथन है—"कल्यं भोजनं तन्नियोगवान राजपुरुषो भोजनपाल राजाधिकृतविशेषः प्राथमिकोऽर्थः प्रयोगवशात् कार्यवशाच्च भोजनव्यवसायी इति संवृत्तः"। कालांतर में भोजनों में भी परिवर्त्तन हो चला। उसकी भी छाप कलचुरियों पर लग गई। कलकत्ते के महामहोपाध्याय हरप्रसाद शास्त्री एम० ए० सी० आई० ई० ने भी लिखा है—"कल्य का अर्थ कलेवा होता है; और इस प्रकार कल्यपाल का अर्थ राजघरानों को कलेवा देनेवाला होता है। कालान्तर में राजघरानों में सुरा ने प्रवेश किया; और जब कल्यपालों का सम्बन्ध हिन्दू राजघरानों से टूट गया और मुसलमानों का अमल हुआ, तब से उनके नाम में घृणा की बू घुस गई। यह सर्व विदित ऐतिहासिक बात है कि इस प्रकार की घटना से कई ऊँची जातियाँ नीची कर दी गई हैं। उदाहरणार्थ, मौर्य्य खेती करने से मोरे कुनबी हो गए हैं, और इसी प्रकार चालुक्य उसी वर्ग के चालकी बन गए हैं *।" उक्त शास्त्रीजी पुनः कहते हैं—"कलवार सर्वत्र क्षत्रिय होने का दावा करते हैं, जिसका प्रमाण पुराणों में मिलता है। सब कोई जानते हैं कि अनेक कारणों से नई जातियाँ उत्पन्न हो जाती हैं। राजपूताने में मुसलमानी ज़माने में कई क्षत्रिय विविध प्रकार के पेशे करने लगे और भिन्न भिन्न जातियों के हो गए या अन्य जातियों में समा गए। जिन लोगों ने जैन या बौद्ध धर्म्म ग्रहण कर लिया, उनकी जाति

---

* "The word Kalya means morning meals; Kalyapala will mean provisor of morning meals at the Royal households. As wine entered as an article in meals in the Royal houses, the class Kalyapalas after being disconnectd with Hindu Sovereignties in Mohammadan times acquired a bad odour about their name Such lowering of high castes is a well-known historical fact. For instance Mauryas in the Marahatta country have become Moreys as an agricultural caste and Chalukyas have also been reduced to that position of Chalkis".

(Extract from Mahamahoyadhyaya Harprasad Shastri's note)

बहुधा नीची कर दी गई*।" जान पड़ता है कि कलचुरियों की भी ठीक यही गति हुई। राज्य छिन जाने पर वे अनेक पेशों में लग गए और कालान्तर में या तो उन पेशों की जातियों में समा गए या उनकी नवीन जाति बन गई। जैसा बता आए हैं, जबलपुर और आस पास के ज़िलों में राय कलवारों की बहुलता है। यह विचारणीय बात है; क्योंकि इस नाम ही से स्पष्टतः उनका प्राचीन राजघरानों के कल्यपालों से सम्बन्ध प्रमाणित होता है। जो कलचुरि अन्य जातियों में समा गए, उनका पता तो लग नहीं सकता; परंतु जो आदि से कल्यपाल अर्थात् भोजनपाल का व्यवसाय करते आए थे, उनकी पंक्ति अलग रह कर पृथक् जाति ही स्थिर हो गई। यह भी संभव है कि त्रिपुरी के कई कलचुरि बौद्ध धर्म्म में समा गए हों। त्रिपुरी में शिव मूर्तियों के साथ साथ अनेक बौद्ध मूर्तियाँ प्रायः ख्रीष्टीय दसवीं शताब्दी की बनी मिलती हैं, जिनसे प्रकट होता है कि उस समय तक बौद्ध धर्म का प्रचार ऐसी कट्टर शिवपुरी में बंद नहीं हुआ था, जब कि भारतवर्ष के अन्य प्रान्तों में सौ दो सौ वर्ष पूर्व से हो गया था। जान पड़ता है कि बौद्धों के प्रति कलचुरियों की कुछ न कुछ सहानुभूति अवश्य थी। कलचुरियों की निदान एक शाखा तो खुल्लम खुल्ला बौद्ध हो गई थी। सन् १८७५ ई० में कसया या प्राचीन कुशनगर में, जहाँ पर गौतम बुद्ध का महापरिनिर्वाण हुआ था, कलचुरियों का एक शिलालेख मिला था, जिससे स्पष्ट है कि कसया की कलचुरि शाखा बौद्ध धर्म मानने लगी थी, यद्यपि उसने शंकर की पूजा का बिलकुल परित्याग नहीं किया था †।

* "The Kalwars everywhere claim a Kshatriya Origin. The Puranas seem to support the Kshatriya Origin of the Shahndikas. It is a well-known fact that new castes spring up under various circumstances. Many Kshatriyas during Mohammadan conquest took to other occupations in Rajputana and formed other castes or merged into existing castes. Conversion to Jainism or Buddhism has often led to declare a caste low".

† Epigraphia Indica. Vol. XVIII. p. 130.

प्रत्यालोचना

[लेखक—श्रीयुक्त ठाकुर हरिचरणसिंह जी चौहान, बूँदी ।]

नागरीप्रचारिणी पत्रिका, भाग ६, अंक ३, पृष्ठ २८७ और २८८ में श्रीयुत बाबू सत्यजीवनजी वर्मा एम. ए. महाशय ने आख्यानक काव्य के संबंध से राजपूत जाति पर कुछ आक्षेप किया है; परन्तु दुःख है कि उन्होंने विचार शक्ति से काम नहीं लिया। वे लिखते हैं—"राजपूत पीछे से आई हुई बाहरी जाति के थे, जो कुछ काल से आकर राजपूताने में बस गए थे।" यहाँ तक तो उनके लिखने पर कोई आपत्ति नहीं, क्योंकि इस समय राजपूताने में जितने राजवंश हैं, उनमें से एक दो को छोड़कर शेष सब भारतवर्ष के दूसरे प्रान्तों से ही आकर बसे हैं। आगे उन्होंने लिखा है—"क्रमशः शक्ति-सम्पन्न होने पर जब उन्हें शासन का भार उठाना पड़ा, तब अपना प्रभाव स्थापित करने के लिये उन्हें अपने वंश की प्राचीनता तथा पूर्व पराक्रम का प्रमाण उपस्थित करना आवश्यक जान पड़ा, जिसके हेतु उन्हें अपने पूर्वजों का सम्बन्ध रामायण और महाभारत के वीर क्षत्रिय योद्धाओं से जोड़ना पड़ा। यदि वे ऐसा न करते, तो हिन्दू जनता, जो सदा से क्षत्रियों ही को शासन का अधिकारी समझती थी, एक अक्षत्रिय 'अज्ञात कुलशील' जाति के आधिपत्य में रहना अपना अपमान समझती। राजपूत अक्षत्रिय थे। भारतीय हिन्दू जनता में सम्मान पाने के लिये उन्हें अपने वंश का सम्बंध प्राचीन क्षत्रिय वीर पुरुषों से दिखाना आवश्यक हो गया।"

वर्मा महाशय अपने इस लेख में हर्षवर्धन तक तो क्षत्रिय मानते हैं और हर्षवर्धन की मृत्यु के पश्चात् सौ वर्ष की अराजकता के

अंधकार के पीछे 'राजपूत जाति' की नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव मानते हैं। अस्तु।

वर्मा महाशय ने अपने इस लेख की पुष्टि में कोई प्रमाण नहीं दिया, केवल ज़बानी जमाख़र्च से काम लिया है। पर अब यूरोपियन शोधकों की- प्रमाणशून्य मनमानी कल्पना के दिन नहीं रहे। उन्होंने राजपूत क्षत्रियों के विषय में जो कुछ लिखा है, उसमें केवल अपने अनुमान ही के हवाई पुल बाँधे हैं। उन्होंने अभी तक यह किसी प्रमाण से सिद्ध नहीं किया कि राजपूत जाति की उत्पत्ति शक, कुशन, हूण आदि किस जाति से हुई है तथा किस किस वंश के राजपूत किस किस बाहरी जाति से बने।

हमारे यहाँ रामायण, महाभारत, पुराणों और मनुस्मृति आदि में अनेक स्थलों में भारतवर्ष के क्षत्रियों का भारतवर्ष के बाहर उत्तर, पूरब, पश्चिम आदि देशों में जा जाकर राज्य करना लिखा है। यदि आपकी इच्छा होगी, तो प्रमाण भी दिए जा सकेंगे*।

शब्द "राजपूत" जिससे राजपूताना प्रान्त कहलाया "रजपूत" शब्द से बना है। यह ख़राबी अंग्रेजी वर्णमाला की अपूर्णता के कारण हुई; क्योंकि अंग्रेजी में राजपूत और रजपूत एक ही तरह से Rajput लिखा जाता है; और इस का व्यवहार टाड साहब के समय से चला है। पूर्व काल में 'रजपूत' शब्द का प्रचार नहीं था। इस शब्द का व्यवहार पहले ही पहल पृथ्वीराज रासे में आया है; और फिर मुसल्मानों के जमाने मे इसका बहुत प्रचार हो गया था। परन्तु जहाँ इस शब्द का व्यवहार आया है, वहाँ जातिवाचक नहीं, किन्तु योद्धा के अर्थ में आया है। यथा—"रजपूत टूट पचास रन जीत समर सेना घनिय;" "लग्गो सुजाय रजपूत सीस"; "मैं आपको रजपूत

* हम इस विषय पर सन्. १९१२ ई० के जुलाई और अगस्त मास के क्षत्रियमित्र में विस्तारपूर्वक लिख चुके हैं।

हूँ"; "रामसिंह बड़ो रजपूत हो"; "बूड़ गई सब रजपूती" आदि। अतः राजपूत कोई जाति न थी। मुसल्मानों के समय में धीरे धीरे यह शब्द जातिवाचक बन गया। यदि "राजपूत" शब्द को "राजपुत्र" शब्द का ही लौकिक रूप मान लिया जाय, जिसका व्यवहार रामायण, महाभारत, पुराणों और काव्यों आदि में आया है, तो भी यह जातिवाचक नहीं माना जा सकता। यह क्षत्रिय राजकुमारों का ही सूचक है और राजवंशियों के लिये आया है।

वर्माजी के लिखने के अनुसार सम्राट् हर्षवर्द्धन तक क्षत्रिय नरेश रहे। उसके पीछे सौ वर्ष की अराजकता के अन्धकार में राजपूत जाति की नवीन शक्ति का प्रादुर्भाव हुआ। परन्तु वर्माजी ने किसी प्राचीन प्रमाण से यह सिद्ध नहीं किया कि अमुक अमुक राजाओं के नाम के साथ राजपूत वंशी शब्द लिखा है। फिर कैसे माना जाय कि हर्षवर्द्धन के पीछे राजपूत राजा थे, क्षत्रिय नहीं? अतः भाटों के ग्रन्थों का प्रमाण छोड़कर हम नए शोध के अनुसार हर्षवर्धन और राजपूताने के क्षत्रियों के पूर्वजों का समय निर्णय करेंगे, जिससे यह सिद्ध हो जाय कि राजपूताने के क्षत्रियों के पूर्वजों के प्रबल राज्य हर्षवर्धन से भी पूर्व थे।

(१) हर्षवर्द्धन का समय संवत् ६६४ से ७०५ तक है। इसने आर्य्यावर्त के कई राजाओं को विजय किया; लेकिन दक्षिण विजय करने गया, तो नर्मदा के किनारे वातापी के सोलंकी राजा पुलकेशी द्वितीय से उसे हारकर लौट आना पड़ा। इस पुलकेशी द्वितीय से छः पीढ़ी पहले इसका पुरखा जयसिंह था, जिसने राठौड़ों के बड़े राज्य को उसके मालिक कृष्ण के पुत्र इन्द्र से छीन लिया था, जिसके पास ८०० हाथी थे। इससे विचार किया जा सकता है कि हर्ष से पूर्व दक्षिण में राठौड़ों और सोलंकियों के कैसे बड़े और प्रबल राज्य थे, जिनके वंशजों को आप अक्षत्रिय कहने का साहस करते हैं; और हर्ष-

वर्धन के सौ वर्ष पीछे की अराजकता में उनका बाहरी देशों से आना बतलाते हैं।

(२) चौहानों के राज्य के विषय में चतुर्विंशतिप्रबन्ध की प्राचीन लिखित प्रति में चौहानजी के वंशज प्रतापी राजा वासुदेवजी का संवत् ६०८ विक्रमी में राज्य करना पाया जाता है, जिनका अहिच्छत्रपुर अर्थात् नागौर (नागपुर = राजपूताना) में राज्य था।

(३) गेहलात अथवा सीसोदिया के पूर्वजों का राज्य नासिक में था। वहाँ से वे आनन्दपुर आए। आनन्दपुर का नाश होने पर गुहा का जन्म हुआ, जिससे गेहलात और गोहिल वंश चले। इन गोहजी का निश्चित समय न मिलने पर भी इनके ५ वें वंशधर शील या शिलादित्य का संवत् ७०३ वि० में विद्यमान होना शिलालेखों से सिद्ध हो चुका है। यदि प्रत्येक राजा का राज्य काल २० वर्ष माना जाय, जैसा आजकल के विद्वान् मानते हैं, तो गोह का संवत् ६०३ वि० में राज्य प्राप्त करना सिद्ध होता है। ये उपर्युक्त सभी नरेश हर्षवर्धन से पूर्व राज्य भोगते थे। और यादवों के विषय में तो कहना ही क्या है! इनका राज्य तो इनसे भी पहले मथुरा, महावन, कामा और बयाना (विजय मंदिरगढ़) में था। भला हर्षवर्द्धन की मृत्यु के पश्चात् सौ वर्ष की अराजकता के अन्धकार के पीछे इनके राज्य कैसे माने जा सकते हैं? फिर हर्षवर्द्धन के प्रपितामह का राज्य तो केवल थानेश्वर के इर्द गिर्द ही था। इन वैस वंशियों का प्रताप हर्षवर्द्धन से ही शुरू हुआ और उसी के साथ अस्त भी हो गया।

जब उस समय एक अक्षत्रिय 'अज्ञात कुलशील' जाति के आधिपत्य में रहने से प्रजा अपना अपमान समझती थी, जिसके कारण उस समय के राजाओं को अपना सम्बन्ध रामायण और महाभारत के वीरों से जोड़ना पड़ा, तो अब उन अज्ञात कुल शीलों के आधिपत्य में रहकर वह अपना अपमान क्यों नहीं समझती? और आजकल के वे 'अज्ञातकुल

शील' रामायण और महाभारत के वीरों से अपनी वंशावली मिलाकर क्षत्रिय क्यों नहीं बनते ?

जैसे रामायण और महाभारत मे रघुवंशी, यदुवंशी, हैहयवंशी आदि क्षत्रियो का वर्णन पाया जाता है, वैसे ही हर्षवर्द्धन के वैस वंश का भी वर्णन कहीं हुआ है ? हर्षवर्धन को तो आपने क्षत्रिय मान लिया और उससे पूर्व राज्य करनेवाली जातियो को बाहर का अज्ञातकुल-शील अक्षत्रिय लिख दिया। क्यों ?

क्या वैसों और राजपूत क्षत्रियों के संबंध इस बात की साक्षी नहीं कि वे एक ही जाति के हैं ?

वर्मा महाशय के लेख मे यह भी विचारने की बात है कि जब वे अज्ञातकुलशील बाहरी अक्षत्रिय लोग क्रमश. शक्ति-सम्पन्न हो ही गए थे, तब वे अपनी शक्ति से ही शासन का भार उठा सकते और प्रभाव भी जमा सकते थे। उन्हे शक्ति-सम्पन्न होने के कारण अपने वंश की प्राचीनता दिखाने तथा पूर्व पराक्रम का प्रमाण उपस्थित करने की क्या आवश्यकता थी ? और वे दूसरों के वंशज क्यो बनते ?

अन्त मे यह लिखकर हम अपने लेख को समाप्त करते हैं कि रामायण और महाभारत मे लिखे हुए सूर्य और चन्द्र वंशियों के साम्राज्य नष्ट होकर छोटे छोटे टुकड़ों में बँट गए। फिर दूसरे प्रबल राजाओं के आक्रमण से कोई राज्य कहीं से नष्ट हुआ और कहीं जाकर जमा, तथा समय पाकर फिर प्रबल हो गया और उसने दूसरों को अपने अधीन किया। इसी प्रकार एक जगह से दूसरे, दूसरे से तीसरे और फिर चौथे स्थान मे राज्य जमा और बिगड़ा। कहीं एक ही वंश की छोटी शाखा का राज्य प्रबल हो गया और बड़ी शाखा का राज्य शिथिल पड़ गया। इस प्रकार बहुत उथल पुथल होने से उनकी वंशावलियाँ भी

नष्ट हो गईं और प्राचीन वंशों के नाम भी प्रबल पुरुषों के नाम से बदलते चल गए। इस उलट फेर में वे लोग अपने असल वंश का स्मरण भी न रख सके। परन्तु इतना होने पर उनकी असलियत में फरक नहीं आ सकता।

(२३) श्रीहेमचंद्राचार्य

[लेखक—श्रीयुत पण्डित शिवदत्त शर्मा, अजमेर ।]

भारतवर्ष के प्राचीन विद्वानों की गणना में जैन श्वेताम्बराचार्य श्रीहेमचन्द्र सूरि उच्च स्थान पा चुके हैं । "संस्कृत साहित्य और विक्रमादित्य के इतिहास में जो स्थान कालिदास का और श्रीहर्ष के दरबार में बाणभट्ट का है, प्रायः वही स्थान ईसा की बारहवीं शताब्दी में चौलुक्य वंशोद्भज सुप्रसिद्ध गुर्जर नरेन्द्र-शिरोमणि सिद्धराज जयसिंह के इतिहास में हेमचन्द्र का है । फिर कुमारपाल के इतिहास में तो उनका स्थान चन्द्रगुप्त मौर्य के राज्य में विष्णुगुप्त (चाणक्य) के सदृश ही रहा । ऐसे पुरुष-पुङ्गव की ऐसी जीवनी जैसी कि आजकल के विद्वान् चाहा करते हैं, प्रस्तुत करने में हम असमर्थ हैं । तथापि गुजरात के इतिहास, सिद्धराज जयसिंह और कुमारपाल के संबंध में लिखे हुए कई एक संस्कृत ग्रन्थों में इनके विषय के अनेक वृत्तांत मिल जाने से हम इनकी निम्नलिखित संक्षिप्त जीवनी प्रकाशित करते हैं ।

हेमचन्द्र का अभिनव चरित

गुजरात के प्रधान नगर अहमदाबाद से ६० मील दक्षिण पश्चिम कोण में एक नगर है, जिसे "धंधुका" कहते हैं । संस्कृत के ग्रन्थों में इसका नाम "धुन्धुक नगर" अथवा "धन्धूकपुर" मिलता है; और वह गुजरात तथा सुराष्ट्र देश की सीमा पर है । धंधुका में मोढवंशोत्पन्न चाचिग नाम का एक व्यवहारी (सेठ) था, जिसकी स्त्री पाहिणी जैन धर्म पर विशेष श्रद्धा रखती थी । विक्रम संवत् ११४५ कार्तिक की पूर्णिमा की रात्रि में इनके एक पुत्र उत्पन्न हुआ । इन लोगों का

निवास मोढेरा ग्राम से था, अतः ये मोढवंशी कहलाते थे। अब भी इस वंश के वैश्य "श्रीमोढ वणिये" कहलाते हैं। इनके कुलदेवी "चामुंडा" और यक्ष "गोनस" होने से इन नामों के आद्यंत अक्षर लेकर बालक का नाम देवताप्रीत्यर्थ "चाङ्गदेव" रक्खा गया। यही चाङ्गदेव, जैसा कि हम आगे चलकर बतलावेंगे, कालांतर में "हेमचन्द्र आचार्य" बना।

एक बार श्रीदेवचन्द्राचार्य* अणहिल्ल पत्तन (पाटण) से प्रस्थान कर तीर्थयात्रा के प्रसंग में धंधुका पहुँचे और वहाँ मोढवंशियों की वसही (जैन मंदिर) में दर्शन के लिये पधारे। वहीं पर उस समय शिशु चाङ्गदेव, जिसकी आयु पाँच वर्ष की थी, खेलते खेलते बाल चापल्य स्वभाव से देवचन्द्राचार्य की गद्दी पर बड़ी कुशलता से जा बैठा। वे उसके अङ्ग प्रत्यङ्ग के अलौकिक लक्षणों को देख कहने लगे कि यदि यह बालक क्षत्रिय कुलोत्पन्न है, तो अवश्य सार्वभौम राजा बनेगा। यदि वैश्य अथवा विप्र कुल में उत्पन्न हुआ है, तो महामात्य बनेगा, और यदि कहीं इसने दीक्षा ग्रहण कर ली, तो युगप्रधान के समान अवश्य इस कलिकाल में कृतयुग को स्थापित करनेवाला होगा। चाङ्गदेव के सहज साहस, शरीर-सौष्ठव, चेष्टा, प्रतिभा और भव्यता ने आचार्य के मन पर बहुत गहरा प्रभाव डाला और वे सानुराग उस बालक को प्राप्त करने की लिप्सा से उस नगर के व्यवहारियों को अपने साथ ले स्वयं चाचिग के निवास स्थान पर पधारे। उस

* पूर्णतल्लगच्छ में यशोभद्रसूरि एक प्रसिद्ध विद्वान् हो चुके हैं, जिनके उपदेश के प्रभाव से बगड़ देश के राणा यशोभद्र ने दीक्षा ग्रहण की और डिंडुआणापुर में एक बृहद् जैन मंदिर बनवाया। इनके शिष्य का नाम प्रद्युम्न सूरि था, जिसने "स्थानक प्रकरण" नामका एक ग्रंथ लिखा। उनके शिष्य का नाम गुणसेन सूरि था। गुणसेन सूरि के पट्ट पर श्रीदेवचन्द्रसूरि विराजमान हुए और इन्होंने ठाणांगवृत्ति (स्थानक प्रकरण पर एक टीका), शान्तिनाथ चरितादि ग्रंथ रचे और कई शास्त्रार्थ किए, जिनमें से एक का जो दिगम्बर शाखानुयायी कुमुदचन्द्राचार्य से हुआ था, वर्णन आगे मिलेगा।

अवसर पर चाचिग किसी गाँव को गया हुआ था; अतः उसकी अनुपस्थिति में उसकी विवेकवती धर्मपत्नी ने समुचित स्वागतादि से अतिथियों को परितुष्ट किया। तदनन्तर जब उसे पूर्व वृत्त का सूत्रपात कर यह विदित किया गया कि आचार्य महोदय चाङ्गदेव को प्राप्त करने की इच्छा से यहाँ पधारे हैं, तब पहले अपने पुत्र के गौरव से अपनी आत्मा को गौरवान्वित समझ वह प्रज्ञावती हर्ष के आँसू बहाने लगी और उनके उत्तम प्रस्ताव पर धन्यवाद देने लगी; परन्तु फिर अपने अधिकार की सीमा को निहार अपनी लाचारी प्रकट करती हुई बोली कि मुझ को खेद है कि इसका पिता मिथ्यादृष्टि है; तो भी जैसा वह है, वैसा संप्रति इस ग्राम में और कोई विद्यमान नहीं है। इस पर उन प्रतिष्ठित सेठ साहूकारों ने उसे कहा कि तू तो अपनी ओर से इसे दे दे। यों माता ने अमित गुणपात्र अपने पुत्र-रत्न को गुरुजी के समर्पण कर दिया। गुरुजी अपनी इच्छा के पूर्ण हो जाने से प्रसन्न हुए और जब उन्होंने बालक से पूछा—"वत्स! तू हमारा शिष्य बनेगा?" तो "जी हाँ, अवश्य बनूँगा" ऐसा उत्तर पाकर और भी अधिक प्रसन्न हुए और उसे अपने साथ ले जाकर कर्णावती (अहमदाबाद के निकट का प्राचीन नगर) पहुँचकर उदयन* मंत्री के यहाँ रख दिया, जहाँ उसका अपने

---

* उदयन मरुमण्डल (मारवाड़) देश का रहनेवाला श्रीमाली वैश्य था। एक बार वह वर्षा ऋतु में घृत मोल लेने रात ही में चल पड़ा। मार्ग में उसने जल से भरे एक खेत से दूसरे खेत में जल पहुँचाते हुए मजदूरों से पूछा—"तुम कौन हो?" उन्होंने कहा—हम अमुक के कामुक हैं। तदनन्तर उसके मुँह से निकला कि कहा मेरे भी कामुक है? उन्होंने कहा—'कर्णावती में। वह फिर कर्णावती को सकुटुम्ब चला गया। जब वह वहाँ जिनायतन में देवार्चन कर रहा था, तब लाछि नाम की एक छीप जाति की श्राविका ने उसके प्रति सत्कार प्रकट किया और पूछा कि आप किसके अतिथि हैं? उसने कहा—मैं विदेशी हूँ, अब आपका ही अतिथि हूँ। तदनन्तर वह उसे अपने साथ ले गई और किसी सेठ के यहाँ भोजन कर अपने घर के एक कोठे में ठहरा दिया। कालान्तर में जब उसी कोठे की वह मरम्मत करा रहा था, तब उसकी नींव में से प्रचुर धन मिल गया। वह उस धन को छीपन को देने गया, परन्तु उसने स्वीकार नहीं किया। उसके प्रभाव से वह उदयन मंत्री नाम से प्रसिद्ध हुआ।

समान आयुवाले उस परिवार के बालकों के साथ लालन पालन होने लगा।

हेमचन्द्र के शैशव काल का इतिहास उक्त भाँति का मिलता है। इस विषय में कई ग्रन्थों में परस्पर थोड़ा हेरफेर है। उदाहरणार्थ जिनमंडन ने अपने कुमारपाल प्रबन्ध में और चन्द्रप्रभसूरि ने प्रभावक चरित में चाङ्गदेव की अवस्था देवचन्द्र के आसन पर बैठनेवाली घटना के समय पाँच वर्ष की बतलाई है; परंतु मेरुतुङ्गाचार्य ने प्रबन्धचिन्तामणि में आठ वर्ष की बतलाई है। राजशेखर सूरि ने अपने चतुर्विंशतिप्रबन्ध में लिखा है कि देवचन्द्र धर्मोपदेश देते थे; तब एक समय नेमिनाग नामक श्रावक ने उनसे उठकर कहा कि भगवन्! यह मेरा भान्जा आपकी देशना सुनकर प्रबुद्ध हो दीक्षा माँगता है। जब यह गर्भ में था, तब मेरी बहन ने सहकार तरु देखा था, जो स्थानान्तर में बहुत फलवान् हुआ, ऐसा उसे भान हुआ था। गुरुजी ने कहा कि स्थानान्तर में यह महामहिम होगा। यह अवश्य योग्य, सुलक्षण और दीक्षणीय है। इस विषय में इसके पिता की अनुमति आवश्यक है। तदनन्तर मामाजी ने अपनी बहन के घर पहुँच कर भान्जे की व्रत-वासना की चर्चा की। माता पिता के निषेध करने पर भी चाङ्गदेव दीक्षा ही चाहने लगा। जिनमंडन ने लिखा है कि एक बार पाहिणी ने देवचन्द्र से कहा कि मैंने स्वप्न में ऐसा देखा कि मुझे चिन्तामणि रत्न प्राप्त हुआ, जो मैंने आपको दे दिया। गुरुजी ने कहा कि इस स्वप्न का यह फल है कि तेरे एक चिन्तामणि-तुल्य पुत्र उत्पन्न होगा; परन्तु गुरु को रत्न दे देने से वह सूरिराज होगा, गृहस्थ न होगा। कालांतर में जब चाङ्गदेव गुरु के आसन पर सहसा जा बैठा, तब उन्होंने कहा कि देख पाहिणी

और उसने कर्णावती में भूत, भविष्य वर्तमान २४ जिनों से समलंकृत थी उदयन विहार बनवाया। उसको कई स्त्रियों से चाहडदेव, आँबड़, बाहड और सोलाक नाम के चार पुत्र हुए थे।

सुश्राविका, तूने जो एक बार अपने स्वप्न की चर्चा की थी, उसका फल आँखों के सामने आ गया है। तदनन्तर जब देवचन्द्र संघ के साथ चाङ्गदेव को माँगने पाहिणी के घर पहुँचे, तब उसने सोचा—

कल्पद्रुमस्तस्य गृहेऽवतीर्णश्चिन्तामणिस्तस्य करे लुलोठ।
त्रैलोक्यलक्ष्मीरपि तं वृणीते गेहाङ्गणं यस्य पुनाति सङ्घः॥

आशय—जिसके आँगन को संघ पवित्र करता है, उसके घर तो कल्पद्रुम अवतीर्ण होता है; उसके हाथ में चिंतामणि और तीनों लोकों की लक्ष्मी आ जाती है। फिर अपने घरवालों की सलाह न मानकर भी पुत्र को गुरुजी को भेंट कर दिया।

इसके पश्चात् सब ग्रन्थों में बिना विरोध के हमें जो वृत्तांत मिलता है, वह यह है कि ग्रामान्तर से चाचिग अपने घर आया और आते ही अपने पुत्र संबंधी घटना को सुनते ही यह प्रतिज्ञा कर तुरंत कर्णावती पहुँचा—"जब तक अपने प्यारे पुत्र को न देख लूँगा, तब तक अन्न जल नहीं ग्रहण करूँगा"। पुत्र के अपहार से वह खिन्न तो था ही, परंतु फिर भी शिष्टाचार निबाहने के लिये देवचन्द्राचार्य को, जो उस समय धर्म-देशना दे रहे थे, थोड़ा बहुत प्रणाम किया। ज्ञान-राशि गुरुजी उसको देखते ही उसके पुत्र की भाँति उसकी भी वास्तविकता को तुरंत ताड़ गए और व्याख्यान के क्रम में ही चाचिग को नम्र एवं स्निग्ध करने के विचार से कहने लगे—

कुलं पवित्रं जननी कृतार्था वसुन्धरा भाग्यवती च तेन।
अवाह्यमार्गे सुखसिन्धुमग्नं लीनं परब्रह्मणि यस्य चेतः॥
कलङ्कं कुरुते कश्चित्कुलेऽतिविमले सुतः।
धननाशकरः कश्चिद्व्यसनैः पुण्यनाशनैः॥
पित्रोः संतापकः कोऽपि यौवने प्रेयसीमुखः।
बाल्येऽपि म्रियते कोऽपि स्यात् कोऽपि विकलेन्द्रियः॥

सर्वाङ्गसुन्दरः किंतु ज्ञानवान् गुणनीरधिः ।
श्री जिनेन्द्रपथाध्वन्यः प्राप्यते पुण्यतः सुतः ॥

आशय—देखो ! जिसका मन परब्रह्म में संलग्न है, उसने अपने कुल को पवित्र कर दिया, अपनी माता को कृतार्थ कर दिया । सच पूछो तो यह वसुंधरा ऐसे पुत्र से भाग्यवती होती है । देखो, कोई तो ऐसा पुत्र होता है, जो निर्मल कुल में कलंक लगा देता है; कोई पुण्य के नाश करनेवाले व्यसनों में फँसकर धन का नाश कर देता है; कोई यौवन में स्त्री के विलास में फँसकर माँ बाप के मन में संताप उत्पन्न करता है; कोई बचपन में ही मर जाता है; कोई विकलेन्द्रिय होता है । परंतु सच समझो, ज्ञानवान्, गुणनिधान, रूपराशि और श्री जिनेन्द्र-मार्गानुरक्त पुत्र तो अतुलित पुण्य प्रताप से ही मिलता है ।

इस अरसे में उन्होंने उदयन मंत्री को भी अपने पास बुलवा लिया, जो आते ही चाचिग को धर्म के बड़े भाई के नाते श्रद्धापूर्वक अपने घर ले गया और बड़े सत्कार से उसे भोजन कराया । तदनन्तर उसकी गोद में पुत्र चाङ्गदेव को विराजमान कर पंचाङ्ग प्रसाद सहित तीन दुशाले और तीन लाख रुपए भेंट किए । कुछ तो गुरु की आदेशना के सुनने से चाचिग के चित्त पर असर हो ही चुका था, और उस पर फिर इस असीम सन्मान का प्रभाव पड़ा । चाचिग बड़ी चतुराई के साथ बोला कि देखिए, आप तो तीन लाख रुपए देते हुए उदारता के छल में कृपणता प्रकट कर रहे हैं । देखिए, मेरा पुत्र अमूल्य है । परंतु साथ ही मैं देखता हूँ कि आपकी भक्ति उसकी अपेक्षा कहीं अधिक अमूल्य है; अतः इस बालक के मूल्य में अपनी भक्ति ही रहने दीजिए । आपके द्रव्य को तो मैं शिव निर्माल्य के समान स्पर्श भी नहीं कर सकता । चाचिग से उसके पुत्र का स्वरूप इस प्रकार सुन, प्रमोद पूरित चित्त से अवसरज्ञ मंत्री विशेष उत्कण्ठा से उसे अपने कंठ लगा 'साधु साधु' कहता हुआ बोला कि यदि आप अपने आत्मज को मुझे

समर्पित करते हो, तो यह योगी मर्कट (मदारी के बंदर) के समान सब को नमस्कार करता हुआ केवल अपमान का पात्र होगा। परंतु यदि इसे भी पूज्यपाद गुरुवर्य्य महाराज के चरणारविंद में समर्पण करेंगे, तो यह गुरुपद प्राप्त कर बालेन्दु के समान त्रिभुवन का पूज्य हो जायगा। अतः आप सम्यक् रूप से विचार कर वचन कहिए। इस पर चाचिग ने यह कहकर कि 'आपका वचन ही प्रमाण है' अपने पुत्र रत्न को गुरुजी की भेंट कर दिया।

गुरुजी इस बात से बहुत प्रसन्न हुए और कहने लगे—

धनधान्यस्य दातारः सन्ति क्वचन केचन।
पुत्रभिक्षाप्रदः कोऽपि दुर्लभः पुण्यवान् पुमान्॥
धनधान्यादिसंपत्सु लोके सारा च सन्ततिः।
तत्रापि पुत्ररत्नं तु तस्य दानं महत्तमम्॥
स्वर्गस्थाः पितरो वीक्ष्य दीक्षितं जिनदीक्षया।
मोक्षाभिलाषिणं पुत्रं तृप्ताः स्युः स्वर्गिसंसदि॥

महाभारत में भी कहा है—

तावद्भ्रमन्ति संसारे पितरः पिण्डकाङ्क्षिणः।
यावत्कुले विशुद्धात्मा यतीपुत्रो न जायते॥

धन-धान्य के देनेवाले कहीं मिल ही जाते हैं, किंतु पुत्र की भिक्षा देनेवाला कोई पुण्यवान् दुर्लभ मिलता है; क्योंकि देखो, धनधान्यादि संपत्ति में जो सारभूत है, वह संतति है। उसमें भी अधिक इष्ट पुत्र रत्न होता है, जिसका दान सब से ऊंचा दान है। स्वर्ग में विराजमान पितर इस लोक में जिन-दीक्षा के लिये दीक्षित मोक्षाभिलाषी पुत्र को देखकर बहुत प्रसन्न होते हैं। पिंड को चाहनेवाले पितर इस संसार में तभी तक भ्रमण करते हैं, जब तक उनके कुल में कोई विशुद्धात्मा यती-पुत्र उत्पन्न नहीं होता।

तदनन्तर चाचिग और उदयन मंत्री ने चांगदेव का प्रव्रज्या (दीक्षा) महोत्सव कराया और इस अवसर पर देवचन्द्रसूरि ने इस बालक का नाम "सोमचन्द्र" रखा। यह संस्कार स्तंभतीर्थ के श्रीपार्श्वनाथ के मंदिर में वि० सं ११५४ माघ सुदि १४ शनिवार को हुआ था।

बालक के भविष्य के निर्माण में माता पिता और आचार्य प्रधान रूप से सहायक होते हैं। हेमचन्द्र की माता के संबंध का कथन ऊपर हो चुका है। इस लेख को लिखते हुए जो एक बात चित्त को पर्याकुलित करती है, वह इसके पिता का प्रशंसा न पाना है। क्या तीन लाख रुपए की ढेरी पर लात मारने का एक ही काम उसके पिता के चरित की उज्ज्वलता दिखाने के लिये पर्याप्त नहीं है? जैन ग्रन्थों में पाहिणी के मुख से "एतत्पिता मिथ्यादृष्टि' तादृशोऽपिग्रामे नास्ति" वचन का मिलना यह बतलाता है कि पिता की रुचि कदाचित् जैन धर्म में मंद थी और वह श्राद्ध कर्मादि को, जो मुख्य रूप से पुत्र द्वारा संपादनीय हैं, सत्कार बुद्धि से देखता था।

अब गुरु जी के पास सोमचन्द्र का विद्याध्ययन प्रारंभ हुआ। तर्क, लक्षण और साहित्य विद्या बहुत थोड़े ही समय में इस नूतन विद्यार्थी ने अधिगत कर ली। जैन आचार्यों के नियमानुसार देवचन्द्रसूरि ने सात वर्ष आठ महीने एक स्थान से दूसरे स्थान पर परिभ्रमण करते हुए और चार महीने किसी सद्गृहस्थ के यहाँ निवास करते हुए बिताए होंगे और हेमचन्द्र को उन्होंने अपने साथ रक्खा होगा। यह परिभ्रमण की शैली भी हेमचन्द्र को अभिनव आयु में ही लोकप्रसिद्ध देश देशांतरों के ज्ञान से संपन्न और लोक मर्यादा से सुपरिचित कराने में बहुत कुछ सहायक हुई होगी। हमें हेमचन्द्र का नागपुर में धनद नामक सेठ के यहाँ, और कश्मीर में तथा देवेन्द्रसूरि और मलयगिरि के साथ गौड़ देश के खिल्लरग्राम में जाना लिखा मिलता है। साथ ही तीर्थाटन कर ये २१ वर्ष की अवस्था में अगस्त्यजी के सदृश समस्त शास्त्ररूपी सागर का

आगमन कर गए। गुरुजी ने इनके अगाध पांडित्य से प्रसन्न हो और इनके शरीर को सूरि के ३६ गुणों से समलंकृत देख इन्हें आचार्य पद से समलंकृत किया। यह महोत्सव उपर्युक्त नागपुर के धनद नामक व्यवहारी ने सं० ११६६ में कराया था; और सोमचन्द्र की हेम के समान कान्ति और चन्द्र के समान आह्लादकता होनेके कारण तदनुकूल "हेमचन्द्राचार्य" संज्ञा हुई। हेमचन्द्र के आरम्भ काल का इतना ही वृत्तांत मिलता है।

हेमचन्द्र और सिद्धराज जयसिंह

हेमचन्द्र का गुजरात के राजा सिद्धराज जयसिंह से सर्व प्रथम कब और कैसे मिलना हुआ, इसका संतोषजनक वृत्तांत नहीं मिलता। कहा जाता है कि एक दिन सिद्धराज जयसिंह हाथी पर सवार होकर पाटण के राजमार्ग में जा रहे थे। उन्होंने मार्ग में हेमचन्द्र को देखा। मुनीन्द्र की नयनानन्द मूर्ति देखकर वे प्रसन्न हुए और खड़े खड़े ही उनके थोड़े से वार्तालाप से प्रसन्न होकर कहा कि आप महल में पधार कर दर्शन देने की कृपा करें। तदनन्तर हेमचन्द्र ने यथा अवसर राजसभा में जाकर राजा को प्रसन्न किया। यों राजदरबार में इनका प्रवेश आरम्भ हुआ और इनके पांडित्य, दूरदर्शिता और सर्व धर्म स्नेह के कारण इनका प्रभाव राजसभा में उत्तरोत्तर बढ़ता गया।

सिद्धराज को धर्म-चर्चा सुनने का बड़ा चाव था। एकबार उन्होंने हेमचन्द्र से कहा कि हम दर्शन ग्रंथों में अपने मत की स्तुति और दूसरों के मत की निन्दा सुनते हैं। कहिए, आपके विचार में संसार सागर से पार करनेवाला कौन सा धर्म है ? इस प्रश्न के उत्तर में उन्होंने पुराणोक्त शंख का निम्नलिखित आख्यान कहा।

शंखपुर में शंख नामक एक सेठ और यशोमती नाम की उसकी स्त्री रहती थी। पति ने अपनी पत्नी से अप्रसन्न होकर एक दूसरी स्त्री से

विवाह कर लिया। अब वह नवोढ़ा के वश होकर बेचारी यशोमती को आँखों से देखना भी बुरा समझने लगा। यशोमती दुःखी होकर सोचने लगी—

वरं रङ्ककलत्रत्वं वरं वैधव्यवेदना।
वरं नरकवासो वा मा सपत्नीपराभवः॥

आशय—रंक की स्त्री होना अथवा विधवा हो जाना अथवा नरक में जाना किसी कदर अच्छा है, परंतु सौत का तिरस्कार किसी तरह अच्छा नहीं।

एक बार कोई कलावंत गौड़ देश से आया। यशोमती ने उसकी पूर्ण श्रद्धा भक्ति से सेवा की और उससे एक ऐसी औषध ले ली, जिसके द्वारा पुरुष पशु बन सकता था। वह औषध यशोमती ने किसी प्रकार से भोजन द्वारा अपने पति को खिला दी, जिससे वह तत्काल बैल बन गया। पर वह बैल को पुरुष बनाने की रीति नहीं जानती थी; अतः मन में बड़ी दुःखी और लोक में परम निन्दनीय हो गई। बेचारी जंगल में किसी घासवाली भूमि में एक वृक्ष के नीचे बैल रूपी अपने पति को घास चराया करती थी और बैठी बैठी विलाप किया करती थी। दैव संयोग से एक दिन शिव और पार्वती विमान में बैठे हुए आकाश मार्ग से उसी ओर जा रहे थे। पार्वती ने उसका अति करुण विलाप सुनकर शंकर भगवान् से पूछा कि इसके दुःख का क्या कारण है। उन्होंने उसकी शंका का समाधान कर दिया, और दयालु पार्वती के अनुरोध करने पर कहा कि इस वृक्ष की छाया में ही पशु को पुरुष बनाने की औषधि विद्यमान है। यशोमती ने भी पार्वती और परमेश्वर का यह संवाद सुना और वृक्ष की छाया को रेखांकित कर उसके मध्यवर्ती औषधांकुरों को तोड़ बैल के मुख में डाल दिया। यशोमती को उस औषध के स्वरूप का तनिक भी पता न था; परंतु वह औषध घास के साथ बैल के मुख में चली जाने के कारण वह पशु फिर पुरुष हो गया। इसलिये—

तिरोधीयत दर्भाद्यैर्यथा दिव्यं तदौषधम् ।
तथाऽमुष्मिन् युगे सत्यो धर्मो धर्मान्तरैर्नृप: ।।
परं समग्रधर्माणां सेवनात्कस्यचित्क्वचित् ।
जायते शुद्धधर्माप्तिर्दर्भच्छन्नौषधाप्तिवत् ।।

आशय—हे राजन् ! जैसे दर्भादि के मिल जाने से उसे दिव्य औषध की पहचान नहीं होती थी, वैसे ही इस युग में कई धर्मों से सत्य धर्म तिरोभूत हो रहा है। परंतु समग्र धर्मों के सेवन से उस दिव्य औषध की प्राप्ति के समान पुरुष को कभी न कभी शुद्ध धर्म की प्राप्ति हो ही जाती है। हे राजन्, जीव दया, सत्य वचनादि से बिना विरोध के सर्व धर्मों का आराधन हो जाता है। हेमचन्द्र के इस उत्तर से सब सभासद और राजा बहुत प्रसन्न हुए थे।

एक बार सिद्धराज के अनुरोध से हेमचन्द्र ने पाटण में ही चातुर्मास किया। वहाँ श्रीचतुर्मुख नामक जिनालय में श्रीनेमिचरित्र का व्याख्यान हो रहा था। उस व्याख्यान के प्रसंग मे वक्ता ने पांडवों की प्रव्रज्या और शत्रुञ्जय की यात्रा का वर्णन किया। यह सुनकर ब्राह्मण अप्रसन्न हुए; और उन्होंने जयसिंह नरेश के पास जाकर निवेदन किया कि ये श्वेताम्बर लोग धर्मद्वेष के कारण पांडवों के इतिहास पर अनुचित आक्षेप करते हैं। राजा ने दूसरे दिन समग्र सामन्तों, राजगुरु और पुरोहितादि के समक्ष हेमचन्द्रसूरि को बुलवाया और उनसे पांडवो की मुक्ति के विषय में वार्तालाप किया। इस प्रसंग मे हेमचन्द्र ने कहा कि महाभारत में लिखा है कि भीष्म पितामह ने युद्ध करते हुए कहा था कि यदि मेरे प्राण चले जायँ, तो मेरे शरीर का अंतिम संस्कार ऐसे स्थल पर करना, जहाँ कोई दग्ध न किया गया हो। अवसर आने पर लोग उनके शरीर को एक पर्वत की चोटी पर ले गए; परंतु ज्यों ही देह संस्कार करने लगे, त्यों ही आकाशवाणी हुई—अरे ठहरो !

अत्र भीष्मशतं दग्धं पाण्डवानां शतत्रयम्।
दुर्योधनसहस्रं तु कर्णसंख्या न विद्यते ॥

अर्थात्—यहाँ तो १०० भीष्म, ३०० पांडव, १००० दुर्योधन और न जाने कितने कर्ण दग्ध किए जा चुके हैं।

राजन्! भारत के इस वाक्य से सुस्पष्ट है कि अनेक पांडव हो चुके हैं। क्या आश्चर्य है, यदि उनमें से कोई जैन धर्मावलम्बी हुए हों। शत्रुंजय, नाशिक्यपुर और चन्द्रप्रभ प्रासाद में उनकी मूर्तियाँ भी हैं।

अपनी विस्तृत विद्या के अतिरिक्त हेमचन्द्र में तपस्वी जीवन और शुद्ध चरित्र से दूसरों पर प्रभाव डालने की अद्भुत शक्ति थी। एक बार महामात्य सांतु अपनी बनाई हुई वसहिका में देव-नमस्कारार्थ जा रहा था। उसने मार्ग में एक चैत्यवासी ब्राह्मण श्वेताम्बर को वार-वेश्या के स्कन्ध पर अपना हाथ रखे हुए देखा। सांतु ने हाथी पर से उतरकर वस्त्र से अपना मुख ढक उसको पंचाङ्ग प्रणाम किया। वह अत्यन्त लज्जित हुआ और पतित पावन हेमचन्द्राचार्य के पास गया। उनके उपदेश से उसके हृदय में ज्ञान-ज्योति जगमगाई और वह विशेष तपस्या करने को शत्रुंजय चला गया। बारह वर्ष पीछे मंत्री सांतु शत्रुंजय गया और एक तपोधन मुनि को देख प्रणाम कर वार्तालाप से संतुष्ट हो उसने उसके गुरु-कुलादि के विषय में पूछा। उसने पूर्व प्रसंग सुनाकर कहा कि वस्तुतः आप ही मेरे गुरु हैं।

एक बार सिद्धराज सोमनाथ की यात्रा को पधारे। पीछे से मालवे के नरेश यशोवर्मा ने, जो छल ढूँढने में लगा रहता था, गुजरात में उपद्रव करना प्रारम्भ किया। सांतु मंत्री ने जैसे तैसे उसे टालना अच्छा समझा; अतः उसके यह कहने पर कि "यदि तुम अपने स्वामी की सोमनाथ की यात्रा का पुण्य मुझे दे दो, तो मैं लौट जाऊँ" मंत्री ने आवश्यक संकल्प कर दिया। लौटने पर सिद्धराज यह वृत्तांत सुनकर अप्रसन्न हुए और तुरंत यशोवर्मा से युद्ध छेड़ धारा का दुर्ग भंग

कर उसे रस्से से बाँध पाटण ले आए। यह घटना संभवतः वि० सं० ११९० के लगभग की है। मालव देश यशोवर्मा और उसके पूर्वज नरवर्मा से सिद्धराज की अनबन चल रही थी; अतः चिरकाल के पश्चात् मालव पर ऐसी पूर्ण विजय प्राप्त करने पर पाटण में महोत्सव मनाया गया। उस अवसर पर राजा को आशीर्वाद देने के लिये सभी संप्रदायों के सुप्रसिद्ध विद्या-प्रवर बुलाए गए और उनका राज्य की ओर से वस्त्र द्रव्यादि से सत्कार किया गया। उस उत्सव में जैन विद्वान् भी आए थे, जिनके प्रमुख हेमचन्द्राचार्य ने निम्नलिखित श्लोक द्वारा राजा को आशीर्वाद दिया—

> भूमिं कामगवि ! स्वगोमयरसैरासिंच रत्नाकरा-
> मुक्तास्वस्तिकमातनुध्वमुडुप ! त्वं पूर्णकुम्भी भव।
> धृत्वा कल्पतरोर्दलानि सदलैर्दिग्वारणास्तोरणा-
> न्याधत्त स्वकरैर्विजित्य जगतीं नन्वेति सिद्धाधिपः॥

आशय—हे कामधेनु ! तू अपने गोबर से पृथ्वी पर चौका लगा। हे रत्नाकर ! तू अपने मोतियों का स्वस्तिक बना। हे चन्द्र ! तू पूर्ण कलश हो। हे दिग्गजो। तुम कल्पवृक्ष के पत्ते लेकर अपने सीधे सूँडों से तोरण बनाओ; क्योंकि नरेन्द्र शिरोमणि श्रीसिद्धराज जयसिंह दिग्विजय करके आ रहे हैं।

इस श्लोक के निष्प्रपंच निर्माण और अद्भुत अर्थ-चातुरी से चमत्कृत राजा सूरिजी की प्रशंसा करने लगा। उस अवसर पर किसी असहिष्णु ने कहा कि यह हमारे सनातन शास्त्रों के अध्ययन का ही प्रभाव है कि इनकी ऐसी विद्वत्ता है। राजा ने हेमचन्द्र से पूछा—क्या यह यथार्थ है ? उन्होंने उत्तर दिया कि हम तो उस जैनेंद्र व्याकरण का अध्ययन करते हैं, जिसका भगवान महावीर ने इन्द्र के समक्ष बाल्यकाल में व्याख्यान किया था। राजा ने कहा—इस पुरातन बात को तो जाने दीजिए और किसी दूसरे समीपवर्ती काल के वैया-

करण का नाम लीजिए। सूरिजी ने कहा—यदि श्रीमान् सहायक हों, तो अप नवीन पंचांग व्याकरण निर्माण कर दें। राजा ने प्रसन्नतापूर्वक हामी भर दी। तदनन्तर नवीन व्याकरण की रचना प्रारम्भ हुई। इस प्रसंग में राज्य द्वारा कश्मीर देश के प्रवरपुर के भारती कोप से तथा अन्य देशों से कई प्राचीन व्याकरणों की प्रतियाँ मँगवाई गईं और व्याकरण शास्त्र के कई विद्वान् देश देशान्तरों से बुलवाए गए। फिर सूरिजी ने समस्त व्याकरणों का अवगाहन कर एक ही वर्ष में सवा लक्ष श्लोकों *के प्रमाण का पंचांगपूर्ण व्याकरण रच डाला और राजा तथा अपने ज्ञान की स्मृति में उसका नाम "श्रीसिद्धहैम" रक्खा। फिर यह ग्रंथ राजा की सवारी के हाथी पर रखकर राजा के दरबार में लाया गया। हाथी पर दो चामर-ग्राहिणी स्त्रियाँ दोनों ओर चँवर करती जाती थीं और ग्रंथ पर श्वेत छत्र लगा हुआ था। तदनन्तर वह समक्ष राजसभा के विद्वानों के समक्ष पढ़ा गया और राजा से समुचित पूजोपचार किए जाने पर वह राजकीय सरस्वती कोप में स्थापित किया गया। जब ग्रंथ के शुद्धाशुद्ध की परीक्षा हो चुकी, तब ३०० लेखकों द्वारा तीन वर्ष तक उसकी प्रतियाँ तैय्यार कराई गई और राजाज्ञा से १८ देशों में अध्ययन अध्यापनार्थ भेजी गईं।

इस ग्रंथ की चर्चा करते हुए एक बार किसी मत्सरी ने राजा को यह न्यूनता बतलाई कि इसमें आपका या आपके वंश का वर्णन तो है ही नहीं। राजा इस बात को जानकर कुछ अप्रसन्न हुए। हेमचंद्र के कानों तक जब यह बात पहुँची, तब उन्होंने ३२ नवीन श्लोक रचकर इसके अध्यायों के ३२ सूत्र पादों के अंत में जोड़ दिए। प्रात:काल राज-सभा में जब व्याकरण पढ़ा जा रहा था, तब हेमचंद्र ने चौलुक्य वंश की

* यह ग्रंथ श्लोकबद्ध नहीं है। सपादलक्ष ग्रंथ प्रमाण का यह अर्थ है कि इस ग्रंथ का विस्तार सवा लाख श्लोकों के बराबर था। ऐसी गणना में ३२ अक्षरों का एक श्लोक गिन लिया करते हैं।

स्तुति के श्लोक सुनाकर राजा को प्रसन्न कर लिया। उन श्लोकों में से एक यह है—

हरिरिव बलियन्धकरस्त्रिशक्तियुक्तः पिनाकपाणिरिव ।
कमलाश्रयश्च विधिरिव जयति श्रीमूलराजनृपः ॥

आशय—हरि के समान बलि (बलि राजा, और बलवान्) का बंधन करनेवाले, शंकर के समान तीन शक्तियों (प्रभाव, उत्साह और मंत्र) से युक्त, ब्रह्मा के सदृश कमलाश्रय (कमल = लक्ष्मी, कमल) श्रीमूलराज की जय हो ।

सिद्धहेम व्याकरण का उपर्युक्त वृत्तांत हमने महोपाध्याय जिनमंडन के कुमारपाल प्रबंध और मेरुतुंगाचार्य की प्रबंधचिंतामणि के अनुसार लिखा है। पर चंद्रप्रभसूरि ने अपने प्रभावक-चरित्र में लिखा है कि सिद्धराज ने अवंति के कोश की पुस्तकें देखीं। उनमें एक भोज व्याकरण की पुस्तक भी थी। भोज की विद्या-संबंधी कीर्ति बड़ी भारी थी। उसने शब्द, अलंकार, ज्योतिष, तर्क, चिकित्सा, राजसिद्धांत, वनस्पति, गणित, दर्शन, स्वप्न, सामुद्रिक, शकुन, अर्थ, मंत्र शास्त्र आदि के अनेकानेक ग्रंथ बनाए और बनवाए थे। सिद्धराज ने कहा कि क्या हमारे गुर्जर देश में कोई ऐसा विद्वान् नहीं है जो ऐसी रचना कर सके ? सब लोगों ने हेमचंद्र की ओर देखा; और तब राजा ने उनसे विश्वलोकोपकार तथा स्वकीर्ति के लिये नूतन व्याकरण रचवाया। इस संबंध में व्याकरण की ८ पुस्तकें कश्मीर से मँगवाई गई थीं। जब ग्रंथ समाप्त हो गया, तब राजा ने इसी का अपने देश में अध्ययन अध्यापन प्रारम्भ कराया; और अंग, बंग, कलिंग, लाट, कर्णाट, कुंकण, महाराष्ट्र, सुराष्ट्र, वत्स, कच्छ, मालव, सिंधु, सौवीर, नेपाल, पारसीक, मुरंडक, गंगापार, हरद्वार, काशी, चेदी, गया, कुरुक्षेत्र, कान्यकुब्ज, गौड़, कामरूप, सपादलक्ष, जालंधर, खस, सिंहल आदि देशों में इसका प्रचार करवाया और इसकी २० प्रतियाँ कश्मीर भिजवाईं।

जैन विद्वानों ने हेमचंद्र की अतिशय प्रशंसा करने के साथ ब्राह्मणों की कितनी निन्दा की है, इसका कुछ परिचय कराने के लिये चारित्रसुन्दरगणि के कुमारपाल चरित्र से कुछ अंश यहाँ उद्धृत करते हैं—

नरेश ! नामापि न वर्तते ते शास्त्रेऽत्र चित्रेऽपि गुरुप्रयोगे. ।
चक्रेऽमुनेदं निजकीर्तिहेतोरिदं पुरोधा निशि भूपमूचे ॥ १. ३३.
एवं चेत्तद्रससास्प्रातरेतच्छास्त्रं विद्वन् ! सर्वसाक्षं करिष्ये ।
देशत्यागं सूरये सार्द्धमन्यैर्दास्याम्येवं भूपतिः प्राहकोपात् ॥ १.३४.
तावत्समागत्य जवेन भारतीत्युवाच वाचंयमवर्यमेनम् ।
विमुंच सादं भज सुप्रसादं प्रभो ! विषादं वितथं कृथा मा ॥ १. ३८
अनुज्ञया सूरिवरस्य गत्वा लेखेश्वरी तत्र तदा लिलेख ।
चौलुक्यभूपालकुलप्रशस्ति द्वात्रिंशता शस्ततरैः कवित्वैः ॥ १.३९.
निर्वासितोऽगांजडयीः स दूरं पूरं च हर्षस्य बभार सूरिः ।
श्रीभूपकोपप्रशमाय कश्चिज्जगाद विप्रः सदसीति वाक्यम् ॥ १. ४५.
भ्रातः पाणिनि ! संवृणु प्रलपितं कातन्त्रकन्था वृथा ।
कष्टं भो । कटुशाकटायनवचः क्षुद्रेण चांद्रेण किम् ।
किं कण्ठाभरणादिभिर्वठरयस्यात्मानमन्यैरपि ।
श्रूयन्ते यदि तावदर्थमधुराः श्रीसिद्धहेमोक्तय. ॥ १. ४६.

आशय—सिद्धराज के पुरोहित ने एक दिन दरबार में कहा कि राजन् ! इस ग्रन्थ में तो आपका नाम तक नहीं है । उसने केवल अपनी ही कीर्ति के लिये इसे रचा है । राजा ने कहा—यदि ऐसी बात है, तो कल दिन निकलते ही लो, मैं सब के सामने उस पोथी में पलीता लगा मूँडिये को उसके साथियों समेत देश से निकाल देता हूँ । यह वृत्तांत सज्जन नाम के राजमंत्री ने सूरिजी के कानों तक पहुँचा दिया । सूरिजी बहुत पर्याकुल हुए और शारदा का स्मरण करने लगे । शारदा तुरंत समीप आई; आश्वासन दिया और सूरिजी की अनुज्ञा से राजा के महलों में जाकर उस व्याकरण में चौलुक्य राजा के कुल की प्रशंसा

क ३२ श्लोक स्वयं लिख आई। दूसरे दिन राजा ने सूरिजी को बुलाया और कहा कि क्या आपने हमारा नाम तक इस ग्रंथ में नहीं लिखा ? उन्होंने हँसकर कहा–राजन्, पूछते क्या हैं, ग्रंथ उठाकर देख लीजिए। तदनन्तर ग्रंथ में अपनी प्रशंसा के उन कोमल काव्यों को देख कहने लगे–' हे मुनीश, आप ब्रह्मा के अवतार हैं; बल्कि साक्षात् महेश्वर हैं '। राजा ने फिर उस चुगलखोर को खूब फटकारा और देश से निकाल दिया। हेमचन्द्र इस बात से बहुत प्रसन्न हुए। राजा के कोप को शांत करने के लिये उस समय किसी ब्राह्मण ने निम्नलिखित आशय का एक श्लोक सुनाया—

हे भाई पाणिनि ! अपनी जल्पना को रहने दे। बचारे कातन्त्र की कथा तो वृथा है। अरे शाकटायन ! क्यों कर्ण कटु कहता जाता है ? भला कुत्सित चान्द्रव्याकरण से क्या काम चलेगा ? और कंठाभरण आदि अन्यान्य व्याकरणों को पढ़ क्यों अपने आपको मूर्ख बनाते हो, जब कि श्रीहेमचन्द्र की अर्थ से परिपूर्ण मधुर सुधा सूक्तियाँ श्रवणों को आनन्द दे रही हैं ?

राजदरबार से पर्याप्त संबंध हो जाने के कारण हेमचन्द्र अधिकतर पाटण में ही रहने लगे। एक दिन डाहल देश के नरपति के संधिपत्र का प्रसंग चल रहा था, जिसके अंत मे निम्नलिखित श्लोक लिखा था–

आयुक्तः प्राणदोलोके वियुक्तो मुनिवल्लभः ।
संयुक्तः सर्वथानिष्टः केवली स्त्रीषु वल्लभः ॥

लोग इसका अर्थ समझने में उलझ रहे थे, जिससे हेमचन्द्र ने " हार " का अध्याहार कर कहा—" आ " से युक्त होकर " हार " प्राण का देनेवाला है; " वि " से युक्त होकर मुनियों का प्यारा है; " सं " से युक्त हुआ सर्वथा अनिष्ट है; और बिना किसी से मिले स्त्रियों का प्यारा है। यों आहार, विहार, संहार और हार शब्दों की रचना बताकर उसका गुप्त अभिप्राय प्रकट कर दिखाया।

सिद्धराज के समय में दिगम्बरों और श्वेताम्बरों में भी परस्पर शास्त्रार्थ हुआ करते थे। एक बार दिगम्बर शाखा के आचार्य कुमुदचन्द्र, जिन्होंने ८४ शास्त्रार्थों में वादियों को पराजित किया था, कर्णाट देश से गुर्जर देश में दिग्विजय करने के विचार से यात्रा करते हुए कर्णावती पहुँचे। वहाँ पर भट्टारक श्रीदेवसूरि चातुर्मास कर रहे थे। उन्होंने श्रीअरिष्टनेमि प्रासाद में धर्मशास्त्र का व्याख्यान किया था; और उस प्रसंग में उनकी वचन-चातुरी देखकर पंडितों ने उनकी विद्वत्ता की प्रशंसा कुमुदचन्द्र से की। कुमुदचन्द्र अपने सामने अपर पुरुष की और विशेषतः भिन्न संप्रदायवालों की कीर्ति सुनना सहन नहीं कर सके। उन्होंने श्रीदेवसूरि के उपाश्रय में तृण और उदक फेंक दिया *। देवसूरि ने इस बात की परवा नहीं की। परंतु जब उसने उनकी सपस्विनी बहन को बुरा भला कहा, तब उन्हें उससे यह कहना पड़ा कि यदि आप को वाद विद्या की अधिक चाह है, तो आप अणहिलपत्तन चलिए; वहाँ पर मैं राजसभा में आप के साथ वाद करूँगा। कुमुदचन्द्र वहाँ से चलकर पत्तन आए। ये सिद्धराज के नाना के गुरु होते थे; अतः इनके आगमन के अवसर पर राज्य की ओर से इनका सत्कार हुआ। तदनन्तर शास्त्रार्थ का प्रसंग चला। राजमाता मयणल्ल देवी कुमुदचन्द्र का पक्षपात करती और उनकी विजय के लिये राजकीय पंडितों पर दबाव डालती। श्वेताम्बरों के पक्ष का समर्थन करनेवाले श्रीदेवसूरि और हेमचन्द्र थे। जब हेमचन्द्र को राजमाता की प्रवृत्ति का पता लगा, तब उन्होंने राजपंडितों के द्वारा ही उसको यह विदित कराया कि ये दिगम्बर शाखावाले वाद में यह सिद्ध करने का प्रण करेंगे कि स्त्री कृत सुकृत निष्फल हैं; और श्वेताम्बरों का पक्ष इसके विपरीत होगा। राजमाता इस बात को जानते ही दिगम्बर शाखा के पक्षपातियों में मंद आदर हो गई। अस्तु, राजसभा में

---

* प्राचीन काल में शास्त्रार्थ के लिये आह्वान करने की यह एक शैली थी।

शास्त्रार्थ आरम्भ हुआ। पहले दोनों पक्षों का निम्नलिखित मत, जो उन्होंने एक दिन पूर्व दरबार में लिखकर दे दिया था, सुनाया गया।

केवलिहुडं न भुञ्जइ चीवरसहि अस्सं नत्थि निव्वाणं।
इत्थी हूया न सिज्झइ ई मयमेयं कुमुदचन्दस्स *॥

अथ सिताम्बराणामुत्तरम्

केवलि हूड विभञ्जइ चीवरसहि अस्स अत्थि निव्वाणं।
इत्थी हूयावि सिज्झइ मयमेयं देवसूरीणं †॥

सभा में बड़े बड़े पंडित और स्वयं सिद्धराज नरेश विद्यमान थे। कुमुदचन्द्र वृद्ध थे; हेमचन्द्र युवा थे। कुमुमचन्द्र ने हँसी करते हुए कहा—"पीतं तक्रं भवता" अर्थात् तुमने छाछ पी ली। हेमचन्द्र ने वादी का अन्तर्निहित छल अनुमान कर समुचित उत्तर दिया—"श्वेतं तक्रं पीता हरिद्रा" अर्थात् छाछ श्वेत होती है; पीली तो हलदी होती है। यों रुद्ध हो कुमुदचन्द्र ने पूछा—तुम दोनो में से कौन वादी है? देवसूरि ने हेमचन्द्र की ओर संकेत करके कहा कि यह आपका प्रतिवादी है। इस पर कुमुदचन्द्र ने कहा—मुझ बूढ़े का इस बालक से क्या वाद! हेमचन्द्र ने कहा—मैं नहीं, आप ही बाल्यावस्था में हैं, जो कोपीन भी नहीं लगाते। राजा ने ऐसा वितंडा-वाद बंद कराया और दोनों को यथार्थ वार्तालाप की ओर प्रेरित किया। तदनन्तर यह निर्णय हुआ कि यदि श्वेताम्बर पक्षवाले पराजित हो जायँगे, तो उन्हें दिगम्बरत्व अंगीकार करना पड़ेगा, परन्तु यदि दिगम्बरी हार गए, तो उन्हें देश त्याग करना पड़ेगा। यह शास्त्रार्थ १६ दिवस तक चला।

---

* केवली (केवलज्ञानी) भोजन नहीं करता, वस्त्र पहननेवाला निर्वाण नहीं प्राप्त करता और स्त्री की मुक्ति नहीं होती, यह कुमुदचन्द्र का मत है।

सिताम्बरों का उत्तर—

† केवली होकर भी भोजन कर सकता है, वस्त्र पहननेवाला भी निर्वाण प्राप्त कर सकता है और स्त्री को भी सिद्धि हो सकती है, यह देवसूरि का मत है।

इस अवसर पर यशोभद्र और वैयाकरण काकल ने भी देवसूरि की सहायता की। कुमुदचन्द्र हार गए और अपद्वार* से निकाले गए। देवसूरि के पांडित्य से राजा बहुत प्रसन्न हुए और उन्हें १२ गाँव भेंट किए। थाहड़ नामक एक उपासक ने इस विजय की प्रसन्नता में तीन लाख रुपए अर्थियों को दान दिए। उस अवसर पर अनेक विद्वानों ने देवसूरि की स्तुति की। हेमचन्द्र ने भी कहा—

यदिनाम कुमुदचन्द्रं नाजेष्यद्देवसूरिरहिमरुचिः।
कटिपरिधानमधास्यत् कतमः श्वेताम्बरो जगति॥

आशय—यदि हिम के समान कांतिवाले देवसूरि कुमुदचन्द्र को नहीं जीतते, तो संसार में किस श्वेताम्बर की कटि के नीचे वस्त्र रहता?

सिद्धराज जयसिंह विद्यानुरागी और धार्मिक चर्चा सुनने के प्रेमी थे। उनके दरबार में कई विद्वान् थे, जिनमें हेमचन्द्र भी सुप्रसिद्ध थे। सिद्धराज शिवजी के पूर्ण भक्त थे। हेमचन्द्र अपनी विद्या से सन्मान-भाजन बने, परन्तु अपने धर्म का प्रभाव उन पर न डाल सके। राजा की ओर से जैन मंदिरों पर ध्वजाएँ आरोपित करने की मनाही का वर्णन हमें मिलता है। राजा ने सोमनाथ की यात्रा में हेमचन्द्र को साथ ले जाते हुए वाहन पर बैठने को कहा; परंतु सूरिजी ने इन्कार किया। राजा ने कहा कि आप लोग व्यवहार से शून्य (जड़) हैं। इस प्रकार सूरिजी से खट पट हो गई। वे रुष्ट भी हो गए; परन्तु फिर परस्पर मेल हो गया। इस राजा के समय में ये जैनधर्म का विशेष प्रचार नहीं कर सके; और जो ग्रन्थ रचे, उनके मंगलाचरण के श्लोकों में भी जैन देवताओं की सामान्य स्तुति करके ही परितुष्ट रहे।

हेमचन्द्र आर कुमारपाल

सिद्धराज जयसिंह ने वि॰ सं॰ ११५१ से ११९९ तक राज्य किया।

---

* अपद्वार एक छोटा सा द्वार होता था जिसमें होकर वे लोग बाहर निकाले जाते थे, जिन्हें कौमी भी जानेवाली होती थी अथवा देश निकाला दिया जाता था।

उनके स्वर्गवासी होने के समय हेमचन्द्र की आयु ५४ वर्ष की थी। वे तब तक अच्छी प्रतिष्ठा पा चुके थे। सिद्धराज का कोई पुत्र न था; इससे उनके पश्चात् गद्दी का झगड़ा उठा और अंत में कुमारपाल * नामक एक व्यक्ति–सिद्धराज जिसके प्राण हरण करने का यत्न कर रहे थे–वि० सं० ११९९ मृगशिर वदी १४ को राज्याभिषिक्त हुआ। जब कुमारपाल अपने प्राण बचाने को एक स्थान से दूसरे स्थान को गुप्त वेष धारण कर भागता भागता स्तम्भतीर्थ पहुँचा था, उस समय वह वहाँ पर हेमचन्द्र और उदयन मंत्री से मिला था। उसने व्यसनदग्ध हो सूरिजी से पूछा कि क्या मेरे भाग्य में भी कभी सुख लिखा है? हेमचन्द्र ने सम्यक् विचार कर कहा कि तुम मृगशिर वदी १४ रविवार वि० सं० ११९९ को राजा बनोगे। फिर उन्होंने कुमारपाल तथा उदयन मंत्री को यह लिख दिया कि यदि यह घटना सत्य न हो, तो उस दिन से मैं भविष्य कहना छोड़ दूँगा। कुमारपाल ने कहा कि यदि आपका वचन सफल हो जायगा, तो आप ही पृथ्वीनाथ होंगे; मैं तो आपके पद पद्म का सेवक बना रहूँगा। सूरि ने कहा—हमें राज्य से क्या काम है! यदि तुम राजा बन जैन कर धर्म की सेवा करोगे, तो हम प्रसन्न होंगे। तदनन्तर सिद्धराज के भेजे हुए राजपुरुष कुमारपाल को ढूँढते ढूँढते स्तम्भतीर्थ में ही आ पहुँचे। उस अवसर पर हेमचन्द्र ने कुमारपाल को वसति के भूमिगृह (तहखाने) में छिपा दिया और उसके द्वार को पुस्तकों से ढक कर उसके प्राण बचाए। थोड़े दिन पश्चात् कुमारपाल हेमचन्द्र की भविष्यवाणी के अनुसार सिंहासनासीन हो गया।

राजा बनने के समय कुमारपाल की अवस्था ५० वर्ष की थी। वह

---

* सिद्धराज जयसिंह के दादा भीमराज के एक पुत्र हुआ जिसका नाम क्षेमराज था। कुमारपाल क्षेमराज या क्षेमेन्द्र का पिता था। मेरुतुंग के कथनानुसार क्षेमेन्द्र की माता चउलादेवी पण्याङ्गना थी, परन्तु शील में कुल स्त्री से भी बढ़कर गिनी जाती थी। वह राजमहल में रख ली गई थी। शायद कुमारपाल कुलीनता में न्यून समझा जाता था; इसी कारण सिद्धराज उसे मारना चाहते हों।

नाना प्रकार की कठिनाइयाँ भुगतने से अनुभवी और स्वावलम्बी हो चुका था। अतः वह औरों के ऊपर राज्य का कामकाज न छोड़ आप ही सब काम करने लगा। इससे राज्य के पूर्व अधिकारियों से वैर विरोध उत्पन्न हुआ। इन झगड़ों के शमन करने में तथा कई एक युद्ध करने में इस राजा के आरम्भ के कई वर्ष बीत गए। यह राजा स्वयं सिद्धराज के सदृश विद्वान् अथवा विद्यारसिक नहीं था; तो भी अपने पिछले वर्षों में धर्म और विद्या से प्रेम रखने लगा था।

कुमारपाल की राज्य-प्राप्ति सुनकर हेमचन्द्र कर्णावती से पाटण आए। उदयन मंत्री ने उनका प्रवेशोत्सव किया। उदयन मंत्री ने पूछा—कहो, अब राजा हमको याद करता है या नहीं ? इस पर मंत्री को कहना पड़ा—"नहीं याद करता।" सूरि ने कहा—अच्छा तुम राजा से एकांत स्थान में कहना कि आज आप नई रानी के महल में मत जायँ। वहाँ दैवी उत्पात की संभावना है। यदि वह पूछे कि तुम से किसने कहा है, और अधिक आग्रह करे, तब तुम मेरा नाम बताना। मंत्री ने ऐसा ही किया। रात्रि को महल पर बिजली गिरी और रानी मर गई। इस चमत्कार से अति विस्मित हो राजा मंत्री से पूछने लगा कि यह बात किस महात्मा ने बतलाई थी। राजा के विशेष आग्रह करने पर मंत्री ने गुरुजी के आगमन का समाचार सुनाया और राजा ने प्रमुदित होकर उन्हें महल में बुलवाया। सूरिजी पधारे। राजा ने उनका सम्मान किया और कहा कि उस घड़ी तो आपने हमारे प्राण बचाए; और यहाँ आकर मुझे दर्शन देने के योग्य भी नहीं समझा ! लीजिए, अब आप अपना राज्य सँभालिए। सूरि ने कहा—राजन् ! यदि कृतज्ञता स्मरण कर आप प्रत्युपकार करना चाहते हैं, तो आप जैन धर्म में अपना मन अर्पण कीजिए। इस पर राजा ने कहा—

भवदुक्तं करिष्येऽहं सर्वमेव शनैः शनैः।
कामयेऽहं परं सङ्गं निधेरिव तव प्रभो ॥

आशय—मैं आपका आदेश शनै. शनै पूरा करूँगा। मुझे निधि के समान आपके संग की आवश्यकता है। तदनन्तर सूरिजी राजसभा में आने और धर्म धर्मान्तर की व्याख्या करने लगे।

कुमारपाल ने राजा बनकर उन मनुष्यों का, जिन्होंने उसके साथ उपकार किया था, अच्छा प्रत्युपकार किया। केवल कान्हड़देव* को उस के पश्चात् कालीन दुर्व्यवहार के कारण दंड देना पड़ा। ऐसे कृतज्ञ पुरुष का हेमचन्द्र को भूल जाना और जैन ग्रंथो मे ऐसा उल्लेख होना कि सूरिजी को एक चमत्कार दिखाकर अपना परिचय कराना पड़ा, पूर्वोल्लिखित प्राण बचाने की घटना में संदेह डालता है, और यह सन्देह "करिष्येहं शनै शनै" से और भी पुष्ट हो जाता है। पूर्वपीठिका कुछ भी हो, परन्तु एक बात निर्विवाद है, और वह यह कि हेमचद्र का प्रभाव कुमारपाल पर उत्तरोत्तर बढता गया; और जहाँ सिद्धराज के समय में वे केवल अपनी विद्या के कारण दरबार में सत्कार भाजन बने हुए थे, वहाँ अब वे राजा के गुरु बन गए और उन्होंने अपने प्रभाव से जैन धर्म को अतुलित लाभ पहुँचाया। कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयदेव राजा का एक मत्री यशपाल था। उसने कुमारपाल के आध्यात्मिक जीवन के सबंध में मोहराजपराजय नामक पाँच अंकों का एक नाटक लिखा। यशपाल श्रावक भी था और कवि भी था, एव कुमारपाल का समकालीन भी

* राजा का हड़देव सिद्धराज जयसिंह का सेनापति और कुमारपाल का बहनोई था। उसी ने कुमारपाल को सिंहासन पर बैठाया था। परन्तु पीछे से वह उसके साथ अच्छा बरताव नहीं करने लगा। वह चाहे जब और चाहे जहाँ पूर्व दुरवस्था के मर्मों की चर्चा करता। कुमारपाल ने उसे समझाया कि आप अकेले में मुझ से चाहे जो कह लिया करें, परन्तु राजदरबार में ऐसा न करने की कृपा करें। उद्दण्डता और अवज्ञा के वश हो उसने कुछ ध्यान नहीं दिया। इस पर कुमारपाल ने गुप्त रीति से उसकी आँखें निकलवा लीं। सत्य है—

आदौ मयैव समदर्शि नृपो न तद्वै मामवहेलितोऽपि ।

इति प्रमाङ्गुलिसंदर्शितापि गृहीत को दीप इवाश्रयेऽपि ॥

अर्थात्—आदि मे मैंने ही इसे प्रदीप्त किया है, अत यह मुझ को अवहेलना करने पर भी नहीं जलावेगा, ऐसा भ्रम कर उँगली को पेर रा भी दीपक के समान राजा को न छूए।

था। उसने कुमारपाल द्वारा समग्र राज्य में प्राणिवध, मांसाशन, असत्य भाषण, द्यूतरमण, वेश्यागमन, परधनापहरणादि जन समाज की अवनति करनेवाले दुष्ट व्यसनों के बहिष्करण का वृत्तांत मनोहर रीति से वर्णन किया है और मृगशिर सुदी २ वि० सं० १२१६ को हेमचंद्र पुरोहित द्वारा धर्मराय और विरतिदेवी की पुत्री कृपासुन्दरी से कुमारपाल का विवाह होना वर्णित किया है। इससे यह परिणाम निकाला जाता है कि कुमारपाल ने राज्यारूढ़ होने के १६ वर्ष पश्चात् जैन धर्म अंगीकार किया था। यह राजा होते ही तुरन्त जैन नहीं हुआ। चिरकाल तक इस पर ब्राह्मणों का प्रभुत्व पर्याप्त रूप से बना रहा, जिसके संबध की कई घटनाएँ पाठकों को आगे मिलेंगी।

हेमचंद्रसूरि पाटण में निवास कर रहे थे। उनकी माता भी वहीं थी। अपनी प्यारी माता का देहावसान होने पर सूरि जी ने उसे एक करोड़ नमस्कार का पुण्य अर्पण किया। जब उसका विमान त्रिपुरुष धर्मस्थान के समीप होकर निकला, तब वहाँ के तपस्वियों ने बड़ा उपद्रव मचाया। यहाँ तक कि विमान को तोड़ने की भी धृष्टता की। हेमचद्र बहुत दूरदर्शी और गम्भीर थे। वे अपनी माता के शरीर की समुचित उत्तर क्रिया कर मालवा पहुँचे। वहाँ उस समय राजा कुमारपाल डेरा डाले हुए थे। हेमचंद्र ने सोचा—

आपण पइ प्रभु होइअ कइ प्रभु कीजइ हत्थि।
वज्ज करिवा माणुसह बीजउ मागु न अत्थि *।

आशय—या तो मनुष्य को स्वय समर्थ होना चाहिए या किसी समर्थ को अपने हाथ में कर लेना चाहिए। मनुष्य के लिये कार्य सिद्ध करने का इन दो के सिवा तीसरा कोई मार्ग नहीं है।

---

* स्वय प्रभु समर्थो भवेत् यदि कमपि प्रभुं क्रियते हस्ते।
मनुष्याणां कार्यं कर्तुमन्यो मार्गो नास्तीति ॥ हेमचन्द्रवाक्यम्।

प्रबंधचिंतामणि में लिखा है कि वहाँ पर उदयन मंत्री ने राजा से सूरिजी का आगमन निवेदन किया और राज्य-प्राप्ति विषयक निमित्त ज्ञान का स्मरण दिलाया। राजा ने कहा कि देवार्चन के अवसर पर आप पधारा करें। जिस घटना से कुपित होकर सूरिजी गए थे, उसके संबंध में उन्होंने क्या कहा और राजा ने उस विषय में क्या किया, यह वृत्तांत नहीं मिलता। संभव है, इस अवसर पर वे अपराधियों को अपने इच्छानुसार दंड दिलाने में असमर्थ रहे हों। पर जब राज्य में उनका प्रभाव बढ़ा, तब उन्होंने अपनी अप्रसन्नता के भाजन पुरुषों को दंड भी दिलवाए। ऐसे उदाहरण अन्यत्र मिलेंगे। एक यहाँ पर भी दिया जाता है।

सिद्धराज के समय में वामराशि नामक एक ब्राह्मण पंडित था। वह विद्या में इनका प्रतिस्पर्धी था। उसने इनकी ख्याति की वृद्धि से अप्रसन्न होकर एक बार निम्नलिखित श्लोक बनाया था—

यूकालक्षशतावलीवलवलल्लोलोल्लसत्कम्बलो ।

दन्तानां मलमण्डलीपरिचयाद्दुर्गन्धरुद्धाननः ॥

नासावंशनिरोधनाद् गिणिगिणित्पादप्रतिष्ठास्थितिः ।

सोऽयं हेमडसेवडः पिलपिलत्खल्लिः समागच्छति ॥

आशय—लाखों जूएँ जिसके कम्बल में बलबला रही हैं, दाँतों में सदैव मैल के जमा रहने से मुख दुर्गन्ध से भरा है, नाक के रुकने से जो गिण गिण करता जाता है, साफ साफ बोल भी नहीं सकता, ऐसा पिलपिले सिर का गंजा हेमड़ सेवड़ चला आ रहा है।

इस घोर निन्दास्पद वचन को सुनकर हेमचन्द्र मन में बहुत अप्रसन्न हुए। परंतु प्रथम बाहर इतना ही कहा—"पंडित ! विशेषणं पूर्वमिति भवता किंनाधीतमतोऽनः परं सेवड हेमड इत्यभिधेयम्"। अर्थात्—पंडितजी! विशेषण पहले आता है, क्या यह बात आपको विदित नहीं ? भविष्य में सेवड़ (सन्यासी) हेमड़ कहा कीजिए, और फिर अपने सेवकों से उसे पिटवाया और उसको राज-सेवा से दूर करा दिया;

ओर कहा कि कुमारपाल के राज्य में अशास्त्र वध है; अतः इतना ही दंड दिया गया है। वह बेचारा कणभिक्षा से प्राणपोषण करता हुआ हेमचन्द्र की पौषधशाला के सामने पड़ा रहता था। कालांतर में उसने एक बार हेमचन्द्र की प्रशंसा में एक श्लोक कहा, जिससे प्रमुदित हो उन्होंने उसे अधिक वृत्ति पर फिर नौकर करा दिया।

जब हेमचन्द्र का राजा के यहाँ आना जाना अधिक हो गया, यहाँ तक कि वे रणवास में भी उपदेश देने पहुँचने लगे, तब एक बार आभिग पुरोहित ने कहा कि संन्यासियों का इस प्रकार का जीवन अच्छा नहीं; क्योंकि प्राचीन काल में कई अम्बुपत्राशी सूरि भी सुललित स्त्री-मुख पंकज देख मोह को प्राप्त हो गए थे। फिर जो चटपटे पदार्थ खाते हैं, उनमें विकार आ जाना क्या आश्चर्य की बात है! हेमचन्द्र समझ गए कि ये वचन मुझको ही निगाह में रखकर कहे गए हैं। उन्होंने कहा कि सूरि तो चटपटे भोजन नहीं करते; साथ ही प्रकृति भी अलग अलग हुआ करती है। देखो—

सिंहो बली द्विरदशूकर मांसभोजी
संवत्सरेण रतिमेति किलैकवारम्।
पारावतः खरशिलाकणभोजनोऽपि
कामी भवत्यनुदिनं वदकोऽत्र हेतुः॥

आशय—यद्यपि बलवान् सिंह हाथी और शूकर का मांस खाया करता है, तो भी वर्ष भर में केवल एक बार सिंहनी से संभोग करता है। परन्तु कबूतर, जो कड़े पत्थर के टुकड़े खाता है, प्रति दिन विषय भोग करता रहता है। कहिए, इसमें क्या हेतु है?

(असमाप्त)

(२४) समालोचना

प्राकृत व्याकरण—लेखक श्रीयुक्त बेचरदास जीवदास दो॰ गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर ग्रन्थावली, ग्रन्थाङ्क १५; भाषा गुजरा॰ लिपि नागरी; पृष्ठ संख्या १००+३५३; कागज तथा छपाई उत्त॰ सम्वत् १९८१; प्रकाशक गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर, अहमदाबाद; मूल्य

शायद इस प्रान्त के अनेक लोगों को अभी तक यह बात मालूम होगी कि अहमदाबाद का गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर प्राचीन शोध के क॰ में कितना अग्रसर हो रहा है। यह कहना कदाचित् अत्युक्ति न हो कि जैसा प्रशंसनीय कार्य हिन्दी के शोध तथा प्रचार के लिये इ॰ काशी नागरी-प्रचारिणी सभा कर रही है, बहुत से अंशों में वैसा श्लाघनीय प्रयत्न—विशेष कर पाली, प्राकृत तथा गुजराती भाषा॰ के विषय में—यह गुजरात पुरातत्त्व मन्दिर कर रहा है। अभी त॰ यह बड़े महत्त्व की पन्द्रह पुस्तकें निकाल चुका है। इसी की ग्रन्थाव॰ में मुनि जिनविजयजी ने अभिधानप्पदीपिका तथा कोसम्बी महाश॰ ने 'अभिधम्मत्थसंगहो' प्रकाशित कर पाली-रसिकों का बड़ा उपकार किया है। इतना ही नहीं, 'आर्य-विद्या व्याख्यानमाला' नाम॰ पुस्तक निकालकर भारतीय विद्या की भी बहुत कुछ वृद्धि॰ है। इस पुस्तक में प्राचीन भारतीय भाषाओं के पारस्परिक सम्ब॰ का विवेचन बड़े ही मार्मिक ढंग से देशी भाषा (गुजराती) में कि॰ गया है, जिससे वह अतीव हृदयग्राही है। इतना ही कहना ब॰ है कि इस ग्रन्थमाला की हर एक पुस्तक अपने ढंग की निराली औ॰ विशेष महत्व की है।

है, तब उनको जो आनन्द होता है, वह अनिर्वचनीय ही है। किन्तु ऐसा आनन्द शायद वर्षों में एक ही दो बार होने पाता है। आज ऐसा ही आनन्द पं० बेचरदास जी के प्राकृत व्याकरण को देखकर हुआ है।

प्राकृत भाषाओं की उपयोगिता हम लोगों के लिये केवल प्राचीन शिलालेखों को पढ़ने या भारतीय भाषा विज्ञान के तत्त्वों को समझने के लिये ही नहीं है। संस्कृत के नाटकों में प्राकृतों को कैसा स्थान मिला है, यह संस्कृतज्ञों को बतलाने की आवश्यकता नहीं। उनके वास्तविक रसास्वादन के लिये प्राकृत-ज्ञान आवश्यक ही है। इसके साथ ही यह भी ध्यान रखने की बात है कि जैनों के अधिकांश धर्म-ग्रन्थ प्राकृतों में ही लिखे हुए हैं। इतना ही नहीं, प्राकृत भाषाओं में लिखा हुआ साहित्य इतना सरस और ललित है कि उसकी उपेक्षा करना अपने आप को काव्य के परमानन्द से वंचित रखना है। हाल की गाथा सप्तशती को कौन भूल सकता है? कथा की तो बात ही क्या है! कथा लिखना जैनों ही ने जाना।

प्राकृतों की इतनी उपयोगिता होने पर भी उनको अच्छी तरह सीखने का सौकर्य–विशेष करके आजकल के लोगों के लिये–उतना अच्छा नहीं था। यद्यपि बड़े बड़े विद्वानों के लिखे हुए प्राचीन प्राकृत व्याकरण एक दो नहीं बल्कि अनेक हैं, किन्तु वे सब उसी पुरानी सूत्र वृत्ति के ढंग से लिखे हुए हैं। पाश्चात्य पण्डितों ने इस संबंध में जो कार्य किया है, वह निःसन्देह स्तुत्य है। डाक्टर पिशेल (Pischel) ने प्राकृत भाषाओं का अनुशीलन कितने काल में और कितने परिश्रम से किया था, यह उनकी पुस्तक Grammatik der Prakrit Sprachen) से अच्छी तरह मालूम हो सकता है। किन्तु यह कहना ही पड़ेगा कि यह पुस्तक विशेषज्ञों ही के लिये लिखी गई थी। साहित्य रसास्वादन के लिये प्राकृत सीखनेवालों को इतने बड़े कान्तार में घुसने की

आवश्यकता नहीं। हाँ, यदि ऐसे लोगों के लिये काम की कोई पुस्तक है, तो वह उल्नर (Woolner) साहब की Introduction to Prakrit है। किन्तु उसके अंग्रेज़ी भाषा में होने के कारण अधिक लोग लाभ नहीं उठा सकते। इसलिये जहाँ तक मुझे मालूम है, पं० बेचरदासजी का यह 'प्राकृत व्याकरण' अपने ढंग का पहला ग्रन्थ है। इस पुस्तक के महत्त्व का केवल इतना ही कारण नहीं है। यह लिखी भी बड़े अच्छे ढंग से गई है। पं० बेचरदासजी प्राकृत भाषाओं के बड़े ही अच्छे जानकार मालूम होते हैं। आपका प्राकृतों का अनुशीलन एक दो वर्ष का नहीं, बल्कि बीसों वर्ष का है। कोई पन्द्रह सोलह वर्ष हुए, आपने 'प्राकृत मार्गोपदेशिका' नाम की एक पुस्तक प्रकाशित की थी। जान पड़ता है कि आपने उसी समय प्राकृत का एक अच्छा व्याकरण लिखने का संकल्प कर लिया था; और इतने साल उसकी तैयारी करने और सब साधन एकत्र करने में बिताए थे। हम लोगों के लिये यह बड़े ही सौभाग्य की, बल्कि अभिमान की बात है कि पूर्वोक्त पण्डितजी ने काशी ही में अनेक वर्ष रहकर विद्या प्राप्त की है।

प्रस्तुत ग्रन्थ का प्रारम्भ ४९ पृष्ठों के प्रवेश से होता है। इस प्रवेश के तीन विभाग किए जा सकते हैं। पहला विभाग वह है, जिसमें ग्रन्थकार ने अपनी रचना-शैली का परिचय देते हुए उसकी विशेषताएँ दिखलाई हैं। दूसरा विभाग वह है, जिसमें प्राकृत भाषा पर साधारण रूप से विचार किया है। यह विभाग लगभग एक या डेढ़ पेज में समाप्त हुआ है; इसलिये कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें प्राकृत सम्बन्धी महत्त्व की कोई समस्या उठाने या हल करने का प्रयत्न नहीं किया गया है। तीसरे विभाग में अर्धमागधी भाषा पर विचार किया गया है। 'प्रवेश'-भर में यही विभाग विशेष महत्त्व का है। इसमें कई बातें निःसन्देह ऐसी हैं, जिनसे कुछ लोग सहमत न होंगे। तथापि अर्धमागधी भाषा क्या है, उसका

कौन स्थान है, जैनों ने उसका किस तरह उल्लेख किया है, पीछे के प्राकृत साहित्य की भाषाओं पर उसका क्या असर पड़ा है, तथा उसके व्याकरण से और किन प्राकृतों का घनिष्ठ सम्बन्ध मालूम होता है, आदि बातों का बहुत ही अच्छे ढग से, बहुत से प्राचीन तथा अर्वाचीन उदाहरण दिखलाते हुए, विवेचन किया गया है। इसमें कई बातें ऐसी हैं, जो श्रीयुक्त बनारसीदासजी जैन एम० ए० की लिखी 'अर्धमागधी रीडर' में भी नहीं हैं। प्रवेश के अन्त में प्राकृत के प्राचीन व्याकरणों तथा उनकी वृत्तियों का भी नाम दिया गया है।

प्रवेश के अनन्तर विषयानुक्रम है, जो ४६ पृष्ठों में समाप्त हुआ है। यह केवल व्याकरण में आए हुए विषयों की सूची ही नहीं है, बल्कि इसको एक प्रकार से सम्पूर्ण व्याकरण का, विशेष कर अगले भाग में, साराश समझना चाहिए। इस प्रकार इस पुस्तक के सौ पृष्ठ समाप्त होते हैं, और तब व्याकरण का आरम्भ होता है।

प्राचीन प्राकृत व्याकरणों का ढग है कि पहले सूत्र दिया जाता है, तदनन्तर वृत्ति रहती है, और तब क्रम से एक एक भाषा का विचार किया जाता है। सब से अधिक अश प्राकृत अर्थात् महाराष्ट्री के विवेचन का होता है। बाकी के अश में महाराष्ट्री से अन्य भाषाओं का सक्षेप में भेद दिखाते हुए वर्णन किया जाता है। यद्यपि इन सब व्याकरणों में वररुचि का 'प्राकृत-प्रकाश' बहुत ही प्राचीन है, तथापि हेमचन्द्राचार्य का व्याकरण भी बहुत प्रसिद्ध है। यह प्रस्तुत ग्रन्थ भी उसी के आधार पर लिखा गया है, परन्तु ढग बिल्कुल ही बदला हुआ है। केवल यही नहीं कि व्याकरण के नियम और रूप नवीन प्रचलित ढग से दिए गए हों, बल्कि ये नियम रूप-तुलनात्मक रीति से लिखे गए हैं। उदाहरणार्थ एक नियम लीजिए। महाराष्ट्री में क, ग, च, ज, त, द, प, य, य और व का लोप हो जाता है। यह बात बतलाने के साथ ही साथ इस ग्रन्थ में यह भी बतला दिया गया है कि अन्य

प्राकृतों में ऐसे स्थल पर कैसा परिवर्तन होता है। शौरसेनी में 'त' का 'द' होता है; मागधी में 'ज' का 'य' होता है; पैशाची में 'द' का 'त' होता है; और अपभ्रंश में 'क' का 'ग' होता है; इत्यादि। इसी प्रकार व्याकरण के अन्य प्रकरणों में भी प्राकृतों का इसी तुलनात्मक ढंग से विवेचन किया गया है।

इस व्याकरण मे और भी एक दो विशेषताएँ हैं। प्राकृत के वैयाकरण लोग पाली का विचार बिलकुल ही छोड़ देते हैं; किन्तु पाली भी बड़े महत्त्व की भाषा है। बल्कि यों कहना चाहिए कि ज्ञात प्राकृतों में यह प्राचीनतम है। बड़े ही आनन्द की बात है कि इस व्याकरण में प्राकृत व्याकरण के साथ ही साथ तुलनात्मक शैली से पाली व्याकरण पर भी दृष्टि डाली गई है। पाली के अनेक अच्छे व्याकरण हैं। उनमें विधुशेखर शास्त्रीजी का बँगला में लिखा हुआ 'पाली-प्रकाश' विशेष उल्लेख के योग्य है। आलोच्य पुस्तक में इस 'पाली प्रकाश' से भी बहुत कुछ सहायता ली गई है। जहाँ तक मुझे मालूम है, उन व्याकरणों में भी ऐसे तुलनात्मक ढंग का आश्रय नहीं लिया गया है। इस ढंग से लिखे जाने से कई बातों का बड़ा लाभ हुआ है। बहुत से शब्दों का, जो मूल शब्द से विकृत होकर बने हैं, बहुत ही शीघ्र पता चल जाता है। जैन आगमों में बहुत से ऐसे शब्द हैं, जिनकी निरुक्ति दिखलाकर साधुत्व बतलाना बड़ा कठिन है; किन्तु हमारे ग्रन्थकार ने पाली को प्राकृतों के पास लाकर यह कठिनता भी बहुत से अंशों में दूर कर दी है। बहुत सम्भव है कि इनमें से कितनी निरुक्तियों से बहुत लोग सहमत न हों, तथापि यह ढंग बिल्कुल शास्त्र-संमत है। भाषा विज्ञान की दृष्टि से तो भाषाओं का प्रवाह अनुस्यूत ही चलता है। यही बात प्राकृत शब्दों का वैदिक शब्दों के साथ सम्बन्ध दिखलाने के विषय में कही जा सकती है।

यह तो हुआ इस व्याकरण का साधारण परिचय। अब यहाँ एक

दो ऐसी बातों का भी उल्लेख करना असंगत न होगा, जो इस ग्रन्थ में खटकती हुई मालूम होती हैं। सब से बड़ा अभाव जो इसमें मुझे मालूम पड़ता है, वह है एक विस्तृत भूमिका का। प्राकृतों के सम्बन्ध में बहुत सी ऐसी बातें हैं, जिन्हें साधारणतः लोग नहीं जानते, परन्तु जिनके जानने की बड़ी आवश्यकता रहती है। यद्यपि पिशेल का Introduction तथा वल्नर के ग्रन्थ के पहले तीन परिच्छेद और अन्त के दो परिच्छेद भी पर्याप्त नहीं कहे जा सकते, तथापि नितान्त अभाव से तो अच्छे हैं। प्रवेश में अर्धमागधी का सविस्तर विवेचन, बिना प्राकृत की सब समस्याएँ समझाए असम्बद्ध सा प्रतीत होता है। कदाचित् इसका कारण यह हो कि गुजरात पुरातत्त्व ग्रन्थावली में ही 'आर्यविद्या व्याख्यान माला' नाम की जो पुस्तक निकली है, उसमें यह विषय बहुत अंशों में आ चुका है। बहुत सम्भव है, ग्रंथकार ने इसी लिये उनको फिर से दोहराना उचित न समझा हो। शायद यही कारण यहाँ प्राकृत के नमूने न देने का भी हो; क्योंकि वे 'प्राकृत पाठावली' में आ ही चुके हैं। और यही बात शब्द-कोश न देने के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। सब कुछ होने पर भी यह कहना ही पड़ता है कि यहाँ भी उन बातों का उल्लेख करना, चाहे संक्षेप ही में हो, आवश्यक था। इसके अतिरिक्त व्याकरण में आए हुए शब्दों की सूची (Index) न देना भी बड़ी भारी कमी है। इसके न होने से अनुसन्धान कार्य में इससे अच्छी तरह और जल्दी सहायता लेना जरा कठिन होगा।

पर इन क्षुद्र त्रुटियों से ग्रंथ की उपादेयता किसी प्रकार कम नहीं होती; इसलिये हम ग्रंथकार महोदय का सादर अभिनन्दन करते हैं और ऐसा उत्तम ग्रंथ लिखने के लिये उन्हें हृदय से बधाई देते हैं।

बटुकनाथ शर्मा।
(एम॰ ए॰)

पंजाबी और हिन्दी का भाषा विज्ञान—लेखक लाला दुनीचन्दएम० ए०; कम्पाइलर, पंजाबी डिक्शनरी, पंजाब यूनिवर्सिटी, लाहौर; प्रथम संस्करण; सं० १९८२ वि०; पृष्ठ संख्या ३०३; मूल्य जिल्ददार पुस्तक का ३।)

यह बड़े ही सौभाग्य का विषय है कि अब विद्वानों का ध्यान हिन्दी में भाषा विज्ञान विषयक ग्रन्थ लिखने की ओर आकृष्ट हुआ है। वर्तमान हिन्दी के उदीयमान युग के प्रौढ़ लेखकों ने इस आवश्यक विषय की ओर अभी तक बड़ी ही उपेक्षा दिखलाई थी; परन्तु सौभाग्य से हवा का रुख बदलता हुआ नज़र आ रहा है। अब विद्वानों को इस कमी की पूर्ति के लिये अग्रसर होते देख प्रत्येक हिन्दी भाषा-भाषी के हृदय में भविष्य के लिये आशा का संचार होने लगा है। सब से पहले वर्तमान युग के प्रौढ़ तथा आदरणीय लेखक बाबू श्यामसुन्दरदास जी ने गत वर्ष 'भाषा विज्ञान' नामक सुन्दर ग्रन्थ की रचना कर भविष्य के लेखकों के लिये मार्ग दिखलाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया था। इस अनुपम ग्रन्थ की रचना कर बाबू साहब ने वास्तव में हिन्दी-संसार का सच्चा हित साधन किया; और प्रत्येक हिन्दी जाननेवाला इसके लिये उनको धन्यवाद दिए बिना न रहेगा। बाबू साहब का प्रयत्न सफल होता हुआ प्रतीत होता है; क्योंकि उनके ग्रन्थ से उत्साहित होकर इस आलोच्य ग्रन्थ के लेखक ने भी उसी विषय पर अपनी लेखनी उठाई है। जहाँ तक मुझे ज्ञात है, यह हिन्दी में भाषा विज्ञान की दूसरी पुस्तक है। सुना है कि डाक्टर मंगलदेव शास्त्री ने भी हिंदी में भाषा-विज्ञान नामक एक ग्रंथ का निर्माण किया है। श्रीमंगलदेवजी को आक्सफोर्ड विश्वविद्यालय ने उनकी योग्यता से प्रसन्न होकर डाक्टर की पदवी प्रदान की है; अतः हिंदी संसार को पूरी आशा है कि उनके ग्रंथ में भाषा विज्ञान की जटिल समस्याएँ सुचारु रूप से

सुलझाई गई होंगी। देखना है कि इस आशा की पूर्ति कितने अंशों में होती है।

वर्तमान आलोच्य पुस्तक चार भागों में विभक्त है। पहले भाग में पंजाबी तथा हिंदी का भाषा विज्ञान उचित रीति से समझने के लिये ऐतिहासिक उपक्रम उपस्थित किया गया है। लेखक ने भाषा के लक्षणों, उसकी विभिन्न अवस्थाओं तथा उसकी जातियों का बहुत ही संक्षेप में वर्णन किया है। अनन्तर वैदिक भाषा से पंजाबी तथा हिंदी का क्रमशः किस प्रकार विकास हुआ, इस विषय की थोड़ी सी आलोचना उपस्थित की गई है। दूसरे भाग में ध्वनियों तथा उनके परिवर्तनों का विशद तथा विस्तृत वर्णन है। इस भाग के लगभग १५० पृष्ठों में लेखक ने यह दिखलाने का श्लाघनीय प्रयत्न किया है कि पंजाबी तथा हिंदी के स्वरों और व्यंजनों की उत्पत्ति तथा विकास संस्कृत के किन किन वर्गों से हुआ है, इन दोनों भाषाओं का कोई वर्ण या ध्वनि किस प्रकार विकसित होते हुए वर्तमान अवस्था में आ पहुँची है, इसके विवेचन में ही यह विस्तृत प्रकरण समाप्त हुआ है। यदि सच पूछा जाय तो यही प्रकरण इस ग्रन्थ का सर्वस्व है। यह विस्तृत और साथ ही सब भागों से अधिक मूल्यवान् है। तीसरे भाग में लेखक ने शब्द-रूप तथा धातुरूप की विशेषताएँ दिखलाई हैं। इन २२ पृष्ठों में कारक, सर्वनाम, क्रिया तथा प्रत्यय का वर्णन बहुत ही सरसरी तौर पर किया गया है। चौथे भाग का विषय अर्थ-परिवर्तन है। हिन्दी के, और अधिकतर पंजाबी के शब्दों के अर्थों में कालान्तर में किस तरह संस्कृत से विभिन्नता तथा विशिष्टता उत्पन्न हो गई है, भाषा विज्ञान के इस अत्यन्त महत्वपूर्ण विषय का भी वर्णन लगभग बारह पृष्ठों में अत्यन्त संक्षेप में करके ग्रंथ समाप्त किया गया है। अन्त में मूल पुस्तक में आए हुए पंजाबी, हिन्दी, अपभ्रंश, प्राकृत तथा संस्कृत शब्दों की एक लम्बी सूची देकर लेखक ने ग्रंथ की अनुक्रमणिका समाप्त की है।

ग्रंथ का यह संक्षिप्त वर्णन पढ़कर पाठक समझ सकते हैं कि ग्रंथकार ने पुस्तक लिखने में बहुत परिश्रम किया है। अन्य विद्वानों की खोजों का उपयोग करते हुए, लेखक ने अपनी भी अनेक मौलिक गवेषणाओं को इसमें सम्मिलित किया है। सब से बड़ी खटकनेवाली बात यह है कि ध्वनि-परिवर्तन के ही विषय को आवश्यकता से अधिक महत्व दिया गया है। पंजाबी तथा हिन्दी के कारकों का विकास किस प्रकार हुआ, इस अत्यन्त विवादास्पद अतएव आलोच्य विषय की उपेक्षा सचमुच खटकती है। अच्छा होता, यदि इस ग्रंथ में हिन्दी तथा पंजाबी के विभिन्न सम्बन्ध तथा अधिकरण कारकों के चिह्नों के ऐतिहासिक विकास का वर्णन विशद रूप से पाठकों के सामने उपस्थित किया जाता! क्रिया के रूपों के विकास को भी सुचारु रूप से समझाने की बड़ी आवश्यकता थी; परन्तु इन महत्वपूर्ण विषयों को इतने सरसरी तौर से लिखना ग्रंथ की महत्ता को कई अंशों में न्यून करना है। ध्वनि-परिवर्तनवाले प्रकरण में भी पंजाबी की अपेक्षा हिन्दी भाषा के शब्द बहुत ही कम दिए गए हैं। अनेक स्थलों में हिन्दी शब्द बिलकुल अशुद्ध हैं, या वर्तमान खड़ी बोली से सम्बन्ध न रखकर उसकी छोटी छोटी प्रान्तिक बोलियों से सम्बन्ध रखते हैं। लेखक ने वर्ण-परिवर्तन के नियमों को सुचारु रूप से समझाने तथा विश्लेषण करने में बहुत कम प्रयत्न किया है; और अन्दाज पर ही अनेक वर्णों में परिवर्तन होने की कल्पना की है परंतु जिन उदाहरणों से किसी नियम के समझाने का प्रयास किया गया है, वे उदाहरण उन नियमों को बतलाना तो दूर रहा, प्रत्युत् उनके विपरीत नियमों को सिद्ध करने में उद्यत देख पड़ते हैं। यदि पहले प्रामाणिक पुस्तकों के आधार पर वर्णपरिवर्तन के नियम साफ शब्दों में लिखे जाते और अनन्तर उपयुक्त उदाहरणों के द्वारा वे हृदयङ्गम करा दिए जाते तो बहुत अच्छा होता। यह कमी समग्र प्रकरण में परिलक्षित होती है। पहला

परिच्छेद उपक्रम का है। वह इतने सुचारु रूप से होना चाहिए था कि वैदिक भाषा से पंजाबी तथा हिन्दी भाषा के क्रमशः परिवर्तन तथा विकास का ज्ञान सहज में ही हो जाता। परन्तु वह बहुत ही संक्षिप्त है। उदाहरणार्थ लेखक ने पंजाबी पर पैशाची भाषा का प्रभाव पड़ना, डाक्टर ग्रियर्सन के मतानुरूप स्वीकार किया है; परंतु इस प्रभाव के स्वरूप का, जहाँ तक जान पड़ता है, उदाहरणों के द्वारा स्पष्ट करने की आवश्यकता नहीं समझी है। इन सब बातों के अतिरिक्त इस ग्रंथ की भाषा स्थान स्थान पर बड़ी विचित्र है। वाक्य-संघटना भी बड़े ही कौतुकपूर्ण ढंग से की गई है। सम्भवतः लेखक के पंजाबी होने के कारण ही भाषा सम्बंधी ये अशुद्धियाँ घुस पड़ी हैं, जो सर्वथा क्षन्तव्य हैं और ग्रंथ के महत्त्व को किसी प्रकार न्यून नहीं करतीं।

जो हो, हम ग्रंथकार का इस विभाग में सादर अभिनन्दन करते हैं। उन्होंने वास्तव में कठिन परिश्रम कर यह अमूल्य ग्रन्थ हिन्दी के लाभ के लिये लिखा है; और मेरी विनीत सम्मति में उनको उचित सफलता भी प्राप्त हुई है। हिन्दी जाननेवाले इस ग्रन्थ की सहायता से हिन्दी शब्दों के विकास तथा परिवर्तनों के विषय में अनेक रहस्यपूर्ण बातें जान सकते हैं तथा पंजाबी का भी थोड़ा बहुत ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। अन्त की विस्तृत अनुक्रमणिका ने तो ग्रन्थ का मूल्य बहुत ही बढ़ा दिया है। परंतु पूर्वोक्त असम्बद्धताओं तथा अशुद्धियों का उल्लेख इसी लिये किया गया है कि दूसरे संस्करण में वे हटा दी जायँ, जिससे ग्रंथ की महत्ता और भी बढ़ जाय। लेखक महाशय को चाहिए कि वर्ण-परिवर्तन आदि के नियमों के लिये अनुपम जर्मन ग्रंथों से भी सहायता लेकर उन्हें ठीक ढंग से समझाने का प्रयत्न करें। यदि डाक्टर ब्रुगमान (K. Brugmann) के बड़े ग्रंथ से सहायता लेना कष्ट-साध्य हो, तो उनके छोटे ग्रंथ (Kurze Vergleichende Grammatik der Indo Germanischen Sprachen) से भी अमूल्य सहा-

यता ली जा सकती है; क्योंकि यह ग्रंथ भाषा सम्बन्धी समस्त तत्त्वों का अनुपम भाण्डागार है—संक्षेप में ही सब सिद्धान्तों का खजाना है। अन्य जर्मन ग्रंथों से भी यथावकाश सहायता लेना उचित होगा। आशा है कि लेखक महोदय इस विषय का पूरी तौर से अध्ययन कर समय समय पर उसके परिपक्व फलों को हिन्दी संसार के सामने रखते रहेंगे। मुझे पूरा भरोसा है कि हिन्दी के अन्य गण्य मान्य विद्वान् भी इसी प्रकार हिन्दी तथा उसकी विस्तृत प्रान्तिक बोलियों के विषय में यथेष्ट अनुसन्धान कर हिन्दी भाषा के भाण्डार की पूर्ति करेंगे।

बलदेव उपाध्याय।
(एम० ए०)

सभा-विज्ञान और वक्तृता—लेखक पं० देवकीनंदन शर्म्मा एम० ए०, प्रोफेसर एन० आर० ई० सी० कालेज, खुर्जा; प्रकाशक आनंद प्रकाशनालय, खुर्जा; पृष्ठ संख्या प्रायः पौने दो सौ; मूल्य १॥)

हिंदी में आजकल नए नए विषयों की और अच्छी अच्छी पुस्तकें निकल रही हैं; और वे अच्छे अच्छे लोगों के हाथ से निकल रही हैं; यह परम संतोष की बात है। यह पुस्तक भी इसी प्रकार की पुस्तकों में से एक है। सारे देश में अनेक प्रकार की सभाएँ और संस्थाएँ आदि दिन पर दिन बढ़ती जा रही हैं; और उनके अधिवेशनों आदि में वक्तृताओं की भी वैसी ही वृद्धि हो रही है। ये नए ढंग की सभाएँ और संस्थाएँ पाश्चात्य देशों की सभाओं और संस्थाओं के अनुकरण पर होती हैं; और सार्वजनिक क्षेत्र में नए नए कार्य करनेवाले प्रायः उनके नियमों आदि से अनभिज्ञ रहते हैं। ऐसे अवसर पर पं० देवकी-नंदन जी ने यह पुस्तक लिखकर एक बड़ी आवश्यकता की पूर्त्ति की है। पुस्तक दो खंडों में विभक्त है। पहले खंड में सभापति, मंत्री और सभासद आदि के अधिकार और कार्य्य बतलाए गए हैं; प्रस्तावों,

सभाओं, वाद-विवाद और मत संग्रह आदि के नियम बतलाए गए हैं और यह बतलाया गया है कि उपसमितियों तथा विशेष समितियों आदि की योजना किस प्रकार होनी चाहिए, उनके अधिकार और कार्य्य क्या हैं, आदि आदि। विषयों को स्पष्ट करने के लिये इसमें स्थान स्थान पर पार्लियामेंट, कांग्रेस, कान्फ्रेन्सों, कौन्सिलों और म्यूनिसिपल बोर्डों आदि की घटनाएँ भी उदाहरण रूप में दी गई हैं। दूसरा खंड वक्तृता से संबंध रखता है, जिसमें यह बतलाया गया है कि वक्तृता का महत्व और उपयोग क्या है, वक्ताओं को बोलने के समय अपने शरीर तथा मन पर किस प्रकार और कितना अधिकार रखना चाहिए और वक्तृता देने से पहले किस प्रकार उसके लिये तैयार होना चाहिए। तात्पर्य यह कि सार्वजनिक संस्थाओं के कार्य्य-संचालन से संबंध रखनेवाली सभी मुख्य मुख्य बातों का अच्छा विवेचन किया गया है। सार्वजनिक सभाओं का कार्य्य करनेवालों के लिये यह पुस्तक बहुत उपयोगी है; और साहित्य के एक अंग की इससे अच्छी पूर्ति हुई है, जिसके कारण हम इसके लेखक महाशय का अभिनंदन करते हैं। यद्यपि हिन्दी में अब तक श्रीयुत राधामोहन गोकुल जी, बा० हरिहरनाथ बी० ए० आदि सज्जनों की लिखी हुई दो तीन पुस्तकें इस विषय की निकल चुकी हैं, पर यह पुस्तक कई बातों में उन सबसे बढ़कर हैं। इसमें भाषा संबंधी कुछ त्रुटियाँ और दोष अवश्य हैं; परन्तु कदाचित् लेखक का यह प्रथम प्रयास है; अतः वे त्रुटियाँ और दोष क्षम्य हो सकते हैं। "एकत्रित", "नैयमिक", "संगठित", "आचार-भंजन", "शोकोत्सव" आदि और इसी प्रकार के कुछ दूसरे प्रयोग बहुत खटकते हैं। हम चाहते हैं कि अगले संस्करण में इस पुस्तक की भाषा भी वैसी ही सुन्दर हो जाय, जैसा इसका विषय-प्रतिपादन है।